

ओ३म्

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

(प्रथम-तृतीयाध्यात्मक प्रथम भाग)

लेखक -

पदवाक्यप्रमाणज्ञ स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु

प्रकाशक -

रामलाल कपूर ट्रस्ट

सोनीपत (हरियाणा)

रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला संख्या- ३२

ओ३म्

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

[प्रथम-तृतीयाध्यात्मक प्रथम भाग]

(प्रथम भाग)

लेखक-

पदवाक्यप्रमाणज्ञ श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु

प्रकाशक-

रामलाल कपूर ट्रस्ट

ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क

जि० सोनीपत- १३१००१

(हरियाणा)

ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

प्रकाशक-

रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क
जि० सोनीपत- १३१००१
(हरियाणा)

अष्टम वार- १००० प्रति
आषाढ, सं० २०६०,
जुलाई, सन् २००३
मूल्यम् - १४०.००

मुद्रक-

राधा प्रेस
गांधी नगर, दिल्ली

॥ ओ३म् कृत ॥ स्मर ॥

भूमिका

प्रथमावृत्ति का प्रारम्भ

प्रथमावृत्ति पढ़ाने का वास्तविक प्रारम्भ गण्डासिंह वाला (अमृतसर) में सन् १९२२ ई० में हुआ। जो १९२५ तक वहाँ रहा, उसके पश्चात् १९२८ तक काशी में, पीछे १९३१ तक अमृतसर (रामभवन) में, तत्पश्चात् काशी में १९३२ से ३६ तक रहा। १९३६ से १९४७ तक रावी तट लाहौर और १९५० से १९६४ तक (मोतीझील) काशी में चलता रहा और चल रहा है। हम अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही सदा से प्रथमावृत्ति पढ़ाते रहे। सन् १९५३ में पाणिनि महाविद्यालय में संस्कृत पठन-पाठन की श्रेणियाँ चलती रहीं। उसके पश्चात् अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करने वाले विद्यार्थी भी पढ़ते रहे, उधर पाणिनि महाविद्यालय में बिना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराये श्रेणियाँ चल रहीं थीं। वे जब ३५-४० दिन में सरलतम विधि के पाठ समाप्त कर लेते थे तो उन्हें अष्टाध्यायी के मुख्य-मुख्य प्रकरण पढ़ाये जाते थे और साथ में उनको मार्ग दिखा दिया जाता था कि वह अन्य प्रकरणों को भी यत्न से समझ सकेंगे। जब सरलतम विधि के ये ३५-४० पाठ पढ़ कर समाप्त करने वालों की संख्या अधिक हुई तब प्रकरणों को सरल ढंग से पढ़ाने के विचार से सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर सरल ढंग से लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ और मन में लिखने का पुनः नये सिरे से संस्कार जागृत हुआ। पठनार्थी बहुत संख्या में लिखते थे कि सरलतम विधि से आगे का पाठ्यक्रम भी लिख दें, ऐसी प्रेरणा बराबर हो रही थी। मेरे मन में यही उठता था कि सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर सरलतम ढंग से लिखा जाये तो ये आवश्यकताय स्वयं पूरी हो जाती है, और उधर जब सोचता था कि यह काम (अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति का काम) पूरा कैसे होगा तो मन निराश हो जाता था। अवकाश न होने से और निरन्तर कार्य भार के अधिक बढ़ते रहने से अवसर ही न मिल पाता था, यदि कोई प्रथमावृत्ति सम्पूर्ण लिख देता तो मेरा मन शान्त हो जाता और मेरे में प्रबल भावना न उठती। वर्षों से अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये हुएों को पढ़ाते समय कापियों पर लिखा कर पढ़ाते थे बड़ी कठिनता सामने आती थी यह

सब विचार मस्तिष्क में घूम ही रहे थे कि सरलतम विधि वालों की आगे की समस्या का प्रबल विचार भी सामने आने लगा तब प्रथमावृत्ति का लिखना अनिवार्य है यह मन में बैठ गया ॥

इस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्रों का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति अर्थ-उदाहरण आदि जानने की आवश्यकता अधिक से अधिक पढ़ने लगी, तब यह प्रश्न सामने आया कि प्रथमावृत्ति की रचना अनिवार्य है। काशिका से पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-उदाहरणों की सिद्धि विदित होती नहीं थी, अर्थ भी सरल ढंग से समझने में कठिनाई थी पढ़ाने वाले भी ढंग से पढ़ाने वालों के सुहृद् बन कर, ज्ञान न होने से तथा विधि का पता न होने से ठीक से समझा नहीं पाते थे। हमारे यहां तो सब समझ लेते थे और समझा लेते थे, पर हम कितनों को सम्हाल सकते थे, सबका काम कैसे चले यह समस्या बराबर खड़ी थी पढ़ने वाले श्रद्धालुओं की मांग पूरी कैसे हो ? पढ़ाने वाले श्रद्धा रखते हुये भी अजब ढंग से पढ़ाते थे, यह सब देखकर बड़ा दुःख होता था। पढ़ने वाला निराश हो जाता था। हमारे यहां जो भी कुछ दिन ठहर जाता था, वह तो इस कठिनाई से पार हो जाता था, कितने विद्यार्थियों को भला हम सहारा देते। पाणिनि विद्यालय की श्रेणियां चलती रहती थीं पर समस्या का ठीक हल नहीं बन पाता था ॥

वास्तव में तो सन् २५ के पश्चात् ही प्रथमावृत्ति लिखी जानी चाहिये थी, लिखी भी जा सकती थी, पर पठनार्थियों की कठिनाइयों का ठीक-ठीक अनुभव गत १०-१२ वर्षों में हुआ। स्वयं स्वाध्याय (Self Study) से पढ़ने वालों को अष्टाध्यायी से संस्कृत व्याकरण का व्यावहारिक (अनिवार्य) ज्ञान कैसे हो, इसका १०-१२ वर्ष तक ऐसे व्यक्तियों को पढ़ाते-पढ़ाते खूब अनुभव किया। अब तो ऐसा लगता है कि यद्यपि उस समय (२५-३० वर्ष पहले) शक्ति तो बहुत थी, पर अनुभव जो मिला वह अपूर्व है, इसको देख के तो यही कहना पड़ रहा है कि इस में भी प्रभु का ही हाथ था जो उस समय स्वयं लिखना आरम्भ न किया और न ही अपने योग्य शिष्यों द्वारा लिखवाना आरम्भ किया उनकी भी इच्छा लिखने की न हुई !!! यह सब इस समय रहस्यमय ही प्रतीत हो रहा है। अब मेरा विचार बदल गया है प्रभु को यह काम मेरे द्वारा ही कराना था इसी से किसी अति प्रिय शिष्य की भी इच्छा प्रथमावृत्ति लिखने में न लगी और अन्त में ३५-४० वर्ष पश्चात् मुझे ही इसके लिखने में लगना पड़ा यद्यपि मेरी शक्ति-अवकाश और सब शिथिल हो गये थे। मैंने सन् १९६० के अन्त में प्रथमावृत्ति लिखने का निश्चय किया मेरे द्वारा इसका प्रारूप निश्चय हुआ और लिखने का आरम्भ हुआ, मुझसे सारा ढंग समझ कर और आव-

शक्यता पढ़ने पर पूछ-पूछ कर लिखा जाता था मैं यथेष्ट समय नहीं दे पाता था, पर सहायक की श्रद्धाउत्साह एवं योग्यता से दिसम्बर सन् १९६३ तक सवा. ५ अध्याय तक प्रथमावृत्ति (रफ) लिखी गई। हर वर्ष साढ़े नौ ९॥ मास काम होता रहा, वर्ष में २॥ मास अवकाश रखा गया ॥

विशेष घटना

अन्त में १५ दिसम्बर सन् १९६३ को मैं जम्मू में था, जब कि एक विशेष घटना घटी, रात्रि को लगभग ११॥ बजे के पश्चात् हृदय पर विशेष कष्ट हुआ, (जो पहले कभी नहीं हुआ था) तो प्रभु की कृपा एवं वहां के सज्जनों की विशेष सेवा से यह सङ्कट टल गया, प्रातः यही निश्चय मन में किया कि प्रभु को तुमसे कुछ काम लेना इष्ट है, इसीलिये तुम बच गये हो। बस वहां से कुछ दिन अमृतसर चिकित्सा के पश्चात् काशी आने पर यही निश्चय किया कि 'प्रथमावृत्ति का काम पूरा किया जावे और इसे छापने का ढङ्ग बनाया जावे, बनाने से ही ढङ्ग बनेगा' नहीं तो इतना बड़ा काम कैसे पूरा होगा। तब स्वास्थ्य पूरा ठीक न होने पर भी लग गया, और कुछ मास में रफ को सुना गया, पढ़ा गया, संशोधन किया गया, एवं पुनः शुद्ध प्रेस कापी लिखवाई गई साथ-साथ में आगे का संशोधन भी चलता रहा, अन्त में अप्रैल ६४ के अन्त वा मई के प्रारम्भ में प्रेस का निश्चय हुआ। यहां हम प्रसङ्गतः यह बात और अधिक व्यक्त करते हैं कि प्रथमावृत्ति के बनाने एवं छापने की आवश्यकता का अनुभव तो हमें प्रारम्भ से ही बराबर रहा पर चाहते हुये भी यह काम पूरा न हो सका, और इसके बनाने की तीव्र भावना कैसे जागृत हुई यह लिख देना भी कदाचित् अनुचित न होगा, इसलिये इस विषय में कुछ और स्पष्ट रूप से लिखते हैं —

प्रथमावृत्ति की भावना अधिक तीव्र कैसे हुई

हम अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये छात्रों को पढाते थे तो उनको प्रारम्भ से ही सिद्धि पूरी पढाते थे, हमारी यही प्रक्रिया रही सिद्धि में आगे पीछे के जो सूत्र लगते थे उनका हमने यह क्रम रखा था कि आगे के लगने वाले सूत्रों को हम संक्षेप से अर्थ-उदाहरण बोल देते थे इतनी बात पर विशेष ध्यान देते थे कि उस आगे लगने वाले सूत्र ने हमारे प्रकृत (प्रारम्भ के) उदाहरण में क्या काम कर दिया। हम इतनी बात पर ही सन्तुष्ट हो जाते थे जब छात्र उलट कर बता दे, कि इस उदाहरण में इस सूत्र ने यह काम किया। आगे लगने वाले सूत्र का अर्थ छात्र सुन तो लेता था, पर हम उस पर यह भार नहीं डालते थे कि वह उस आगे लगने वाले सूत्र के सम्बन्ध में

बतावे, छात्र से पूछते भी नहीं थे, कि वह हमारे बताये उस सूत्र को हमें सुनावे । छात्र इतना तो कहता था कि उस सूत्र ने यह काम किया । अब जब १९५३ में प्रौढ श्रेणियों के पाठ चले तो हम पूर्ववत् आगे लगने वाले सूत्र का अर्थादि बोलते तो थे ही छात्र इसमें से जितना ग्रहण करना चाहे कर ले सब पर हम बल न देते थे, पर बुद्धिमान, तीव्र भावना वाले, संस्कृत में निष्ठावान् प्रौढ पठनार्थी जब आगे लगने वाले सूत्र को अधिक प्रौढता से समझने का यत्न करने लगे तो हम उन्हें अच्छी प्रकार बताकर सन्तुष्ट कर देते थे । किन्तु जब हमें यह ध्यान आया कि प्रौढ पठनार्थियों को जो आगे लगने वाले सूत्रों को भली प्रकार समझ एवं ग्रहण कर सकते हैं उन्हें तो आगे लगने वाले सूत्रों को भी समझा देना ठीक है हम उन्हें क्यों निराश करें, पर उन्हें अन्य अध्यापक कैसे बतायेगा तब मस्तिक में यह बात तीव्रता से बैठ गई कि अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति तैयार हो तो बुद्धिमान् पठनार्थी स्वयं ही विना किसी दूसरे की सहायता के आगे लगने वाले सूत्र को भी समझ लेगा । यह बात काशिका से हल नहीं हो सकती । इसके लिये आगे के सूत्रों की व्याख्या भी पदच्छेदादि ढंग से बनाया जाना आवश्यक है, तब प्रथमावृत्ति के छापने की भावना प्रबलता से उत्पन्न हुई । इसीलिये इस सारी प्रथमावृत्ति में प्रौढ पठनार्थियों की समस्या पदे-पदे हमारे सामने रही या हमें सामने रखनी पड़ी । कई बातें हमने इनको विचार में रखकर की हैं । साधारण संस्कृत के अध्यापक इस बात को समझ नहीं सकते ॥

वास्तविक व्याकरण प्रथमावृत्ति ही है ।

हम तो व्याकरण के तीन भाग करते हैं । प्रथम तृतीय भाग मूलाष्टाध्यायी कण्ठस्थ करना है । दूसरा तृतीय भाग प्रथमावृत्ति है, अर्थात् पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि । तृतीय, एक तिहाई भाग है, द्वितीयावृत्ति शंका समाधान-वार्तिक-कारिका-परिभाषा तथा महाभाष्य सम्पूर्ण । इसमें प्रथमावृत्ति ही मुख्य व्याकरण समझना चाहिये । प्रथमावृत्ति तक व्याकरण तो प्रत्येक भारत वासी को जानना चाहिये । तभी संस्कृत का वास्तविक प्रचार हो सकता है । प्रथमावृत्ति तक व्याकरण तो हाई स्कूलों में भी चल सकता है, चाहे वह लड़कों का हो या लड़कियों का । यह बात सुनी सुनाई नहीं कह रहे हैं अपितु स्वानुभूत कह रहे हैं, जब ऐसी स्थिति आवेगी और वह अवश्य आवेगी, जब भारत में यह समझा जायेगा कि जिसने संस्कृत नहीं पढ़ी, वह भारतीय ही नहीं है, तब लोग अनिवार्यता से संस्कृत पढ़ने लगेंगे । यह अवस्था अष्टाध्यायी पद्धति से ही हो सकती है । इसी परिणाम पर सब पहुँचेंगे ॥ अष्टाध्यायी पद्धति की विशेषता हम पृथक् दर्शाएँगे । जब भारत में यह नियम हो जायेगा कि सबको संस्कृत अनिवार्यतया पढ़नी ही होगी तब प्रश्न उठेगा

कि यह कैसे हो। हमारा अपने आचार्यों के लेख पर तथा अनुभव द्वारा यह मत है कि “कम से कम व्याकरण और व्यावहारिक वैद्यक प्रत्येक भारतीय पुरुष वा महिला को पढ़नी चाहिये। गणित का भी व्यावहारिक ज्ञान अवश्य रहना चाहिये”। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में पठन-पाठन विधि के अन्तर्गत लिखा है—“जैसे पुरुषों को व्याकरण धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण-धर्म-वैद्यक-गणित-शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये, क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, वर्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसे चाहिये करना-कराना, वैसे वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं, जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग आनन्दित रहें” — — — ॥

इसमें कम से कम व्याकरण तो सब को ही पढ़ना लिखा। वैसे तो अधिकार वेद तक का दिपा, पर कम से कम व्याकरण प्रत्येक (भारतीय वा व्यक्ति) को पढ़ना, अनिवार्य बताना तो ठीक ही है। जो इतना भी न पढ़ सके वह शूद्र सेवा कार्य किया करे। सारभूत बात यह निकली कि व्याकरण तो प्रत्येक को पढ़ना है। इसलिए हम कहते हैं कि व्याकरण प्रथमावृत्ति तो प्रत्येक स्त्री पुरुष को पढ़नी चाहिये। इतना मात्र पढ़ लेने से व्याकरण पढ़ना हो जाता है। विशेष के लिये चाहे कोई सारा जीवन लगा दे। प्रथमावृत्ति पढ़ लेने से व्याकरण का पर्याप्त बोध हो जाता है। जो अधिक चाहे वह द्वितीयावृत्ति वार्त्तिक परिभाषादि तथा महाभाष्य को पढ़ ले तो और अच्छा है। नहीं तो व्याकरण अध्ययन प्रथमावृत्ति तक है, यह हमारा कहना है ॥

यह बात विदित न रहने से लोगों ने व्याकरण सर्वथा छोड़ दिया, और काव्यादि पढ़कर ही विद्वान् समझे जाने लगे। व्याकरण (प्रथमावृत्ति) के बिना काव्यादि का भी यथावत् ज्ञान नहीं होता, इसीलिए अनेक साहित्याचार्य आदि व्याकरण की अपनी कमी समझकर इसको पूरा करते हैं जो अच्छी बात है। व्याकरण (प्रथमावृत्ति) का ज्ञान सब के लिए अनिवार्य है। यह बात कभी नहीं भूलना चाहिए। व्याकरण प्रथमावृत्ति ही है यह न भूलना चाहिये। यही हमारा कहना है। धातुशाठ-उणादि-गणपाठ आदि भी इसी में आ जाते हैं ॥

हमने देखा कि सरलतम विधि के ४० पाठ पढ़नेवालों ने हमसे बिना पूछे ही ४-५ मास में अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करके सुना दी। हम चकित रहे कि इतना कार्य उन्होंने कैसे किया। उसके पश्चात् उन्होंने प्रथमावृत्ति पढ़ ली। कहने का तात्पर्य यह

है कि अष्टाध्यायी की सरलतम पद्धति से समझकर पढ़ने वाले बिना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये पठनार्थी भी, स्वयं अन्तःप्रेरणा से अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करने लग जाते हैं। उसमें उनको आनन्द आने लगता है और पदे-पदे वे यह अनुभव करने लगते हैं कि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लेने से हम व्याकरण के अद्भुत विद्वान् बन सकते हैं। शंका समाधान की बातें समझने में भी उन की गति फिर उत्तम रीति से चल पड़ती है। इस प्रकार प्रथमावृत्ति का ज्ञान हो जाने पर पठनार्थी अपने आप को बहुत कुछ समर्थ समझने लग जाता है।

प्रथमावृत्ति में क्या है ?

पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-भाषार्थ ये हैं मुख्य विषय जो हमने लिखे हैं। इनके विषय में पाठकों को हम कुछ विस्तार से बताते हैं—

(१) पदच्छेद—सूत्र के पदों को पृथक् करके बताना।

(२) विभक्ति वचन—किस विभक्ति का कौन सा वचन है यह दर्शाना। किस शब्द के समान इसके रूप चलेंगे यह बताना।

(३) समास जो पद समस्त है, उसका विग्रह दिखाकर, अन्त में समास कौन सा है यह बताना। हमने यद्यपि स्पष्ट बता दिया है कि विग्रह दर्शाने में कहीं-कहीं कठिनाई होगी सो दस-पाँच सूत्रों से आगे वह कठिनाई नहीं रहेगी। हमारा विश्वास है कि सूत्रों का पदच्छेद और विभक्ति जान लेने पर विद्यार्थी को अर्थ का आभास होने लगता है ॥

(४) अनुवृत्ति—हमने सर्वत्र अनुवृत्ति दिखाने का विशेष यत्न किया है, यहां तक किया है कि प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२) जैसी दूर तक व्यापक अनुवृत्तियों को भी हमने प्रत्येक सूत्रों में दिखाया है। हमारा दृढ़ निश्चय है कि अनुवृत्ति दिखा देने से सूत्र का अर्थ ठीक-ठीक समझ में आ जाता है। इसमें कहीं-कहीं पाठकों को कठिनाई आवे तो पूर्वापर विचार करने से सब समझ में आ जाता है ॥ यद्यपि हम प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२) जैसे व्यापक अधिकारों को एक जगह आरम्भ में लिख कर आगे न भी लिखते तो भी काम चल जाता, पर साधारण बुद्धि वालों को ध्यान में रखकर हमने अनुवृत्ति सब सूत्रों में निबाही है। यह सोचकर कि कागज वाले कागज बनावेंगे, छापने वाले छापेंगे, पुस्तक का दाम कुछ अधिक भले ही हो जायेगा पर अनुवृत्ति स्पष्ट कर देने से परम लाभ होगा। शीशे के समान सब साफ विदित हो जायेगा। वृन्दावन वाली मूल अष्टाध्यायी से विषय पूरा स्पष्ट नहीं होता। हां ! ऐसा विचार है कि पूरी प्रथमावृत्ति छप जाने पर संशोधन करके नई पुस्तक अनुवृत्ति

की छापी जावे । प्रथमावृत्ति वाले को उसकी अलग आवश्यकता नहीं पड़ेगी यह विश्वास है ।

(५) अर्थ हमने अनुवृत्ति के आधार पर संस्कृत में लिखा है । भाषार्थ में भी [] बड़े कोष्टक में सूत्रों के सब पदों को दर्शा कर ही अर्थ किया है जिससे भाषार्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है । केवल अनुवृत्ति वाले पदों को कोष्ट में नहीं दिखाया है ।

(६) उदाहरण—संस्कृत में इसलिये दर्शाना पड़ा है कि हिन्दी न जानने वाले प्रान्तों में भी उदाहरण संस्कृत भाग में दर्शा कर ही पूरा होता है अहिन्दी प्रान्त वाले हिन्दी न भी देखें तो भी उन्हें बोध हो जायेगा ॥

उदाहरणों के अर्थ

इस प्रथमावृत्ति में हमने यथासम्भव सब उदाहरणों के अर्थ लिखने का साहस किया है । यदि हम संस्कृत के उदाहरणों के आगे उनके अर्थ भी हिन्दी में दिखा देते तो भी काम चल सकता था, दुबारा भाषार्थ में उदाहरण दिखाकर अर्थ न लिखना पड़ता, पर इसे ठीक न समझकर भाषार्थ में अर्थ दिखाने के लिये उदाहरण दुबारा दिखाना पड़ा है । प्रौढ़ विद्यार्थियों की सुगमता के लिये ही ऐसा करना पड़ा । जहाँ तक हमसे हो सका हमने अर्थ दिखाने का प्रयास किया है । आगे इस विषय में न्यूनाधिकता का अवकाश भी रखा है । भाषार्थ के अन्त में किसी आवश्यक विशेष बात की व्याख्या वा स्पष्टीकरण भी कर दिया है जो संस्कृत भाग में नहीं । वह भी इसी आशा पर किया है हिन्दी हमारी राजभाषा हो गई है, यह तो सबको जाननी ही होगी, जबकि रूस जैसे विदेशों में हिन्दी के ज्ञान के लिये प्रयास होने लगा है ॥

सिद्धि

उदाहरणों की सिद्धि हमने पृथक् दी है । इस विषय में अष्टाध्यायी पढ़नेवालों को सबसे अधिक कठिनाई सिद्धि की थी । यहीं पर पढ़ानेवाले हतोत्साह होकर बैठ जाते थे । कई न जाननेवालों ने अष्टाध्यायी कण्ठस्थ न कराकर अष्टाध्यायी के एक द्रुत पाठ का आविष्कार किया, वह सब अष्टाध्यायी न जाननेवालों की क्रीड़ा मात्र थी, और कुछ नहीं था, और कहीं-कहीं अष्टाध्यायी पढ़ाते थे तो उदाहरण भी (विना सिद्धि के) साथ पढ़ा देते थे । उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया, यह कुछ नहीं बताते थे । इस प्रकार अष्टाध्यायी की कई-कई आवृत्तियाँ घड़ी गईं । इन सब कारणों से अष्टाध्यायी के उदाहरणों की सिद्धियाँ छात्र नहीं कर पाते थे, क्योंकि

अध्यापक पढ़ा नहीं सकते थे। पढ़ानेवाले कौमुदी पढ़े होते थे, 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' जो वह कहते थे, अष्टाध्यायी वालों को झुक मारकर मानना पड़ता था। क्योंकि वे तो स्वयं सर्वथा अनभिज्ञ थे। पढ़ानेवाले या तो पौराणिक थे। वेतन के लिए कुछ उदात्ता दिखाकर भीतर से अष्टाध्यायी को फेल करनेवाले ही प्रायः थे। पढ़वानेवाले सर्वथा शून्य होने से कुछ बोल नहीं पाते थे। ये पौराणिक अध्यापक स्पष्ट कहते थे कि 'अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ाना चाहो, तो विद्वान् नहीं बन सकते। विद्वान् बनाना चाहते हो, तो आर्य नहीं रह सकते'। यह कपट प्रक्रिया २५-३० वर्ष तक चली। पढ़नेवालों की बुद्धियाँ अष्ट हो गयीं। जो अब तक भी यत्र-तत्र अष्ट देखी जाती हैं। सूर्य उदय होने पर भी आँखें चुँघिया रही हैं। अब सनातनधर्मी विद्वान् भी अष्टाध्यायी पर लट्टू हो रहे हैं। अनार्षता पौराणिकता का इतना गहरा प्रभाव पड़ा। उत्साह भंग हो गया। अतः जानने की इच्छा भी कम ही होती है। अब क्या हैं व्याकरण ही व्यर्थ है! बिना व्याकरण के भी साहित्य पढ़ा जा सकता है यह मिथ्या प्रवाह चल पड़ा है। जो 'अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धा' की कोटि में ही कहा जायेगा ॥ हमारी प्रथमावृत्ति ने सब कठिनाईयों को दूर कर दिया है। अब हमें पहले २५-३० वर्ष की विचारधारा को छोड़कर नये सिरे से अष्टाध्यायी को पुनः फिर से अपने यहाँ पुनरुज्जीवित करने का प्रयास करना होगा। यदि श्रद्धावान् उत्साहपूर्ण और निष्ठावान् होकर हम लग जायेंगे तो २-४ वर्षों में ही सब कठिनाई दूर होकर फिर से व्याकरण का यथेष्ट मार्ग प्रशस्त रूप से चल पड़ेगा। उपर्युक्त-प्रक्रिया को हमने इस प्रथम भाग में पूरा निभाया है। पाठक इसी दृष्टि से पढ़ें एवं पढ़ावें।

अर्थों के विषय में विशेष निवेदन

यद्यपि हमने अर्थ बड़े परिश्रम से दिया है, पुनरपि उसमें अवकाश रखा है। सद्भावना से विचार करने पर उसमें न्यूनाधिकता की सम्भावना रखी है, क्योंकि प्रथम बार के प्रयास में अवकाश रखना आवश्यक है ॥

हमारा यह दृढ़ मत है कि काशिका को प्रथमावृत्ति तथा द्वितीयावृत्ति दो भाग अलग-अलग करके छापने से कदादि काम नहीं चल सकता। न ही काशिका के हिन्दी वा अंग्रेजी अनुवाद करने से यह कठिनाई दूर हो सकती है हम तो यह समझते हैं, कि जो व्यक्ति प्रथमावृत्ति समझ लेगा, वह तो आगे द्वितीयावृत्ति समझ ही लेगा। शंका समाधान का विषय तो ठीक-ठीक महाभाष्य पढ़ने के पश्चात् ही स्पष्ट होगा।

काशिका से अलग प्रथमावृत्ति क्यों लिखनी पड़ी

हम लोग आरम्भ में काशिका से सहायता लेकर प्रथमावृत्ति पढ़ाने लगे, तो प्रथमावृत्ति हमें कापियों पर अलग लिखानी पड़ी थी। जिससे पढ़नेवाले छात्र का बहुतसा समय लिखने में ही लग जाता था। उदाहरणों की सिद्धियाँ भी हम लिखवा देते थे। प्रथमावृत्ति हमने काशिका से कभी नहीं पढ़ाई, पर अपने विद्यालयों से अन्यत्र जब हम काशिका पर से प्रथमावृत्ति पढ़ाते एवं रटाते भी देखते तो हृदय पर गहरी चोट लगती थी। एक बार मैं काशी के प्रौढ़ विद्वान् पं० गोपाल शास्त्री जी के साथ एक गुरुकुल में गया तो वहाँ देखा कि काशिका की वृत्ति सिद्धान्त कौमुदी की तरह बिना समझाये वा अनुवृत्ति बताये रटाई जा रही थी, जिसके स्नातकों को भी नहीं सूझता था कि अब तो समझाकर पढ़ावें। पौराणिक पण्डित तो वृत्ति के लिये उदारता दिखाने लगते हैं, वास्तव में अष्टाध्यायी के मर्म से सर्वथा शून्य हैं। इस घटना से भी मन पर गहरी चोट लगी और प्रथमावृत्ति लिखने की गहरी प्रेरणा मिली।

पढ़ाने वाले पौराणिक पण्डित गुरुकुल में बैठकर भी मूर्ति पूजा करते और स्पष्ट कहते कि यदि “आर्य पाठ त्रिविध से पढ़ाना चाहते हो तो छात्र विद्वान् नहीं बन सकते। विद्वान् बनाना चाहते हों तो आर्य नहीं रह सकते”। जब पढ़ाने वालों की यह मनोगति हो तो तब प्रेम से पढ़ाने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है तभी तो काशी के एवं सनातन धर्म के प्रमुख विद्वान्, महमहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने कहा कि “हमको तो ऋषिकुल हरिद्वार में रहते यह विश्वास हो गया था कि अष्टाध्यायी से विद्वान् नहीं बन सकता, क्योंकि गुरुकुल में दिन में अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती थी और रात्रि में सिद्धान्त कौमुदी”। इस प्रकार प्रायः सभी गुरुकुलों में ८ वीं श्रेणी तक अष्टाध्यायी रटवा दी जाती थी, अब भी रटवा दी जाती है। हमारी दृष्टि में तो वह व्यर्थ रटवाई जाती है क्योंकि प्रागे प्रथमावृत्ति तो कोई पढ़ा नहीं सकता। रटने का परिश्रम सब व्यर्थ ही जाता है। प्रथमावृत्ति छप जाने पर उनको भी ढंग पर डाला जा सकता है, जो कुछ भी कठिन नहीं।

यह प्रथमावृत्ति इन सब आवश्यकताओं को पूरा करेगी। गम्भीर विचारक हमारी इस प्रथमावृत्ति को पढ़ना और पढ़ाना गुरुकुलों में अनिवार्य कर देंगे। चाहे वर्तमान आचार्य और मुख्याधिष्ठाता अपनी कमी के कारण न पढ़ा सकें पर थोड़ा परिश्रम उठाकर स्नातक-शास्त्री-आचार्य सुगमता से प्रथमावृत्ति पढ़ा सकेंगे।

सिद्धियों का परिशिष्ट अलग

हम यहां यह भी दर्शाते हैं कि उदाहरणों के पश्चात् तत् तत् उदाहरण में उक्त सूत्र ने क्या काम किया, जब तक यह न बताया जावे, तब तक सूत्र कुछ भी समझ में नहीं आ सकता, सो उदाहरण के पश्चात् उदाहरण में सूत्र प्रयोजन समझाने के लिये यत्न अनिवार्य है। इसके लिए प्रथमावृत्ति १-२-३ अध्याय के अन्त में एक अलग परिशिष्ट छापा गया है। जिसमें आरम्भ से लेकर तीसरे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त सब उदाहरणों की पूरी सिद्धियां दर्शाई गई हैं। इसमें क्रमशः सूत्र देकर परिशिष्ट दिया गया है। यदि हम ये सिद्धियां उदाहरणों के साथ-साथ ही छाप देते तो सूत्रों के परस्पर सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई पड़ती। उनका क्रम भंग वा व्यवधान होकर कठिनाई होती, नीचे दिखाते तो ग्रंथ का आकार भी बढ़ जाता। इसलिए यह सब सोचकर परिशिष्ट तीन अध्यायों के अन्त में पृथक् पृथक् अध्याय का दिया गया है, जिसमें जिस सूत्र का परिशिष्ट है वह सूत्र मोटे टाइप में छापा है, ताकि पता लगे यह सिद्धि अमुक सूत्र की है, या हैं। आरम्भ में प्रथमावृत्ति में दिये गये उदाहरणों की सिद्धि क्रमशः दी गई है। उसमें आरम्भिक उदाहरण में "सूत्र प्रयोजन" शीर्षक देकर संक्षेप से उस उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया यह समझाया गया है, जो पठनार्थी को अवश्य समझना होगा तभी आगे चलेगा। यदि अति निर्बल छात्र हो तो उसे कई उदाहरणों में से किसी भी एक उदाहरण में सूत्र का प्रयोजन समझना होगा। समझाने वाला धैर्य-शक्ति और उत्साह से समझायेगा तो छात्र के हृदय में बैठ जायेगा कि 'इस उदाहरण में इस सूत्र ने क्या काम किया'। वास्तव में तो उसकी पूरी सिद्धि समझने वा समझाने पर ही पूरा समझ में आयेगा। समझदार पठनार्थी को आरम्भ में २-४ सिद्धियों में कठिनाई प्रतीत होगी जो आगे नहीं रहेगी यह निश्चित एवं अनुभूत बात है। किसी एक उदाहरण की सिद्धि समझ में आ जाने पर आगे सिद्धियां छात्र बड़ी उत्सुकता एवं प्रेम से समझता जायेगा। एक सिद्धि समझ में आजाने पर वैसे ही दूसरी सिद्धियां तो अनायास ही समझ में आ जाती हैं। बृद्धिरादेव की सिद्धियों में ३-४ पर ही विशेष परिश्रम पड़ता है। कम समझने वाले को एक ही सिद्धि समझ लेना बड़ी सफलता है। एक सिद्धि में कुछ कठिनाई हो भी तो पढ़ानेवाला ऐसा बतावे कि पठनार्थी सुगमता से समझ ले। इसका प्रकार हम संस्कृत पठन-पाठन की सरलतम विधि में दर्शा चुके हैं। वहां 'भवति' की सिद्धि के पश्चात् दसों गणों के लट् लकार की सिद्धियां भट्ट समझ में आने लगती हैं। 'भवति' की सिद्धि नई होने से कुछ कष्ट भले ही प्रतीत हो, पर ५ सूत्रों की सिद्धियां समझ लेने से पूरे पाद की सिद्धियां समझ में आ जाती हैं। १ पाद की सिद्धियां समझ लेने

से पूरे अध्याय वा ग्रन्थ की सिद्धियाँ समझ में आ जाती हैं। पहिले १-२ सिद्धि में कठिनाई प्रतीत होगी। यह अनुभूत बात है, देखी सुनी नहीं। हाँ एक बात और समझ लेनी है, कि यदि २० दिन तक किसी को सिद्धि मन में न बैठे तो वह छोड़ दे, और प्रत्येक उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया इतना ही समझ ले। जहाँ प्रयोजन लिखा है, उसको समझ ले, जहाँ नहीं लिखा हो, तो अध्यापक से समझ ले। ऐसा करने पर भी आगे जाकर सिद्धि समझनी ही पड़ेगी, चाहे जब भी समझ में आवे। 'सरसतम पद्धति' में एक 'भवति' की सिद्धि समझ लेने पर दसों गणों के लट् लकार के रूप सिद्धि सहित समझ में आ जाते हैं। एक वाचः की सिद्धि समझ लेने से पुरुषः, अग्निः, वायुः, कृष्णः, रामः तथा २० प्रकार के हलन्त शब्दों की सिद्धियाँ समझ में आ जाती हैं। छात्र समझने लगता है कि अब तो सैकड़ों शब्दों की सिद्धियाँ समझ में आ गईं। इसलिये सिद्धि एक जान लेने से सैकड़ों शब्द समझ में आ जाते हैं। इस बात को कभी मत भूलें। पहली सिद्धि में जो सूत्र लगेंगे, आगे भी कुछ सूत्र तो सर्वथा वही लगेंगे। नये लगनेवाले सूत्र जमा होते जायेंगे। आगे लगनेवाले सूत्रों का अर्थ भी पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति और अर्थ उदाहरण के क्रम से ही समझ लेता है, जो पहले कठिन पड़ता था। प्रथमावृत्ति बन जाने से अब कठिन नहीं। निर्बल छात्र भी इतना तो समझ ही लेगा कि अमुक काम किस सूत्र ने किया। बार-बार लगनेवाले सूत्र अर्थ सहित ही दो तीन बार में समझ में आने लगेंगे। छात्र स्वयं बोलने लगेंगे। यह प्रत्येक पढ़नेवाले को अनुभव होने लगेगा, अतः यदि छात्र पहले ही उदाहरण के साथ सिद्धि को भी ग्रहण कर लेंगे, तो वे व्याकरण पर काबू पा लेंगे, यह निश्चित है। स्वयं स्वाध्याय करनेवाले विना अध्यापक के भी हमारी पद्धति से समझते देखे जाते हैं। हाँ, उन्हें कुछ समय आरम्भ में कुछ कठिनाई का सामना तो करना ही पड़ता है। जो दृढ़-संकल्प होते हैं, वे अधिक संख्या में इससे पार होते देखे जाते हैं। अस्थिरान वाले ही डूबते देखे गये हैं। साहस वाले कभी परास्त नहीं होते। हाँ, जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होती है, उन्हें तो अपूर्व लाभ होता है। स्वयं स्वाध्याय करने वाले बहुत सफल होते देखे जाते हैं। जिनको पढ़ते समय घर की चिन्ता रहती है और घर जाकर श्रेणी की चिन्ता करते हैं ऐसे लोग ही असफल होते हैं, दूसरे नहीं। इसलिये आरम्भ में सिद्धि देर में भी समझ में आवे तो भी काम चल जाता है। यह बात तो हमारी बनाई सरसतम विधि के समय खूब सामने आती है। पाणिनि की रचना ही ऐसी है जो अद्भुत ढंग से सामने आती है। जब तक छात्र यह न कह दे और अनुभव न करले कि समझ में आ गया तब तक समझाते ही जाना है और समझते जाना। अध्यापक की योग्यता तो तभी है, तभी वह सफल अध्यापक है जब निर्बल से निर्बल छात्र को भी समझा दे। पूछने पर कभी

नाराज न हो। एक बात समझ लेने पर दूसरी बात में पहिली बात का बड़ा भाग रहता है, पाणिनि की रचना ही ऐसी है, जो दूसरी बात भी समझ में आ जाती है और पहली भी दुबारा पक्की हो जाती है। मैंने अंग्रेजी पढ़ी है। जितना परिश्रम केवल इतिहास के तैयार करने में लगता है, अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति में उससे भी कम परिश्रम पड़ता है। स्वयं स्वाध्याय करने वाले पीछे की बात को समझ कर आगे की बात को समझते समझते पूरा समझ जाते हैं। स्वयं स्वाध्याय करने वाले भी स्वयं समझ लें अतः हमने सर्वत्र बहुत खोल-खोल कर लिखा है लोगों ने कहा कि 'आप इतना अधिक क्यों खोलते हैं, आपने तो इतना खोल दिया है कि कौमुदी आदि पढ़े हुये भी पढ़ाने लगेंगे।' हमने कहा कि 'यही तो हम चाहते हैं, कि सब कोई समझ सकें समझा सकें, कौमुदी वाले जब समझाने में हृदय से प्रवृत्त हो जायेंगे, तो उन्हें स्वयं अनुभव होने लगेगा कि यदि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो, तो तब अद्भुत लाभ हो, तभी वे लोग भी अष्टाध्यायी को क्रम से उपस्थित करेंगे, भारत में वास्तविक संस्कृत का प्रचार तभी होगा, हमारी सम्मति में द्वितीयावृत्ति अर्थात् शङ्का समाधान यदि महाभाष्य के साथ पढ़ायें, तब भी कार्य चल सकता है। नहीं तो ६ मास या एक वर्ष द्वितीयावृत्ति में लगाकर १॥ वर्ष में सम्पूर्ण महाभाष्य हम पूरा करा सकते हैं ॥ हमारी पद्धति से अधिक से अधिक ५ वर्ष में महाभाष्य सम्पूर्ण हो जाता है। और व्याकरण का पूरा ज्ञान हो जाता है, वैसे कोई चाहे सारी आयु उनमें लगा दे ॥

विशेष—सिद्धियाँ हमने परिशिष्ट में पूरी दी हैं। आगे जहाँ-जहाँ वंसी सिद्धियाँ आती गईं, उन पर हम लिखते गये कि इसकी सिद्धि हम अमुक सूत्र पर पूरी कर चुके हैं, वहीं देखें, अतः पूर्व सिद्धि में बार-बार आनेवाले सूत्रों को, आगे हमने कहीं-कहीं नहीं भी दिखाया है। क्योंकि वे सूत्र बार-बार स्पष्ट हो चुके हैं, अतः पुनः-पुनः लगाने में विस्तार ही होता है। प्रारम्भ की सिद्धि समझ लेने से सब ठीक हो जायेगा। बार-बार सूत्र न लिखना कोई दोषवाह भी नहीं समझा। कहीं-कहीं पूर्ववत् कहकर निर्देश कर दिया गया है, कहीं ऐसा भी नहीं कहा, सो स्पष्ट सूत्रों में ही ऐसा है, विशेष में नहीं। कहीं-कहीं परिभाषायें एवं वार्तिक भी सिद्धियों में लगती हैं, सो वे यथावश्यक लिखी तो गई हैं, किन्तु वस्तुतः द्वितीयावृत्ति का विषय होने से कहीं-कहीं छोड़ भी दी गई हैं। सिद्धि एक स्थान पर जान लेने से वह हृदय में स्वयं बैठ जाती है। बार-बार समझनी नहीं पड़ती। व्याकरण की यही विशेषता है कि एक शब्द जान लेने पर उस प्रकार के सैकड़ों शब्द समझ में आ जाते हैं यह बात प्रथमावृत्ति में ही है, इसलिए हम प्रथमावृत्ति को मुख्य व्याकरण कहते हैं ॥

विदित रहे कि आजकल शङ्का समाधान ही इतना प्रबल और जटिल कर दिया गया है कि, पढ़ने-पढ़ने वालों को यह भी पता नहीं रहता कि सूत्र का यह अर्थ बन कैसे गया। संस्कृत पाठकों ने देखा होगा कि लघुकौमुदी में इको यणचि (६।१। ७४) पढ़ाते समय आरम्भ में ही यह पढ़ाया जाता है कि 'अचि ग्रहणं किमर्थम्' ? इस सूत्र में अच् ग्रहण क्यों कर दिया, अभी तो छात्र की समझ में यह पूरा बैठा भी नहीं कि, सूत्र का अर्थ क्या हुआ, उदाहरण क्या है, उसमें सूत्र घटा कैसे ? और अच् ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? यह छात्र के मस्तिष्क में बिना समझाये थोपा जाता है जिसे छात्र पूरा-पूरा रटता है। क्या बात बनी पता कुछ नहीं, यही रट्टा सर्वत्र चल गया इसलिये आचार्य प्रायः प्रथमा वा मध्यमा वाले को भी नहीं पढ़ा सकते। संस्कृत समाज कहां से कहां पहुंच गया !!! सूत्र का अर्थ कैसे बन गया सो न तो पढ़ाने वाले को पता, न पढ़ने वाले को, 'भवसागर में डूबते बैठ पत्थर की नाव' यही अन्ध परम्परा चल पड़ी। नहीं तो पुरा काल में बड़े-बड़े व्याकरण भी मूलाष्टाध्यायी का प्रतिदिन पाठ करके पाठ करके गद्दी पर बैठते थे। श्री पं० बाल शास्त्री, पं० दामोदर शास्त्री, पूज्य तिवारी जी आदि सब महावैयाकरण प्रतिदिन अष्टाध्यायी का पाठ करके पाठ पढ़ाना आरम्भ करते थे। वह अष्टाध्यायी अब बीच में से लुप्त हो गई। खेद तो यह है कि ऋग्वेदी मूलाष्टाध्यायी अत्यन्त शुद्ध कण्ठस्थ करके भी वही लघु कौमुदी-सिद्धान्त-कौमुदी की वृत्ति कण्ठस्थ करने लगे। इतना घोर अन्धकार फैल गया। उन्हें तो अष्टाध्यायी पर से पढ़ाते !!!

(क) विशेष—(१) हमारे सामने तो संस्कृत न जानने वाले या बहुत कम जाननेवाले प्रौढ़ व्यक्ति रहे, अतः उनको कठिनाई न हो, इस दृष्टि से हमने कठिन सन्धि लगभग इस प्रथम भाग में छोड़ दी है। ऐसा हमने जानकर किया है, अतः यह दोषावह नहीं।

बहुत से शब्दों के रूप कठिन पड़ते थे हमने यथासम्भव समझनेवाले की दृष्टि से सरलता रखी। अपने पाण्डित्य की चिन्ता हमने नहीं की, प्रौढ़ छात्रों की चिन्ता मुख्य रही। स्वयं स्वाध्याय द्वारा पढ़ने वालों को कहीं कठिनाई न पड़े इसका हमने पूरा ध्यान रखा है। सब सूत्रों की संख्याएं देते हैं ताकि पाठक इस ग्रन्थ में ही वहीं-वहीं सूत्र निकाल-निकाल कर भी वह बात आसानी से समझ लें।

(२) शंका समाधान द्वितीयावृत्ति का विषय मानकर हमने जानकर उसे प्रथमावृत्ति में नहीं दिखाया। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इससे प्रथमावृत्ति में नहीं दिखाया। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इससे प्रथमावृत्ति में बड़ी भारी बाधा उपस्थित होती है। छात्र के परले कुछ नहीं पड़ता। वह भ्रमजाल में ही घूमने लगता

है। हमारा विश्वास है कि प्रथमावृत्ति के पश्चात् ६ मास या एक वर्ष में द्वितीयावृत्ति शंका समाधान समझा जा सकता है पहिले नहीं।

हम प्रथमावृत्ति द्वितीयावृत्ति ४०-५० वर्ष से पढ़ाते चले आ रहे हैं। अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होने पर हम प्रथमावृत्ति १॥ वर्ष में अधिक से अधिक २ वर्ष में पढ़ाते हैं। १॥ या २ वर्ष में सम्पूर्ण महाभाष्य पढ़ाते चले आ रहे हैं। ५ वर्ष हम महाभाष्य की समाप्ति पर्यन्त लगाते हैं। साथ में अन्य ग्रन्थ गौण दृष्टि से कराते हैं। महाभाष्य पढ़ने से बुद्धि वा मस्तिष्क की शक्ति का अद्भुत विकास होता है, जो सब शास्त्रों में अग्रगन्त सहायक होता है। बुद्धि इतनी विशद हो जाती है कि सब विषयों को तत्काल ग्रहण कर लेती है। द्वितीयावृत्ति—शंका समाधान, प्रथमावृत्ति के पश्चात् ही पढ़ें पहले नहीं यह रहस्य की बात है। अष्टाध्यायी पद्धति की सबसे बड़ी बात यही है। शङ्काओं का समाधान तो महाभाष्य में बहुत ही सुन्दर सरल और हृदयग्राही ढंग से किया है ॥

सरलतम विधि की सहायता

हम पुनः दर्शा रहे हैं कि यदि प्रथमावृत्ति के प्रथम पाद तक जो हमने लिखा है वह पठनार्थी के मस्तिष्क में बैठ जावे पूरा याद हो या न हो, तो हम निश्चय से कहते हैं कि सरलतम विधि की कुछ भी आवश्यकता नहीं। यदि पहले सूत्र की सिद्धियाँ समझ में आ गईं तो पूरे पाद की सिद्धियाँ समझ में आ जायेंगी यह निश्चय है। हाँ! यदि पहले सूत्र की सिद्धियाँ समझ में न आवें तब सरलतम विधि पढ़नी चाहिये, पीछे प्रथमावृत्ति की सिद्धियाँ पढ़नी चाहिये। सरलतम विधि में प्रकरणानुसार सरलता से बताया गया है, और वह क्रमशः बुद्धि के विकास को ध्यान में रखकर लिखा गया है। जिनको अष्टाध्यायी कण्ठस्थ न हो उन्हें उसमें सहारा मिल जाता है। ४४ पाठ के पश्चात् वृद्धिरावेच् की सब सिद्धियाँ समझ में आ जायेंगी, यह बात प्रौढ़ विद्यार्थियों के लिये है दूसरों के लिये नहीं, अष्टाध्यायी कण्ठ किये हुए तो इसी से पढ़ सकते हैं। जैसे सरलतम विधि से पहले १ मास संस्कृत की प्रथम पुस्तकादि पर अभ्यास कर लेना अच्छा है, ऐसे ही प्रथमावृत्ति से पहले सरलतमविधि कर लेना प्रौढ़ों के लिए बहुत सहायक हो जाता है। यह बात निर्बल छात्रों के लिये है न कि सबल-बुद्धिमान्-दूरदर्शी-परिश्रमी छात्रों के लिये ॥

(ख) प्रथमावृत्ति सम्बन्धी विशेष निर्देश

वैसे तो सामान्य निर्देश हम कर ही चुके हैं, विशेष निर्देश इसलिये करते हैं कि पाठकों को कहीं-कहीं भ्रान्ति न हो। सहेतुक निर्देश ज्ञान वृद्धि में कारण होते हैं, सो लिखते हैं—

(१) प्रथमावृत्ति द्वितीयावृत्ति से पहिले है, सूत्र विषयक अनिवार्य ज्ञान पद-च्छेद-विभक्ति-समास अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण और सिद्धि में पूरा होता है। संस्कृत में तथा आर्यभाषा (हिन्दी) में प्रथमावृत्ति का विषय समाप्त हो जाता है। कहीं-कहीं अनिवार्य होने से हमें द्वितीयावृत्ति का कुछ अंश भी प्रथमावृत्ति में ही दर्शाना पड़ा है, जैसे स्थानिववादेशोऽनल्विधौ में अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता। यह बात समझानी अनिवार्य इसलिये हो गई है कि अगला सूत्र अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६) यह अल्विधि का अपवाद है। फिर इसका अपवाद अगला सूत्र न पदान्तद्विवचनवरेयलोप० है सो यह सब, तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक पहिले स्थानिववादेशः को न समझ लें। अनल्विधि इसका अपवाद है, अचः परस्मिन् पूर्वविधौ यह अनल्विधि का अपवाद है। न पदान्तद्विवचन० यह सूत्र अचः परस्मिन् पूर्वविधौ का अपवाद है। यह प्रकरण समझ में नहीं आ सकता जब तक अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता यह न समझ लिया जावे। इसलिये यह समझाना हमारे लिये अनिवार्य हो गया। पाठक इसको ध्यान देकर समझें, शंका में न पड़ें, इसलिये स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेवें।

(२) उज ऊँ (१।१।१७) को हमने महाभाष्य के आधार पर एक सूत्र माना है। ऐसा ही अन्यत्र भी हमने महाभाष्य के आधार पर किया है, जो कि ठीक है। पीछे से लोगों ने इनको दो सूत्र बना दिया। यदि दो सूत्र होते तो महाभाष्यकार कभी न कहते कि “यहाँ योगविभाग करना चाहिये” इत्यादि।

(३) हमने कई वार्तिकों को, जो कि काशिकादियों में सूत्र रूप में पढ़ी हैं, निकाल दिया है, क्योंकि महाभाष्यकार ने इनको सूत्र नहीं माना। सो हमारे पाठक सूत्रों की संख्या में भेद देख कर घबरायें नहीं। हमने मूलाष्टाध्यायी भी तदनुसार ही छापी है। यदि कोई सज्जन काशिका या अन्यत्र की छपी अष्टाध्यायी देखें तो संख्या के इस भेद को समझ लें। घबराहट में न पड़ें।

(४) जहाँ छान्दस उदाहरण हैं, उनके अर्थ हमने जानकर ही नहीं लिखे। विदित रहे कि हम तो इस विषय में प्रामाणिक अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती के मानते हैं। जो सज्जन चाहें वे सायणाचार्य आदि अन्य भाष्यकारों के किये अर्थों को देखें। पते हमने यथासम्भव सभी के देने का यत्न किया है।

(५) लौकिक उदाहरणों के अर्थ देने का यत्न हमने यथासम्भव पूरा किया है। यह सभी बड़े-बड़े कोशों के आधार पर अत्यधिक परिश्रम करके दिया है कोई-कोई ऐसे अप्रसिद्ध उदाहरण हैं, जो किसी भी कोश में नहीं मिले, उनका अर्थ हमने स्वयं

प्रकृति प्रत्यय के आधार पर किया है। आगे विचार करने के लिये अवकाश रखा है। कोई इससे अधिक खोज करके सुभाव देगे, तो हम उनका धन्यवाद करेंगे।

(६) उदाहरणों के भौगोलिक अर्थों के विषय में हमने कहीं-कहीं श्री डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल कृत 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' से भी सहायता ली है, यद्यपि इस विषय में अभी भारी खोज की आवश्यकता है।

(७) यद्यपि अर्थ देना व्याकरण का विषय नहीं, तो भी लोग पढ़कर इनको प्रयोग में लावें, इस विचार से अर्थ दिये हैं। हमें अत्यधिक परिश्रम अनुवृत्ति तथा उदाहरणों के अर्थ में पड़ा है।

(८) हमने अपनी बात महाभाष्य के आधार पर दिखाने का यत्न किया है। खण्डन मण्डन में जानकर नहीं पड़े। क्योंकि यह एक अलग विवाद का विषय है। द्वितीयावृत्ति में इस पर विचार होना उपयुक्त होगा। विशेष व्याख्या का अंश संस्कृत में चाहते हुये भी विस्तार भय से नहीं लिखा। किसी बात को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से हमने टिप्पणियाँ भी दी हैं।

प्रथमावृत्ति कौमुदी प्रक्रियावालों के लिए भी परमसहायक

हम लिख चुके हैं कि काशी में (अन्यत्र भी ऐसा होना सम्भव है) पुराने प्रसिद्ध विद्वान् श्री पण्डित बाल शास्त्री जी, तथा पूज्य पं० हरनारायण त्रिपाठी जी (निवारी जी) आदि अष्टाध्यायी का पाठ करने के पश्चात् ही गद्दी पर बैठकर पढ़ाते थे, कभी-कभी भूल जाते थे तो कहते थे कि ठहरो, "आज हमने अष्टाध्यायी का पाठ नहीं किया है" समादरणीय पाठ कर लें तो पढ़ाते हैं, यह बात देखने में छोटी-सी प्रतीत होती है, पर इसका परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमारा निवेदन है कि अष्टाध्यायी का पाठ व्याकरण पढ़ने वाले सभी अध्यापक एवं छात्र करें। कृदन्त-तद्धितान्त-आत्मनेपद-परस्मैपद-कारक-विभक्ति-समास-सेट्-अनिट् आदि प्रकरण पढ़ाते समय कौमुदी पढ़ाने वाले महानुभाव भी अनुवृत्ति क्रम से दूसरे शब्दों में प्रथमावृत्ति के ढंग से उन प्रकरणों को पढ़ावें, तो छात्रों को ठीक समझ में आवेगा और अध्यापकों को भी कम परिश्रम पड़ेगा। हमारी यह प्रथमावृत्ति उस में परम सहायक हो सकती है। जो लोग इसमें हठधर्मी करते हैं कि, 'यह अमुक ने कहा है जो हमारे मत का नहीं इसलिये इसको छूटा भी नहीं चाहिये' यह हठधर्मी अब नहीं चल सकती। जब लोग देखेंगे तब विद्यार्थियों को स्वयं बिना किसी दूसरे के कहे स्वानुभूत अनुभव हो जायेगा कि यह विधि (अष्टाध्यायी की अनुवृत्ति का क्रमादि) बहुत ही सरल एवं सुबोध है, तो वे स्वयं उसको ग्रहण करने लगेंगे। लोग संस्कृतको एवं केवल रटने की विद्या समझ कर छोड़ ही दें यह भी तो हमें रोकना ही होगा।

इसके रोकने का उपाय अष्टाध्यायी पद्धति से व्याकरण पढ़ाने का क्रम फिर से आरम्भ किया जावे यही है। इसमें लज्जा-भय-सङ्कीर्णता आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं। तभी संस्कृत जीवित रह सकती है। कौमुदी पद्धति के विद्वानों की सेवा में हमारा यह नम्र-निवेदन है। वे समय पर जागृत हों, नहीं तो 'फिर पछताये क्या होत जब चिड़ियां चुग गई खेत' संस्कृत ही नष्ट हो जायेगी, विदेशों में चली जायेगी, तब भारतीय हाथ मलते रह जायेंगे फिर पछताने से भी कुछ न होगा।

कृतज्ञता प्रकाश

(१) सबसे प्रथम परम पिता परमात्मा का अति घन्यवाद है कि, एक अनपढ़ माता-पिता के यहाँ जन्म लेकर भी इस ओर प्रवृत्ति हुई। अपने पूज्य अद्वेय आर्ष ग्रन्थों और ऋषि दयानन्द में पूर्ण निष्ठावान् श्री स्व० पू० गुरुवर स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज का आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे प्रेरणा दी एवं अष्टाध्यायी और (कुछ) महाभाष्य का अध्ययन बड़े परिश्रम से कराया। मैं उनके ऋण से उर्द्ध्व कभी नहीं हो सकता। मेरे में यदि कुछ गुण हैं, वा समझे जाते हैं, वह सब उनकी कृपा है, दोष मेरे अपने हैं। श्री पं० अखिलानन्द जी ऋरिया मेरे उसी समय के सहपाठी हैं, वह भी कई वर्ष तक उनकी सेवा में रहे, और घोर कष्ट उठाये। उसके पश्चात् जिन विद्वानों के चरणों में बैठकर शास्त्र का ज्ञान प्राप्त हुआ, उन स्व० पूज्य पं० हरनारायण तिवारी जी महाराज, श्री पूज्य चित्र स्वामी जी शास्त्री अद्वितीय मीमांसक, पूज्य गोस्वामी दामोदरलाल जी, पूज्य पं० ढुण्डिराज जी शास्त्री एवं श्री पूज्य पं० रामभट्ट राटाटे जी वेदज्ञ आदि महानुभावों का मैं ऋणी हूँ। उन सब के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। संस्कृत वाङ्मय के प्रौढ़ विद्वान् कर्मनिष्ठ ईश्वर भक्त-माननीय डा० मङ्गल देव जी शास्त्री एम० ए० (आक्सन), वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम प्रारूप निर्धारक-भूतपूर्व वाइस चांसलर संस्कृत विश्व-विद्यालय, से समय-समय पर बड़ी प्रेरणा मिलती रही, तथा काशी के प्रमुख विद्वान् श्री पं० गिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी ने अष्टाध्यायी पद्धति के प्रति अपनी निष्ठा-उत्साह-उदारता प्रदान की। इनका भी मैं आभारी हूँ। तथा अन्य महानुभावों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता निवेदन करता हूँ जिन्होंने मुझे इस पद्धति में उत्साहित एवं प्रेरित किया।

(२) आरम्भ से अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि के पठन-पाठन तथा वेदभाष्य आदि के कार्य में लगभग ४० वर्षों से श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर के संचालकों सर्व श्री स्वर्गीय धर्मनिष्ठ बाबू रूपलाल जी कपूर, स्व० बाबू हंसराज जी कपूर, स्व० बाबू ज्ञानचन्द जी कपूर तथा वर्तमान संचालक श्री बाबू प्यारेलाल जी कपूर,

बाबू सुरेन्द्र कुमार जी कपूर (सब भाइयों सहित) एवं पूरे परिवार की सद्भावना सेवा आदि के कारण ही ये सब कार्य आज तक चलते रहे, तथा इस अष्टाध्यायी का कार्य भी उसी का एक अङ्गरूप बराबर चलता रहा, और मैं इन कार्यों को यथेष्ट रीति से करने में सफल होता रहा, अतः इस प्रथमावृत्ति के विषय में भी इन सब को नहीं भुलाया जा सकता । वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, यह सब कार्य उनकी सद्भावना का ही फल है ।

(३) आर्थिक सहयोग

सन् १९६० में जब प्रथमावृत्ति निर्माण का विचार उठा तो वह कैसे हो ? यह समस्या सामने आने पर मैंने भरिया निवासी 'श्री बाबू मदनलाल जी अग्रवाल' से परामर्श किया, उन्होंने एक सहायक का व्यय १०० रु० मासिक देना स्वीकार किया, जिसे वह प्रति वर्ष २॥ मास छोड़कर शेष समय के लिये देते रहे । वास्तव में यह सहायता मेरे इस कार्य में परम सहायक सिद्ध हुई, इसके बिना मेरा कार्य चल नहीं सकता था । आगे सहायक की निष्ठा, तीव्र भावना, उत्साह, सहनशीलता एवं घोर परिश्रम से यह कार्य आंशिक पूरा हुआ । और जब छपने का विचार आया तो हमारे इस श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के अधिवेशन में ट्रस्ट की ओर से प्रथमावृत्ति छापने का निश्चय हुआ, पर मैंने यह देख कर कि ट्रस्ट का बहुत सा धन पुस्तकादि छपने में व्यय हो चुका है और रामलाल कपूर एण्ड सन्स अमृतसर (दुकान) का धन अनेक पुस्तकों में लगा हुआ है, यह यत्न किया कि यह पुस्तक अन्य सहयोग से छपे, और ट्रस्ट पर अधिक भार न पड़े तो अधिक अच्छा हो । तब मैंने भरिया निवासी श्री बाबू मदनलाल जी अग्रवाल से इस विषय में बात की । वे जहां पुस्तक तैयार कराने में लगभग ४००० रु० लगा चुके थे, वहां उन्होंने एवं उनके भाइयों ने अपने पूज्य पिता स्व० श्री बाबू शंकरलाल अग्रवाल जी की स्मृति में १०००० रु० की सहायता इस पुस्तक के छापने में भी दी, जिसे उन्होंने स्वाधीन रखा, कि चाहें तो वह रुपया पुस्तक बिक्री होने पर वापस भी ले सकते हैं ।

मैं समझता हूं पुस्तक के प्रकाशन में यह बड़ी भारी सहायता हुई, जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं । उनके सहयोग एवं उदारता से यह प्रथम भाग छप कर तैयार हुआ है । आशा है अगले भाग भी इसी प्रकार तैयार हो जायेंगे । इस सब में माननीय श्री प्र० अखिलानन्द जी भरिया के सहयोग सद्भावना के लिये भी मैं अत्यन्त आभारी हूं ।

(४) प्रथमावृत्ति में सहायक कार्य

अब आन्तरिक कार्य का कुछ विवरण देना भी आवश्यक प्रतीत होता है । गत

४० वर्ष से प्रथमावृत्ति बन नहीं पा रही थी। कार्यों की अधिकता इसमें मुख्य कारण रही। गत सन् १९६० के अन्त में यही विचार तीव्र हुआ कि कोई सहायक मिले तो यह कार्य भले ही हो सकता है, वैसे तो नहीं हो पा रहा। इस प्रकार सन् १९६० के अन्त में प्रिय पुत्री (कल्पा) कुमारी प्रज्ञा देवी से बात हुई, तो वह मेरी विचारधारा में पूर्ण सहमत थी।

सहायक का संक्षिप्त परिचय

यह देवी पहिले महिला कन्या हाई स्कूल सतना (मध्य प्रदेश) में अध्यापिका थी, एफ० ए० तक पढ़ी थी। इसके पिता स्वर्गीय मास्टर श्री कमलाप्रसाद आर्य ने अपनी सभी पुत्रियों तथा पुत्र को घर पर ही अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करा रखी थी। कई वर्ष तक वे ग्रीष्मावकाश में मेरे पास आकर अष्टाध्यायी पढ़ते थे। प्रज्ञा देवी ने भी अष्टाध्यायी याद कर रखी थी, और कहती थी, कि मेरे पिता ने मुझ से जबरदस्ती अष्टाध्यायी कण्ठ कराई थी। पिता की मृत्यु के पश्चात् इसकी माता हरदेवी जी पुत्र एवं पुत्रियों के साथ काशी पहुँच गई, और आश्रम से कुछ दूरी पर सब रहने लगे। आषाढ ग्रन्थों के प्रति सारे परिवार में भावना तो थी ही, उसी में लगने का निश्चय किया। प्रज्ञा देवी ने सरलतम विधि पढ़ी तो अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराई काम आ गई। उत्साह यहाँ तक बढ़ा कि यह स्कूल अध्यापन कार्य छोड़, अपनी माता के सहयोग से, एवं अपनी सद्भावना से पूर्णतया आषाढ ग्रन्थों के पठन में लग गई। इस प्रकार सरलतमविधि अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति, द्वितीयावृत्ति, सम्पूर्ण महाभाष्य, निरुक्त, श्रौत, मीमांसा का मुख्य भाग एवं वैदिक विषय के अनेक ग्रन्थ इसने अध्ययन किये। इस समय अपनी छोटी बहिन 'मेघा' को आरम्भ से महाभाष्य का ६ वां अध्याय पढ़ा रही है। इसने महाभाष्य करने के पश्चात् प्राचीन व्याकरण में मध्यमा, शास्त्री, आचार्य प्रथम खण्ड तक प्रायः प्रथम श्रेणी में किया है। सरलतमविधि प्रथमावृत्ति द्वितीयावृत्ति तथा महाभाष्य बड़ी श्रद्धा एवं उत्साह, परिश्रम से पढ़ाती है। ८ वर्ष में इसने बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली। जब मेरा विचार प्रथमावृत्ति लिखने का सामने आया तो यह योग्य तो थी ही, इसकी विचारधारा भी प्रथमावृत्ति के साथ मिल गई। तब योग्यता एवं भावना देख कर मैं भी प्रथमावृत्ति तैयार करने के लिये पूरी तरह सन्नद्ध हो गया, सब योजना इसको नोट करा दी, और अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति लिखनी आरम्भ हुई। बीच में बड़ी २ कठिनाइयाँ भी आईं, पर इसके धैर्य-सहनशीलता-पुरुषार्थ से सब ठीक हो जाता रहा। यह सहायक मेरे लिये बहुत ही सन्तोषप्रद रहा, और यह कार्य इस रूप में सामने आया, जिसकी आशा मुझे बहुत कम थी।

इस प्रकार १९६० के अन्त में प्रथमावृत्ति लिखनी आरम्भ हुई। मैंने एक दो

दिन में इसका प्रारूप लिखा दिया, जो कि आश्चर्य का ही विषय है, कि हमने कितना दूर तक सोच कर एवं पूर्ण लिखा। प्रथमावृत्ति लिखनी आरम्भ हुई मैं साथ साथ बीच में जो कुछ पूछा जाता था, वही बताने लगा। आगे चल कर इसके लिये भी समय नहीं मिल पाता था। अन्त में १९६३ के आरम्भ तक ५१ अध्याय तक रफ कापी लिखी गई। इसमें कई एक परिवर्तन हमने पीछे किये जो कि सारे रफ कापी में परिवर्धित करने पड़े। जहाँ तक मुझसे पूछने का प्रश्न था, मैं पूरा समय नहीं दे पाता था। हाँ ! बीच-बीच में समय देता रहता था। इस स्थिति को देखकर निराशा होती थी, कि यह ग्रन्थ पूरा कैसे होगा। ५१ अध्याय तक रफ कापी लिखा जाना भी पुत्री प्रज्ञा के तप-त्याग एवं निरन्तर परिश्रम तथा निष्ठा का ही परिणाम है, जो लिखा गया। वह समय-समय पर मुझे प्रेरित एवं बाधित करती रही, कि 'मैं उसमें समय लगाऊँ'। वास्तविक आरम्भ मेरे द्वारा १९६४ जनवरी में ही हुआ जब मैंने रफ को सुनकर पढ़कर संशोधन करना आरम्भ किया। तब से मेरा समय निरन्तर इस कार्य में लगा, और परिणामस्वरूप अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति का प्रथम भाग तैयार है। आगे भी छपने को प्रेस कापी तैयार हो रही है।

मैं तो यही कह सकता हूँ कि पुत्री प्रज्ञा के निरन्तर उत्साह, परिश्रम एवं निष्ठा ने ही यह कार्य पूरा किया। मैं तो वर्तमान स्थिति में करने में समर्थ नहीं था। इसके पूरा होने में सब से अधिक कष्ट इसी न उठाया, मुख्य तपस्या इसी की है। इसी ने मुझ से भी समय लगवा लिया नहीं तो यह कार्य पूरा कभी न होता। सन् १९६० के अन्त से १९६४ के अन्त तक चार वर्ष का समय (कुछ मास छोड़ कर) लगा कर तैयार करने का यह सब श्रेय इसी का है। साथ में पुत्री प्रज्ञा के छोटे भाई प्रिय सुद्युम्न (जो कि महाभाष्य पढ़ाता है) की पूरी शक्ति निष्ठा एवं तत्परता का उपयोग इस कार्य में प्राप्त हुआ एवं इसी की सगी छोटी बहिन मेधा (जो कि अपनी बड़ी बहिन प्रज्ञा देवी से महाभाष्य का ६ वां अध्याय पढ़ रही है) से भी प्रेस कापी लिखने, प्रूफ देखने, पते पूरे मिलाने आदि आवश्यक कार्य में पूरा सहयोग मिला। यह सब प्रत्यक्षदर्शी के ही सोचने का विषय है। प्रज्ञा देवी को ही इस सबका श्रेय है। यह प्रथमावृत्ति इसी की गम्भीर तपस्या का फल है। इसे मेरा हार्दिक आशीर्वाद है। मैं समझता हूँ इन सब ने अपने पर किये मेरे परिश्रम को सफल बना दिया, अतः मेरा हार्दिक आशीर्वाद एवं भविष्य के लिये, जीवन की सफलता के लिये आशीर्वाद निकलना स्वाभाविक ही है। आर्ष ग्रन्थों में इनकी निष्ठा उत्साह, एवं परिश्रम बढ़े यही कामना है।

आर्ष पाठविधि में पूर्ण निष्ठावान्, आर्ष समाज के युयोग्य विद्वान् आर्ष गुरुकुल एटा के आचार्य, हमारे शिष्य प्रिय पं० ज्योतिस्वरूप जी ने प्रेस कापी पूरी बढ़े

परिश्रम से देखी, एवं संशोधन किया आगे भी देख रहे हैं। काशी के प्रौढ़ विद्वान् श्री पं० गोपाल शास्त्री दर्शन केसरी (काशी) वर्त्तमान आचार्य श्री बदरीनाथ संस्कृत महाविद्यालय जोशीमठ (गढ़वाल) की प्रथमावृत्ति छापने की निरन्तर प्रेरणा को मैं नहीं भुला सकता। वह यहाँ काशी में रहते तो उनसे बड़ी सहायता मिलती। पं० इन्द्रदेवजी आचार्य घनश्यामदास वैदिक विद्यालय देवरिया, वैदिक वाङ्मय के प्रौढ़ विद्वान् पं० युधिष्ठिर मीमांसक अजमेर, तथा विद्वद्वर्य पं० शङ्करदेव जी आचार्य दीनेर आदि महानुभावों ने जितनी भी सहायता की उसके लिये सब का आभारी हूँ।

प्रूफ देखने तथा कुछ उपयोगी सूत्रों पर आवश्यक विचार देनेवाले, महाभाष्यादि पढ़ाने, तथा वेदभाष्य के कार्य में पूरे सहायक, वेदवाणी के कार्यों में व्यस्त, योग्य विद्वान् प्रिय पं० विजयपाल जी आयुर्वेदाचार्य, बी० एस-सी०, द्वारा पूरा सहयोग देने, तथा प्रिय सुद्युम्न, मेधा, धर्मानन्द द्वारा निष्ठा और परिश्रम से प्रूफ देखने के लिये मैं हादिक आशीर्वाद एवं प्रेम प्रदर्शित करता हूँ। जीवन में ये आर्ष ग्रन्थों में निष्ठावान् बनकर आर्य समाज की सेवा करें, और जनता को लाभ पहुंचावें, यही मङ्गल कामना करता हूँ।

प्रिय रणवीर कपूर (सुपुत्र स्वर्गीय बाबू हंसराज जी कपूर) अध्यक्ष रामलाल कपूर एण्ड सन्स प्रा० लिमिटेड कानपुर को भी मैं भुला नहीं सकता, जिसने अपनी बहिनों के पश्चात् सरलतम विधि, अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति एवं कुछ द्वितीयावृत्ति को पढ़ा, तथा मेरे द्वारा अष्टाध्यायी क्रम के परिमार्जित होने में कारण बना। काशी के अनेक विद्वानों तथा गुरुकुल कांगड़ी में अष्टाध्यायी के इस क्रम के प्रकाशन में सहायक हुआ। पुस्तक छपने का विचार चल ही रहा था कि सुश्री डा० प्रेमलता शर्मा एम. ए. साहित्याचार्य वाइस प्रिंसिपल सङ्गीत महाविद्यालय वाराणसी की प्रेरणा एवं पुत्री प्रज्ञा के सहयोग से तारा प्रिंटिंग प्रेस वाराणसी में छापने का निश्चय हो गया। मैंने स्वीकृति दे दी, अन्यथा यह पुस्तक कुछ विलम्ब से पाठकों तक पहुंचती। इस विषय में उनका भी धन्यवाद है। उनका इस कार्य में आरम्भ से ही अत्यधिक प्रेम रहा।

अन्त में मैं तारा प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री आनन्द शंकर पाण्डेय, श्री रमा शंकर पाण्डेय, एवं श्री विनय शंकर पाण्डेय के प्रेम-उदारता एवं सद्ब्यवहार के लिये अनुगृहीत हूँ। साथ ही कम्पोजिङ्ग विभाग में श्री रामचन्द्र सिंह, बाबा सदानन्द, रामनरेश तथा प्रेसमैन शिवप्रसाद सिंह इन सब को भी मैं धन्यवाद देता हूँ, कि उन्होंने बड़ी श्रद्धा प्रेम एवं लगन से यह कार्य किया और आगे भी करने को तैयार हैं।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

३० मार्गशीर्ष, सं० २०२१

१५-१२-१९६४ ई०

आचार्य पाणिनि महाविद्यालय,

मोतीभील, वाराणसी नं० ६

प्राक्कथनम्

अष्टाध्यायीपठनपाठनस्य क्रमोऽतिप्राचीनः

अद्यत्वे सर्वत्रैव भारतवर्षे प्रायेण संस्कृतविद्यालयेषु प्रारम्भिकशिक्षणे लघु-
कौमुदीमध्यकौमुदीसिद्धान्तकौमुदीषोपलभ्यते । केवलमाङ्गलविद्यालयेषु संस्कृतस्या-
ध्ययनाध्यापनमाङ्गलभाषाविद्वद्भिरेव निमित्तग्रन्थैः प्रचलति । संस्कृतविद्यालयेषु सर्वत्र
कौमुदीरीत्यैव व्याकरणशास्त्रस्य समस्तमपि पठनपाठनं चतुश्शताब्दीभ्य एतावद्
व्यापक जातमस्ति, यदष्टाध्याय्याऽपि व्याकरणस्याध्ययनं सम्भवतीति ज्ञानं विश्वासो
वा प्रायेण नोत्पद्यते केषाञ्चित् साम्प्रतम् । साधनिका (प्रयोगसिद्धिः) कथं सम्भ-
विष्यतीत्याद्याशङ्कमाना उच्चकोटिकविद्वांसोऽपि दृश्यन्ते, अन्येषां तु का कथा ? काल-
क्रमेणाष्टाध्याय्या लोप एव जात इति मन्तव्यम् । हा हन्त ! काश्यामन्यत्रापि
वैदिकानामृगवेदिनां गृहेष्वष्टाध्यायीमतिशुद्धां धाराप्रवाहरूपां कण्ठस्थीकृत्यापि, ते बालाः
पुनः सवृत्तीनि लघुकौमुदीसूत्राणि (तेषां सूत्राणामर्थानिप्यनवबुध्यैव) घोषन्तः सर्वत्र
दरीदृश्यन्ते । अहो ! कीदृश्येषाऽनर्थपरम्परा प्रचलिता !! अष्टाध्यायीं कण्ठस्थीकृत-
वतामपि बालानां साम्प्रतिकवैयाकरणव्याकरणस्याध्ययनं लघुकौमुदीमन्तरा कारयितुं
न पाठ्यते, इत्यनिर्वचनीयानर्थपरम्परा, दौर्भाग्यमेवैतद्देशस्य किमन्यत् ?

भट्टोजिदीक्षितमहोदयस्य कालः सं० १५१०-१५७५ वर्तते । ततः पूर्वं त्वष्टा-
ध्याय्या एव पठनपाठनस्य प्रचार आसीत्, नात्र शङ्कालेशस्याप्यवसरः । तद्यथा चीन-
देशीययात्री इत्सिङ्गनामा भारते कतिपयवर्षेभ्यः (सन् ६८१-६९१ ईस्वी) अस्थात् ।
प्रष्टाध्याय्युपलमेव संस्कृताध्ययनं तेनात्र कृतमिति स्वयं तेन स्वयात्राविवरणे विवृतं
वर्तते । तद्यथा—

(१) “इस (अष्टाध्यायी) में १००० श्लोक (४००० सूत्रों का १०००
श्लोक बनता है—लेखक) हैं । यह पाणिनि की रचना है जो प्राचीनकाल में बहुत
भारी विद्वान् था.....आज कल के भारतवासियों का प्रायः इसमें विश्वास
है । बच्चे आठ वर्ष की आयु में इस (पाणिनि) सूत्रपाठ को सीखना आरम्भ करते
हैं और ८ मास में इसे कण्ठस्थ करते हैं” ॥ (इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ०
२६४) ।

(२) “यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिए जायें, तो उन्हें सब
से पहले (व्याकरण के) इस (अष्टाध्यायी) ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है,
फिर दूसरे विषय । यदि ऐसा न होगा तो उनका परिश्रम व्यर्थ जायेगा.....”
(इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ० २६८) ।

(३) 'प्रौढ़ विद्यार्थी उसे (चुर्णि अर्थात् महाभाष्य को) ३ वर्ष में सीख लेते हैं ।'

(४) "सन् ६११ ई० में इन्द्र वर्मा तृतीय राजा बना । यह इस (भृगु) वंश का अन्तिम राजा था । इसके आठ लेख मिलते हैं, इनसे पता चलता है कि इन्द्रवर्मा षड्दर्शन का पण्डित था । काशिका सहित व्याकरण में पारंगत था और बौद्धदर्शन का भी अच्छा ज्ञाता था । यह अपने समय का भारी विद्वान् था" ॥

(चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार कृत बृहत्तरभारत पृ० ३४२)

अयं चम्पादेशस्य ('अनाम' इति वर्तमाना संज्ञा) राजासीत्, देशोऽयं हिन्द-चीनद्वीपेषु वर्तते ज्ञेयतत् सिद्धयति यद्बौद्धा अप्यष्टाध्यायीपद्धत्यैव व्याकरणमधीयते स्म ॥

पूर्वोद्धरणैरेतत्स्पष्टं यद् इत्सिङ्ग (६८१-६९१ ई०) समये (सन् ६११ ई०) इन्द्रवर्मराज्यसमयेऽप्यष्टाध्याय्या अध्ययनं न केवलं भारतवर्ष एवासीत्, अपितु भारताद् बहिः चम्पादेशे (अनामदेशे) अपि विस्तृतमासीत् । कालक्रमेणैवास्या अष्टाध्याय्या एतावान् लोपोऽभूत्, यदष्टाध्याय्याऽपि व्याकरणस्य ज्ञानं सम्भवतीत्यत्र विद्वांसोऽपि सन्दिहाना दरीदृश्यन्ते किमुत छात्रा इति ।

प्रक्रियानुसारिक्रमस्यारम्भः

इत्सिङ्गसमये (सन् ६८१-६९१ ई०) अष्टाध्यायीपठनपाठनस्य क्रम आसीदिति सप्रमाणमुक्तं पूर्वमस्माभिः, स क्रमः कथं लुप्तः, तत्रारुचौ किं बीजं, प्रक्रियाक्रमे च जनानां प्रवृत्तौ किं निदानमित्यभिलक्ष्येदानीं किंचिदुच्यते—

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, धातुपाठः, उणादिपाठः, गणपाठः, लिङ्गानुशासनं समुदितमेतत् 'पञ्चपाठी' इत्युच्यते सर्वविदितमेतत् । समुदितमेतत् पठित्वैव 'अधीताष्टाध्यायी' इति मन्तव्यम् । 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रमधीयानश्छात्रोऽस्य सूत्रस्य पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरणादि सर्वं पठन् तत्र चोदाहरणानां (शालीयः, भागः, नायकः, अचैषीत्, अलावीत्, माष्टि, इत्यादीनां) सिद्धिं सर्वेऽसूत्रैराष्टाध्यायीपद्धत्या सम्पादयति । एवमष्टाध्यायीं धातुपाठञ्च सयगम्यस्य प्रथमावृत्तावेव (उदाहरणानां सिद्धिं कुर्वन्त एवेत्यर्थः) छात्राः सर्वां तिङन्तप्रक्रियां कृदन्तप्रक्रियां तद्धितसमासप्रक्रियाञ्च विनापि प्रक्रियाग्रन्थाश्रयेणावबुद्धयन्ते स्म । तत्र च सर्वधातूनां सर्वलकारेषु सर्वप्रक्रियासु चैकैकशो रूपाणि सूत्रपुरस्सरं संसाधयन्तः प्रक्रियाग्रन्थानामभावेऽपि ते छात्रा न कीदृशीमपि न्यूनतां तत्रानुभवन्ति स्म । अयं क्रमस्तदानीं सर्वसाधारणेषु प्रचलित आसीत् । प्रक्रियाग्रन्थनिर्माणस्य प्रश्न एव नोदतिष्ठत । कालप्रभावाद्यदा

ह्यध्यापकास्तद्वीत्या छात्राणामध्यापने प्रमादाद् भूयांसं क्लेशमनुभवन्तः शैथिल्यामा-
जह्नुस्तदा ते तामेव प्रयोगसाधनसमये छात्रैर्लिपिकृतां प्रयोगसाधनप्रक्रियां ग्रन्थरूपेण
निर्मापयाञ्चक्रुः शनैः शनैरष्टाध्यायीक्रमेण प्रयोगसाधनप्रक्रिया तु शिथिलतामगात् ।
प्रक्रियाग्रन्थानामाश्रयग्रहणमेवोत्तरोत्तरमवर्द्धत ॥

तदानीमप्येतत्त्वासीदेव यदष्टाध्यायीमभ्यस्य तत्क्रमानुरूपं सूत्रार्थं विज्ञायैव
प्रक्रियाग्रन्थरूपेण परिणतानां सिद्धान्तकौमुदीपूर्ववर्तिनां रूपावतार-प्रक्रियारत्न-रूप-
माला-प्रक्रियाकौमुद्यादीनां, प्रक्रियासर्वस्वप्रभृतीनाञ्चाष्टाध्यायीकालिकच्छात्रकृतं क-
प्रयोगसाधनलिपिरूपाणामाश्रयमध्येतारौ गृह्णन्ति स्म । अष्टाध्याय्याश्रयणस्तु तदानीम-
निवार्यमेवासीद्, यथा काशीस्था महाविद्वांसः “तात्या” शास्त्रप्रभृतयोऽपि ‘न मया
समयाभावादद्याष्टाध्यायीसूत्राणामावृत्तिः कृता’ इति स्वच्छात्रेषूदघोषयन् ।

प्रक्रियाग्रन्थानां निर्मित्यनन्तरमपि यद्यष्टाध्यायीसूत्रपाठस्य त्यागो नाभाविष्यत्,
तदाप्यष्टाध्याय्या उपस्थित्या प्रक्रियाग्रन्थेभ्योऽपि साधारणबुद्धिम्यश्छात्रेभ्यस्तत्र किञ्चि-
त्सौकर्यमभविष्यत्--(यदि मूलं त्यक्त्वा शाखासु गमनं नाभविष्यत्) । एवमष्टाध्यायी-
सूत्रक्रमपाठाश्रयेण प्रक्रियाग्रन्थानामभ्यासो बहुकालाय प्राचलत् । अग्रे बहुतिथे काले
गतेऽष्टाध्यायीसूत्रक्रमपाठः प्रमादात् सर्वथाऽपि विलुप्तः, केवलं प्रक्रियाग्रन्थानां पठन-
पाठनक्रम एव सर्वत्र प्रचलितोऽभूत् । तदारभ्यैवैतेषां प्रक्रियाकौमुदीसिद्धान्तकौमुदी-
प्रभृतीनामुत्पत्तिपरम्परा तेषां व्यापकता च समजति । एतकालमध्य एवंकैकस्योपर्यपर-
स्य प्रक्रियाग्रन्थस्य निर्माणप्रवाहः प्रवृत्तः ॥ प्रक्रियाऽग्रन्थानामुत्पत्तिक्रमविषय इदानीं
किञ्चिदत्र विमृशामः—

प्रक्रियाग्रन्थानामितिहासः

(१) रूपावतारः—(सं० ११४० विक्रमीयः)

अष्टाध्यायीग्रहणेऽसमर्थेभ्योऽल्पबुद्धिम्यश्च व्यावहारिकज्ञानमात्रधिया बौद्ध-
भिक्षुणा धर्मकीर्तिना प्रक्रियाक्रमस्य सर्वप्रथमो ग्रन्थः ‘रूपावतार’ नामकोऽष्टाध्यायी-
सूत्रे व्यरचि । अस्मिन् ग्रन्थेऽष्टाध्यायीक्रमं परित्यज्य केवलं प्रयोगसाधनमभिलक्ष्य
संज्ञा-संहिता-सुबन्त-अव्यय-स्त्रीप्रत्यय-कारक-समास-तद्धितप्रकरणानि प्रथमभागे सङ्-
ग्रहितानि । दशलकार-दशप्रक्रिया-कृदन्तञ्चापरभागे । (स्वरवैदिकप्रकरणं विहाय)
२६६४ सूत्राणि प्रक्रियाक्रमेण व्याख्यातानि । प्रक्रियाग्रन्थानामुत्पत्तिबौद्धकाल एवाभूद्,
इत्यपि ध्येयम् ।

(२) प्रक्रियाकौमुदी—(सं० १४८० वि०)—

यद्यपि ‘प्रक्रियारत्नम्’ ‘रूपमाला’ इमौ प्रक्रियाग्रन्थौ रूपावतारानन्तरं निर्मिता-
विति ज्ञायते तथापि तयोरनुपलम्भात् प्रक्रियाकौमुदीविषय एवोच्यते । प्रक्रियाकौमुदी-

नामकोऽयं ग्रन्थो रामचन्द्राचार्येण, सूत्राणां व्याख्यानं किञ्चिद्विस्तरेण विधाय, स्वर-
वैदिकप्रकरणे च संयोज्य २४७० सूत्राणि व्याचक्षणेन रूपावतारानन्तरं निरमायि ।
तेन च प्रक्रियाक्रमस्य विस्तरः प्रचारश्च प्राचुर्येणाभूत् । ग्रन्थोऽयं सिद्धान्तकौमुद्या
आधार इति मन्तव्यम् ।

(३) सिद्धान्तकौमुदी — (सं० १५१०—१५७५ वि०)

भट्टोजिदीक्षितमहोदयेनाष्टाध्यायीक्रमं परित्यज्यैव पूर्वप्रचलितप्रक्रियाकौमुदीक्रमे-
वाश्रित्य सिद्धान्तकौमुदीनामकस्वग्रन्थो व्यरचि । तत्र च प्रायः सर्वाण्यपि सूत्राणि
(३१७८) व्याख्यातानि । तेन चायं यत्नः कृतो यन्मदरचितोऽयं ग्रन्थः “सिद्धान्त-
कौमुदी” एव सर्वत्र प्रचलेत् । व्याकरणविषये सिद्धान्तकौमुदीं विहाय कस्याप्यन्यग्रन्थ-
स्याध्ययनाध्यापनं न तिष्ठेत् । अनेन कियन्महत्काठिन्यं छात्रेभ्यो भविष्यतीति तु न
विचारितम् । तस्यैवैतत् फलं यत्संस्कृतस्याध्येतारो द्वादशवर्षाण्यधीत्य व्याकरणार्णव-
स्यापि पारं न यान्ति, अन्यशास्त्राणां तु का कथा ? तदपि “द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं
श्रूयते” इति श्रवणमात्रं, ज्ञानं पुनरपि सन्दिग्धमेव ॥

(४) मध्यकौमुदी —

शिखरमध्याख्येय सिद्धान्तकौमुदी यदा छात्रेभ्योऽतीव दुःखावहा-दुरूढा-अतीव-
परिश्रमसाध्या-अतिकालसाध्या चेत्यनुभूतवान् वरदराजस्तदैव सं० २११७ सूत्राणि
व्याख्याय मध्यकौमुद्या निर्माणं कृतवान् । मध्यकौमुदीनिर्माणमेव सिद्धान्तकौमुद्य-
साफल्यस्य प्रत्यक्षं प्रमाणम् । अन्यथा काऽऽसीदावश्यकता मध्यकौमुदीनिर्माणस्य ? एवं
शिखरान्मध्यमार्गे समागता संस्कृताध्ययनपद्धतिरिति सुव्यक्तम् ॥

(५) लघुकौमुदी —

मध्यमार्गेणापि यदा सन्तोषो नाभूत् तदानीमन्यमपि लघुतरमार्गमन्विच्छता
तेनैव वरदराजेन स्वपूर्वनिमित्या मध्यकौमुद्या असन्तुष्य ११८८ सूत्राणि व्याख्याय
लघुकौमुदी विरचिता । शिखरान्मध्ये, मध्यान्नीचैरागतोऽयं व्याकरणस्य पठन-पाठन-
क्रमः । सिद्धान्तकौमुद्यां काठिन्यं नाभविष्यत्तर्हि मध्यकौमुदीलघुकौमुदीग्रन्थयोर्निर्माणं
कदापि नाभविष्यदिति सुव्यक्तम् । तयोर्निर्माणं प्रत्यक्षं प्रमाणं यत् सिद्धान्तकौमुदी-
क्रमेण न सर्वेषामध्ययनं सुकरं समभवत्, नात्र सन्देहावसरः ॥

अष्टाध्यायीक्रम एव पुनः समुपस्थितः

“वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता” — (अथर्व)

यथा चायं भूगोलो वर्तुलाकारः, तत्र ‘यतश्चलितुमारब्धस्य तत्रैव पुनः प्रस्था-

वृत्तिर्भवतीति' जनश्रवस्तथ्यञ्च, तथैवायमष्टाध्यायीक्रमोऽद्य स्वतन्त्रभारते पुनरपि यथाक्रमं सम्प्राप्तः ।

मूलतोऽतिदूरङ्गता व्याकरणस्याध्येतार इति पूर्वमस्माभिः प्रतिपादितम्, यस्य वृक्षस्य मूलात् सम्बन्धो विच्छिद्यते, कालक्रमेण स्वयमेव तस्य वृक्षस्य पत्राणां पुष्पाणाञ्च नाशो दुर्निवारः, अतः पुनर्मूलस्यैवाश्रये कल्याणसम्भव इति सुधिय एव प्रमाणम् । अतोऽधुनाऽष्टाध्यायीपद्धत्याश्रयणं संस्कृताध्यायिनां भारतस्य च कृते कल्याणकरं स्वश्रेयस्साधकञ्च भवेदित्याशास्यते ॥

नान्यश्रुतोऽयं वादः, अपि तु स्वानुभूत एव । स च स्वानुभव इदानीं स्वमित्राणामाग्रहेण समादरणीयविदुषां, व्याकरणाध्येतॄणां, व्याकरणमधिजिगमिषूणाञ्च पुरतः प्रकाश्यते मनाक् ।

व्याकरणसारल्ये स्वानुभवः

(१) सर्वथाऽपि संस्कृतानभिज्ञानां द्वित्राणां कन्यानाम्, अष्टाध्यायीमूलसूत्राणां कण्ठस्थीकरणेन विनापि, अष्टाध्यायीक्रमेण पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि-(सर्वैः सूत्रैः) इत्यादि-सम्पादनेन व्याकरण एतावती प्रगतिरभूत्, यदष्टाध्यायी-क्रमेण व्याकरणमधीयानाभिस्ताभिः पञ्जाबविश्वविद्यालयस्य विशारदपरीक्षा दशभिर्मार्गैरेवोत्तीर्णा । अस्यां परीक्षायां व्याकरणेन सह संस्कृतसाहित्यग्रन्थाः, दर्शनग्रन्थाः, धर्मशास्त्रं, भगवद्गीता, संस्कृतेऽनुवादो निबन्धश्चेत्यादिसर्वेष्वपि विषयेषु योग्यता सम्पादनीया भवति । ताभिरेव विशारदपरीक्षानन्तरं सप्तभिर्मार्गैः शास्त्रपरीक्षा-प्युत्तीर्णा, यस्यां वेदो निरुक्तं, संस्कृतसाहित्यग्रन्थाः, महाभाष्यं, दर्शने सांख्ययोगौ सभाष्यौ, अनुवादो निबन्धश्चेत्येतावन्तो विषया भवन्तीत्यपि ध्येयम् । सप्तदशभिर्मार्गैः (सार्द्धवर्षेणैव) सर्वथापि संस्कृतानभिज्ञाः कन्या विशारद-शास्त्रपरीक्षोत्तीर्णा जाता इति श्रुत्वा प्राकृतजनास्तु विश्वासमपि न कुर्वन्ति, विशिष्टास्तु चकितचकिता विस्मिताश्च जायन्ते । परञ्च सर्वमेतदधुनाऽपि मर्मज्ञैः प्रत्यक्षीकर्तुं शक्यते ॥

(२) अपरञ्च—बी० ए०, एल० एल० बी० इत्युपाधिधारिण इञ्जीनियर-पदवीमलङ्कृता अपि ३५, ४० वर्षाः प्रौढाः सज्जनाः सर्वथाऽपि संस्कृतानभिज्ञाः, सप्तभिर्दिनेरेव 'पठति' शालीयः, 'पुरुषः' इत्युदाहरणानां पूर्वापरसूत्रनिर्देशपुरःसरं सिद्धिमष्टाध्यायीसूत्रैः (विना रटनेन) कुर्वन्तीत्यपि द्रष्टुं शक्यते ॥

(३) एफ० ए० परीक्षार्थं छात्रः २। सपादद्वयमासेनैवाष्टाध्यायीक्रमेणाष्टाध्यायीसूत्राण्यकण्ठस्थीकृत्यापि केवलमवबुद्धयैव ६०० षट्शतसंख्यकानि सूत्राणि पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धिपुरःसराणि सम्यगधीतवान् । तत्र च

‘स्थानिवदादेशोऽनलिवधौ’ इत्यादिकठिनतमप्रकरणस्यान्येषां प्रकरणानाञ्च कठिनतम-
सूत्राणां व्याख्यानं तेषामुदाहरणानां सिद्धिञ्च (प्रत्येकं ५०, ६० सूत्रैः) सम्यगवबोध्य
(विनापि रटनेन) काशीस्थवैयाकरणविद्वत्समाजेऽन्यत्रापि च प्रदर्शिवान् । येन ते
सर्वेऽपि विद्वांस आश्चर्यचकिता अभूवन् । अत एवास्माभिरुच्यते, यदष्टाध्यायेव
संस्कृतज्ञानस्य व्याकरणज्ञानस्य च परमं साधनम् ॥

कुतो जनाः संस्कृताध्ययनात् पलायन्ते ?

न हि व्याकरणेन विना संस्कृतभाषायामधिकारस्तत्र च सम्यक् प्रवेशो भवती-
त्यस्माकं सिद्धान्तः । किन्तु तदेव व्याकरणमद्यत्वे दुरूहतयाऽर्थरहितघोषणपुरःसरतया
च संस्कृताध्येतॄणां मार्गोऽवरोधकत्वेन सुदृढगंलरूपेण समुपतिष्ठते । यावदस्यावरोध-
कत्वन्नापाकृतं स्यात्तावन्नास्या देववाण्याः पुनरुद्धारः सम्पत्स्यत इत्यपि सुनिश्चित-
मेव । ये केचन स्वमनीषिकयाऽन्येषां प्रेरणया, धर्म-देशभक्तिभावनया वा संस्कृता-
ध्ययनमारभन्ते, ते पूर्वोक्तामर्थरहितघोषणपुरःसरतां दुरूहताञ्च दृष्ट्वैव संस्कृता-
ध्ययनतः पलायिता हताशाश्च यत्र-तत्र सर्वत्र दरीदृश्यन्ते । एवम्भूतानां संस्कृताध्यय-
नतः पराङ्मुखानां पलायितानां भुक्तभोगानां संख्या न जाने भारते कति लक्षाणि
स्यात् । तैः (स्कूलकाले जादिष्वधीतवद्भिः ‘बी० ए०, एम० ए० इत्युपाधिधारिभिः,
आर्य्यभाषाविशेषज्ञैर्वा) न केवलं स्वयमेव संस्कृताध्ययनं परित्यज्यतेऽपित्वग्रे स्वसन्त-
तेरपि संस्कृताध्ययनस्य मार्गोऽवरोध्यते । एवम्भूता जनाः स्वसन्ततिभ्य एवमुपदिशन्तो
दृश्यन्ते—“वत्स ! मया स्वबाल्यकाले संस्कृताध्ययनमारब्धमासीत्, किन्त्वतिक्लिष्टं
महाकष्टसाध्यमर्थरहितघोषणप्रायिकं दुरूहञ्चेदं संस्कृताध्ययनमिति कृत्वाऽनिच्छता-
ऽपि मया त्यक्तं पुरा, त्वयापि नात्र समयनाशः शक्तिनाशो वा कर्त्तव्यः” इत्थंभूतैः
प्रवादैः संस्कृताध्ययनं देशे लुप्तप्रायमेवाभूत् । ये केचनोत्कृष्टमस्तिष्कास्ते पूर्वमाङ्ग-
लीयैः प्रायेण नवनीतवत् संगृह्ये जलैण्डादिदेशेषूपालोभं प्रदर्श्य, महार्घाश्छात्रवृत्तीः
प्रदाय विदेशीयवेश-भूषा-भावनायुक्ता अन्ते राजकार्येषु नियोजिताः, येन च ते स्वयं
भारतीयसंस्कृतेः सम्यगतायाः, संस्कृतसाहित्याच्च पराङ्मुखा अभूवन् । ये भिक्षुवृत्तयः
साधारणमस्तिष्का देशस्य संसारस्य वा भूत-वर्तमान-भविष्यद्विषये सर्वथाप्यनभिज्ञास्ते
प्रायेण फल्गुवत् संस्कृताध्ययनेऽवशिष्टा दरीदृश्यन्ते, ते च न संस्कृताध्ययने स्वकर्त्तव्य-
बुद्ध्या प्रवृत्ता भवन्ति, अपि त्वर्थाभाव एव तेषां प्रवृत्तिहेतुर्दृश्यत इत्येवम्भूतायां
विषमसमस्यायां कथं स्यात् संस्कृतान्मुदय इति सुधीभिर्विमर्शनीयम् ॥

तत्र व्याकरणाध्ययनस्यातीव सरलोपायः

व्याकरणाध्ययनं यदाऽनिवार्यं, नानेन विना संस्कृतसाहित्ये प्रवेशस्यापि संभव

इत्यस्माभिः पूर्वंमुक्तम्, अस्यामवस्थायां “व्याकरणाध्ययनस्य कश्चन सरलोपायः स्यात्” इति विचारे समुत्पन्नेऽस्माभिरेकमेव सूत्रमुद्धोष्यते—

अष्टाध्यायीक्रमेणाध्ययनस्य पुनरुद्धार एवास्य सर्वस्य महोषधम् ॥

अस्यां विंशतितम्यां शताब्द्यामस्याष्टाध्यायीक्रमस्य पुनरुद्दारे बहुकालानन्तरं प्रथमः प्रयासः श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां वर्तते । तदनन्तरं तच्छिष्याणां श्रीमतां परमहंसपरिव्राजकाचार्यदयानन्दसरस्वतीस्वामिनामेव कृपा वर्तते, यद् वयं साम्प्रतमष्टाध्यायीपठनपाठनक्रमस्य विषये किञ्चिद् वक्तुं समर्थाः स्मः ॥

अष्टाध्यायीक्रमस्य वैशिष्ट्यम्

(१) किमत्र रहस्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—मूलाष्टाध्यायीग्रन्थाभ्यास एवात्र रहस्यं नान्यत् किञ्चिदपि । ‘आव गुणः’ (अ० ६-१-८४) इति सूत्रमस्माभिरित्थं पाठ्यते—‘आत्’ ५-१ (पञ्चम्येकवचनान्तम्) । ‘गुणः’ १-१ (प्रथमैकवचनान्तम्) पदम् । उपरिष्ठाद् “एकः पूर्वपरयोः” (अ० ६-१-८१) ‘इको यणचि’ (अ० ६-१-७४) ‘संहितायाम्’ (अ० ६-१-७०) इति सूत्रेभ्यः ‘एकः’ ‘पूर्वपरयोः’ ‘अचि’ ‘संहितायाम्’ इति पदानामनुवृत्तिरपकृष्यते, अनुवर्तन्त इमानि पदानीत्यर्थः । तदानीं बाह्यशब्दस्याध्याहारेण विनापि सूत्रस्यार्थं इत्थं सम्पद्यते—“आत्-अचि संहितायाम्—पूर्वपरयोः गुणः-एकः” । अग्रे ‘स्यात्’, ‘भवेत्’ ‘भविष्यति’, ‘भवति’, ‘वर्तते’, ‘सम्पद्यते’, ‘जायते’ एषु कतमदपि पदमध्याहर्तुं शक्यते, नात्र विवादोऽस्ति । ‘सूत्र एव सूत्रस्यार्थः’ इति रहस्यम् । स चार्थः छात्रेभ्यः (स्युस्ते बालाः प्रौढा वा) सूत्रत एव बोधनीयो भवति । मूलाष्टाध्यायीपुस्तक एव छात्राय सर्वमेतत् प्रदर्शयतेऽवबोध्यते च । सूत्राणां घोषणेन विनाऽपि छात्र एवं प्रदर्शितं सूत्रार्थमचिरेणैवावबुध्यते । पाठनसमयेऽध्यापकेन पुनः पुनरावृत्त्या सूत्रार्थं कृते, तस्यार्थस्य स्वयमेव छात्रस्य हृदये स्थितिर्जायते, न तत्र घोषणस्यावसर उच्यते । पुनः पुनरावृत्तावध्यापकस्य परिश्रमो भवति न छात्रस्य । अन्ते स छात्रस्तत्सूत्रं तस्यार्थञ्च सम्यग् गृहीत्वा स्वस्मृतौ सञ्चिनोति । अयं हि प्रत्यक्षदर्शनस्य विषयः । इदमेव साधारणजनं रहस्यमित्युच्यते ।

(२) लघुकौमुदी—मध्यकौमुदी—सिद्धान्तकौमुदी—प्रक्रियाकौमुदीप्रभृतीन् कौमुदीपरिवारान् जोष्यमाणान्छात्रा आजीवनमेतदपि नावबुद्धयन्ते, यत् सूत्रस्यार्थः कथमेवं सम्पन्नः । व्याकरणाचार्या भूत्वाप्यनुवृत्तिविषये सर्वथाऽनभिज्ञा एव प्रायेण सर्वत्र दरीदृश्यन्ते । सूत्राणां कण्ठस्थीकृतोऽप्यर्थः (चतुर्गुणः १६००० षोडशसहस्रपादपरिमितः) न चिराय स्मृतौ स्थातुमर्हति, इच्छतोऽनिच्छतो वा । स्वाभाविकञ्चैतत्,

सम्यगनवगतोऽनवबुद्धः सम्बन्धविज्ञानविरहितोऽर्थः स्मृतौ कथमवतिष्ठेत, अवस्थातुं वा शक्नुयादिति सर्वजनीनेयमनुभूतिः सर्वत्रापि द्रष्टुं शक्यते, दृश्यते च ॥

(३) अष्टाध्यायीक्रमे चायमपि विशेषः—प्रौढछात्रा अष्टाध्यायीसूत्राणि विना रटनेन पूर्वं बुद्धावध्यापकद्वारा पठनसमये स्थापयन्ति, अग्रे च पुनः पुनस्तेषां सूत्राणां प्रयोगसाधनावसरेऽध्यापकद्वाराऽभ्यासः सम्पद्यते, तदनु तानि सूत्राणि तेषामर्थाश्च स्वयमेव बुद्धौ स्थिरा जायन्ते । यानि यानि सूत्राणीत्थमवबुद्ध्यन्ते तेषां नीचे रक्ततुलिकया चिह्नानि क्रियन्ते कार्यन्ते च । येन स्वावगतसूत्राणां ज्ञानं स्मृतिर्वा तेषामनायासेनैव सम्पद्यते । स्वाम्यस्तचिह्नितसूत्रावलोकनेन प्रौढछात्रस्याध्ययनोत्साहोऽपि भृशं समेधते एतदप्यस्ति रहस्यमष्टाध्याय्या अध्ययनपद्धतौ । इतरपद्धतौ तु नैवं सम्भवति, न च सम्पद्यते तादृशं ज्ञानमिति प्रत्यक्षगोचरोऽयं विषयो न श्रवणपरः ॥

(४) अष्टाध्याय्यां सर्वाणि प्रकरणानि वैज्ञानिकेन विधिना सुसम्बद्धानि वर्तन्ते, तेन तत्तत्प्रकरणस्य ज्ञानं सुतरामनायासेन जायते । तद्यथा—सर्वनाम-इत्संज्ञा-आत्मनेपद-परस्मैपद-कारक-विभक्ति-समास-द्विवचन-संहिता-सेट्-अनिट्प्रकरणानां सूत्राणि परस्परं सुसम्बद्धानि वर्तन्ते, अतस्तेषामर्थावगमे न काचनापि बाधा छात्राणां जायते । यदि कस्यचिच्छात्रस्येङ् विषये द्विवचनविषये वा शङ्कोत्पद्यते तर्ह्यष्टाध्यायीक्रमेणाधीत-वांश्छात्रो द्वित्रैरेव पलैस्तत्प्रकरणस्य समस्तसूत्राणां पाठं कृत्वा निःसंशयो जायते कौमुदीक्रमेणाधीतवांश्छात्रस्तु काठिन्येनातिपरिश्रमेण चापि व्युत्क्रमेण सूत्रविन्यासहेतोर्न तत्र निस्सन्दिग्धः सम्पद्यते । कुतः ? तस्य क्रमे तु सूत्राणि विभिन्नप्रकरणेषु विकीर्णानि वर्तन्ते, तेषां विभिन्नप्रकरणपठितसूत्राणां परस्परं ज्ञानं कथङ्कारं सम्भवेत् ?

(५) अष्टाध्याय्यां 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' 'असिद्धवदत्राभात्' 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्याद्यधिकारसूत्राणां कार्येषु सूत्रक्रमज्ञानस्य महत्यावश्यकतैव न विद्यते, अपि तु तेषां क्रमज्ञानस्यानिवार्यताऽप्यपेक्षिता भवति । सूत्रपाठक्रमज्ञानमन्तरा 'पूर्वम्' 'परम्' 'आभात्' 'त्रिपादी' 'सपादसप्ताध्यायी' बाध्यबाधकभावश्चेत्यादिज्ञानं न कदापि सम्भवत्यध्ये-तृणामध्यापकानाञ्चापि । सिद्धान्तकौमुदीप्रक्रियाक्रमेणाधीतवतां छात्राणां सूत्रपाठक्रम-ज्ञानस्याभावान्महाभाष्यं पूर्णतया बुद्धि नाधिरोहति । प्रतिपदं प्रतिसूत्रं वा तत्र महत् कष्टमनुभूयते, स्वाभाविकञ्चेतत् । स्वप्रत्यक्षीकृतमेतत् सर्वं, यदत्रास्माभिः प्रति-पाद्यते ॥

(६) सिद्धान्तकौमुदीक्रमेणाधीतं व्याकरणं छात्राणां स्मृतिपत्राच्छीघ्रं विलुप्यते । पुनः पुनर्घोषणेनापि सत्वरमेव विस्मृतं भवति । सर्वेषामेव व्युत्क्रमेणाधीतवतां छात्राणां स्वानुभूतिरेवात्र प्रमाणम् । नास्त्यत्र कस्यचिदन्यस्य कथनावसरः ।

(७) अष्टाध्यायीक्रमे सूत्राणां प्राप्तिः सामान्येनावबोध्यते सिद्धान्तकौमुदीक्रमे तु यत् सूत्रं यत्रोल्लिखितं विद्यते तत्रैव तस्य प्राप्तिश्छात्रस्य मस्तिष्कमारोहति, न चान्यत्रापि तस्य प्राप्तिश्छात्रस्य मस्तिष्के सौकर्येणोपतिष्ठते । एकस्मिन्नुदाहरणे प्रयुक्तसूत्रस्य तत्सदृश उदाहरणान्तरे प्रयोक्तुमाधुनिकप्रक्रियानुसारेणाधीतवन्तश्छात्राः सर्वथैव बिभ्यति । 'उपेन्द्रः' इति प्रयोग, उदाहरणे वा प्रयुक्तं 'आब् गुणः' इति सूत्रं 'दिनेशः' इत्युदाहरणे प्रयोगे वा प्रयोक्तुं ते छात्रा बहुधा बिभ्यतो दृश्यन्ते ।

(८) लेटि रूपाणि, स्वरवैदिकसूत्राणामर्थोदाहरणानि, तेषां सिद्धिर्वाष्टाध्यायीक्रम आरम्भादेव 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रस्योदाहरणसिद्धावेवावबोध्यन्ते । सिद्धान्तकौमुदीक्रमे तु ग्रन्थस्यान्ते संस्थापितत्वादाजीवनमपि तत्र यत्नो न क्रियते । यतो ह्युपेक्षिते तत्प्रकरणे, अतस्तत्र कथं गतिः स्यादिति सर्वजनीनोऽयमनुभवः ॥ अन्येऽपि बहवो दोषाः सिद्धान्तकौमुदीप्रक्रियया व्याकरणाध्ययनाध्यापने सन्ति, विस्तरमिमां विरम्यते ॥

अष्टाध्यायीक्रमेणाध्ययने ये गुणाः सन्ति, ते ये सम्पूर्णमष्टाध्यायीं पूर्वं कण्ठस्थीकृत्याधीयते, तेभ्य एवोपकारिणो भवन्ति, तत्रमहाभाष्याध्ययनपर्यन्तमष्टाध्यायीसूत्राणां पारायणस्यावश्यकता भवति । येषामष्टाध्यायी कण्ठस्थाना न भवति, अष्टाध्याय्याः पठनञ्चारभन्ते, ते तु तेभ्यो गुणेभ्यो वञ्चितास्तिष्ठन्ति । सति तत्रैवं अष्टाध्यायीक्रमजानाभावे तैर्महाभाष्यादिपठने महत् कष्टमनुभूयते अतो महाभाष्यस्याद्यन्ताध्ययनकर्तृणां सर्वप्रथममष्टाध्याय्याः कण्ठस्थीकरणमनिवार्यमेवेति दिक् ॥

ये तु प्रौढाः पठनार्थिनो लघुकौमुदीं वाऽधीयते (यत्र च तेषां घोषणस्य महान् परिश्रमः कालश्चापि सुमहान् व्यर्थैव जायते) तेभ्योऽप्यष्टाध्यायीसूत्रपाठस्य कण्ठस्थीकरणं विनापि तावज्ज्ञानमष्टाध्यायीक्रममात्रेण (केवलं सूत्रार्थप्रयोगसिद्धिमात्रेणेत्यर्थः) षड्भिरेव मासैः सम्पद्यते, यावत् ताभ्यां लघुकौमुदीमध्यकौमुदीभ्यां द्वित्रैर्वर्षेऽपि न सम्भवति । समयस्य परिश्रमस्य च महान् लाभोऽष्टाध्यायीक्रमस्य महद् वैशिष्ट्यम् ।

अत एव "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" अष्टाध्याय्यैवेतत् सर्वं सम्भवति नान्यथेत्यस्माभिर्मुहुर्मुहुश्च्यते ॥

—:०:—

आचार्य पाणिनि का महत्त्व

आचार्य पाणिनि केवल शब्द शास्त्र के ही ऋषि (साक्षात्कृतधर्मा) नहीं थे, अपितु सपूर्ण लौकिक वैदिक वाङ्मय में अव्याहतगति थे, ऐसा सभी का मत है ।

वैदिक वाङ्मय सम्बन्धी विद्वत्ता का निर्देश तो उनकी बनाई अष्टाध्यायी के सूत्रों में जहाँ तहाँ मिलता ही है, किन्तु ये भूगोल-इतिहास-मुद्राशास्त्र तथा लोकव्यवहार के भी महाविद्वान् थे, ऐसा पाणिनि शास्त्र के अवगाहन से प्रतीत होता है। उनका शब्द-शास्त्र न केवल व्याकरण का ही प्रतिपादन करता है, अपितु भूगोल इतिहास आदि विषयों के ज्ञान के लिये भी इनके शास्त्र की अद्भुत महिमा एवं महान् उपयोगिता है, ऐसा विद्वान् लोग अनुभव करते हैं।

पाणिनीय अष्टाध्यायी का गौरव न केवल हम ही घोषित करते हैं, अपितु भगवान् पतञ्जलि भी आचार्य पाणिनि का महान् गौरव आदर के साथ मुक्त कण्ठ से प्रदर्शित करते हैं। जैसे कि—

(१) “प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म । तत्राशक्यं वर्णनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण” (महाभाष्य १।१।१ पृष्ठ १३४ चौखम्बा संस्करण) । “दर्भ पवित्र से युक्त हाथों वाले अर्थात् यज्ञवत् प्रवृत्त हुए, प्रमाणभूत आचार्य प्राची दिशा की ओर मुख करके पवित्र स्थान में बैठकर महान् यत्न से सूत्र रचना करते थे, अतः उनका एक वर्ण भी अनर्थक नहीं, फिर इतने बड़े सूत्र की तो बात ही क्या है” ।

(२) पुनः कहते हैं—“सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्” (अ० ६।१।७७ महाभाष्य), शास्त्र के सामर्थ्य से मैं इस शास्त्र में कुछ भी (कोई भी वर्ण या पद) ऐसा नहीं देखता जो कि अनर्थक हो” ।

(३) जयादित्य भी उदक्च विपाशः (अ० ४।२।७४) इस सूत्र की वृत्ति में कहते हैं कि—महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य “सूत्रकार पाणिनि की अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि है” ।

(४) चीन देशवासी यात्री ह्वेनसाङ्ग भी इस प्रकार कहता है—“पूर्ण मनो-योग से महर्षि पाणिनि ने शब्दभण्डार से शब्दराशि का चुनना प्रारम्भ किया । १००० श्लोकों में (अर्थात् ४००० सूत्रों में) सारी व्युत्पत्ति समाप्त हो गई है । प्रत्येक श्लोक ३२ अक्षरों में था । इसी में ही सारी प्राचीन तथा नवीन ज्ञानराशि परिसमाप्त हो जाती है । शब्द एवं अक्षर विषयक कोई भी ज्ञान इससे शेष नहीं बचा” (ह्वेनसाङ्ग हिन्दी-अनुवाद प्रथम भाग के २२१ पृष्ठ से उद्धृत) ।

पाश्चात्य-विद्वानों की भी पाणिनि के विषय में अति उत्कृष्ट भावना है ।

(१) जैसे कि—मोनियर विलियम कहता है—संस्कृत का व्याकरण (अष्टाध्यायी ग्रन्थ) मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम भाग है, जो कि मानव मस्तिष्क के सामने आया” ।

(२) हण्टर भी कहता है—“मानवमस्तिष्क का अतीव महत्त्वपूर्ण आविष्कार यह अष्टाध्यायी है” ।

(३) लेनिनग्राड के प्रो० टी वारसकी कहते हैं—“मानवमस्तिष्क की यह अष्टाध्यायी सर्वश्रेष्ठ रचना है” ।

अष्टाध्यायी पठन-पाठन का क्रम अति प्राचीन है

आजकल भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र ही संस्कृत विद्यालयों में लघुकौमुदी, मध्य-कौमुदी एवं सिद्धान्तकौमुदी ही देखी जाती हैं, केवल अंग्रेजी स्कूलों, कॉलेजों में ही संस्कृत का पठन पाठन अंग्रेजी भाषा के विद्वानों के द्वारा रचित ग्रन्थों से होता है । संस्कृत विद्यालयों में सर्वत्र कौमुदी रीति से ही व्याकरण शास्त्र का पठन पाठन १४वीं शताब्दी से इतना व्यापक हो गया है, कि अष्टाध्यायी से भी व्याकरण का अध्ययन हो सकता है, ऐसा ज्ञान वा विश्वास ही प्रायः करके आजकल किन्हीं-किन्हीं को नहीं होता । प्रयोगों की सिद्धि (अष्टाध्यायी क्रम से) कैसे हो सकेगी इस प्रकार की शङ्काएं करते हुए उच्चकोटि के विद्वान् भी देखे जाते हैं, ग्रन्थों का तो कहना ही क्या ? कालक्रम से अष्टाध्यायी का लोप ही हो गया ऐसा ही मानना पड़ेगा । खेद से कहना पड़ता है कि काशी में तथा अन्यत्र भी ऋग्वेदी वैदिकों के घरों में बालक अतीव शुद्धोच्चारण सहित धाराप्रवाह रूप से अष्टाध्यायी को कण्ठ करने पर भी वृत्ति सहित लघुकौमुदी के सूत्र (उन सूत्रों का अर्थ बिना समझे ही) रटते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं । ओहो ! कैसी यह अनर्थपरम्परा प्रचलित हो गई !!! अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लेने पर भी आधुनिक व्याकरण बालकों को व्याकरण का अध्ययन लघुकौमुदी के बिना नहीं करा सकते, यह कितनी अनिर्वचनीय ग्रन्थ परम्परा है । यह देश का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है ?

भट्टोजिदीक्षित महोदय का समय संवत् १५१०-१५७५ तक है इससे पूर्व अष्टाध्यायी से ही पठन-पाठन का प्रचार था, इसमें कुछ भी शङ्का का स्थान नहीं है । क्योंकि चीन देश का यात्री इत्सिङ्ग भारत में कई वर्षों तक (सन् ६८१-६९१ ई०) रहा । अष्टाध्यायी के आधार पर ही संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन है, जैसा कि उसने यहाँ किया, जिसे उसने स्वयं अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है । जैसे कि—

(१) “इस अष्टाध्यायी में १००० श्लोक (४००० सूत्रों का १००० श्लोक बनना है—लेखक) हैं । यह पाणिनि की रचना है, जो प्राचीनकाल में बहुत भारी विद्वान् था.... आजकल के भारतवासियों का प्रायः इसमें विश्वास है । बच्चे दस वर्ष की आयु में इस (पाणिनि) सूत्रपाठ को सीखना आरम्भ करते हैं, और दस मास में इसे कण्ठस्थ करते हैं” ॥

(इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ० २६४)

(२) यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिए जायें तो उन्हें सबसे पहले (व्याकरण के) इस (अष्टाध्यायी) ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है, फिर दूसरे विषय । यदि ऐसा न होगा तो उनका परिश्रम व्यर्थ जायेगा ----- (इत्तिस्झ की भारत यात्रा पृ० २६८) ।

(३) “प्रौढ विद्यार्थी उसे (चूर्णि अर्थात् महाभाष्य को) तीन वर्ष में सीख लेते हैं” । (इत्तिस्झ की भारत यात्रा पृ० २७३) ।

(४) सन् ६११ ई० में इन्द्र वर्मा तृतीय राजा बना, यह इस भृगु वंश का अन्तिम राजा था । इसके ८ लेख मिलते हैं, इनसे पता चलता है कि इन्द्रवर्मा षड्-दर्शन का पण्डित था । काशिका सहित व्याकरण में पारङ्गत था, और बौद्ध-दर्शन का भी अच्छा ज्ञाता था, यह अपने समय का भारी विद्वान् था” (चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार कृत बृहत्तर भारत पृ० ३४२) । यह चम्पादेश का (इस समय इस की ‘अनाम’ संज्ञा है) राजा था । यह देश हिन्द चीन द्वीप में है, इससे यह सिद्ध होता है, कि बौद्ध भी अष्टाध्यायी पद्धति से ही व्याकरण पढ़ते थे ॥

पहिले के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि इत्तिस्झ (६८१-६९१ ई०) के काल में इन्द्रवर्मा के राज्य के समय भी अष्टाध्यायी से अध्ययन, न केवल भारतवर्ष में ही था, अपितु भारत से बाहर चम्पा देश में (अनाम देश में) भी विस्तृत था । कालक्रम से ही इस अष्टाध्यायी का इतना लोप हो गया, कि अष्टाध्यायी से भी व्याकरण का ज्ञान सम्भव है इसमें विद्वान् लोग भी सन्देह करते हुए देखे जाते हैं, फिर छात्रों की तो बात ही क्या ।

प्रक्रिया क्रम का आरम्भ

इत्तिस्झ के समय में (सन् ६८१-६९१ ई०) अष्टाध्यायी पठन-पाठन का क्रम था ऐसा हम सप्रमाण पूर्व कह चुके हैं, वह क्रम कैसे लुप्त हो गया? उस क्रम में अरुचि का क्या कारण है, प्रक्रिया क्रम में लोगों की प्रवृत्ति का क्या हेतु रहा? इन सब बातों को मन में रखकर यहाँ हम कुछ लिखते हैं—

अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, धातुपाठ, उणादिपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन यह सब पञ्चपाठी के नाम से कहा जाता है ऐसा सभी जानते हैं । यह सारा पढ़ने के पश्चात् ही अष्टाध्यायी का पढ़ना हुआ ऐसा माना जाता है । वृद्धिरादेच् यह सूत्र पढ़ता हुआ छात्र इस सूत्र का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण आदि सब कुछ पढ़ते हुए तथा उदाहरणों की (शालीयः, भागः, नायकः, अचैषीत्, अलावीत्, माष्टि इत्यादियों

की) सिद्धि सब सूत्रों के द्वारा अष्टाध्यायी पद्धति से करता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी धातु पाठ का भी ठीक-ठीक अभ्यास करके प्रथमावृत्ति में ही (उदाहरणों की सिद्धि करते हुए) सब छात्र तिङन्त प्रक्रिया, सुबन्त प्रक्रिया, कृदन्त प्रक्रिया एवं तद्धित समास प्रक्रिया भी प्रक्रिया ग्रन्थ के आश्रयण के बिना ही समझ लेते थे। सब धातुओं के सब लकारों में तथा सब प्रक्रियाओं में एक-एक प्रयोग सूत्रों के साथ-साथ सिद्ध करते हुए प्रक्रिया ग्रन्थों के न होने पर भी वे छात्र किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं करते थे। यह क्रम उस समय सर्वसाधारण में प्रचलित था। प्रक्रिया ग्रन्थों के निर्माण का उस समय प्रश्न ही नहीं उठता था। किन्तु काल के प्रभाव से जब आलस्यवशात् अध्यापक लोग इस रीति से छात्रों को पढ़ाने में अधिक कष्ट का अनुभव करते हुए शिथिलता को प्राप्त हो गये तब वे प्रयोग साधन के समय में लिखाई हुई उन्हीं प्रयोग सिद्धि की कापियों को ग्रन्थ रूप से बनाने लगे तब धीरे-धीरे अष्टाध्यायी के क्रम से प्रयोग सिद्धि की प्रक्रिया शिथिलता को प्राप्त हो गई प्रक्रिया ग्रन्थों का आश्रयण ही उत्तरोत्तर बढ़ता गया। किन्तु उस समय भी यह तो था ही कि अष्टाध्यायी अभ्यास करके उस क्रम के अनुसार ही सूत्रार्थ को जानकर प्रयोग सिद्धि करते थे। प्रक्रिया ग्रन्थों के रूप में परिणत सिद्धान्तकौमुदी से पूर्ववर्ती रूप-वतार, प्रक्रियारूपमाला, प्रक्रियाकौमुदी आदियों का तथा प्रक्रियासर्वस्व आदियों का भी आश्रयण अष्टाध्यायी पढ़ते समय लिखी गई प्रयोग सिद्धि की कापियों के रूप में पढ़ने वाले करते थे, प्रक्रिया ग्रन्थों के अलग निर्माण की आवश्यकता ही नहीं थी। अष्टाध्यायी का आश्रयण उस समय अनिवार्य था कि जिस प्रकार आज भी कुछ काल पहले तक काशी के महाविद्वान् तात्या शास्त्री इत्यादि भी “आज मैंने समयाभाव से अष्टाध्यायी की आवृत्ति नहीं की” ऐसा अपने छात्रों से कहते थे।

प्रक्रिया ग्रन्थों के बन जाने पर भी यदि अष्टाध्यायी सूत्रपाठ का त्याग न होता तो भी अष्टाध्यायी उपस्थित (कण्ठ) होने से साधारण बुद्धि के छात्रों के लिये प्रक्रिया ग्रन्थों से भी कुछ सुगमता हो जाती (यदि मूल को त्याग कर शाखाओं में न चले जाते)। इस प्रकार अष्टाध्यायी सूत्रक्रम पाठ का आश्रयण करके प्रक्रिया ग्रन्थों का अभ्यास बहुत काल तक प्रचलित रहा। तत्पश्चात् प्रमाद से अष्टाध्यायी सूत्रक्रम पाठ का भी लोप हो गया, केवल प्रक्रिया ग्रन्थों के पठन-पाठन का क्रम ही सर्वत्र प्रचलित हो गया। तभी से इन प्रक्रिया-कौमुदी सिद्धान्त-कौमुदी आदियों की उत्पत्ति एवं व्यापकता हो गई। इसी समय के बीच में ही एक के ऊपर एक प्रक्रिया ग्रन्थ का बनना प्रारम्भ हो गया। अब प्रक्रिया ग्रन्थों की उत्पत्ति के विषय में भी यहाँ कुछ लिखते हैं—

प्रक्रिया ग्रन्थों का इतिहास

(१) रूपावतार—(सं० ११४० वि०)

अष्टाध्यायी के ग्रहण में असमर्थ एवं अल्पबुद्धि वालों के लिए व्यावहारिक ज्ञानमात्रार्थ बौद्ध भिक्षु धर्मकीर्ति ने प्रक्रिया-क्रम का सबसे पहला ग्रन्थ 'रूपावतार' अष्टाध्यायी के सूत्रों द्वारा रचा। इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी-क्रम को छोड़कर केवल प्रयोग-सिद्धि को ध्यान में रख के संज्ञा, सन्धि, सुबन्त, अव्यय, स्त्री-प्रत्यय, कारक, समास तथा तद्धितप्रकरण प्रथम भाग में रखा। दश लकार दश प्रक्रिया तथा कृदन्त दूसरे भाग में रखा (स्वर-वैदिक प्रकरण को छोड़कर)। इस प्रकार २६६४ सूत्र प्रक्रिया-क्रम से व्याख्यात किये। प्रक्रिया-ग्रन्थों की उत्पत्ति बौद्ध-काल में ही हुई, यह भी जानना चाहिए।

(२) प्रक्रिया-कौमुदी—(सं० १४८० वि०)

यद्यपि 'प्रक्रिया-रत्न' तथा 'रूपमाला' ये ग्रन्थ रूपावतार के पश्चात् रचे गये, तो भी उनके अनुपलब्ध होने से प्रक्रिया-कौमुदी के विषय में ही यहाँ कहते हैं। स्वर-वैदिक प्रकरण को भी मिला कर २४७० सूत्रों का व्याख्यान-रूप प्रक्रिया-कौमुदी नामक यह ग्रन्थ सूत्रों का कुछ विस्तार से व्याख्यान करते हुए रामचन्द्र आचार्य के द्वारा रूपावतार के पश्चात् बनाया गया। उसके द्वारा प्रक्रिया क्रम का विस्तार तथा प्रचार प्रचुर रूप में हुआ। यह ग्रन्थ सिद्धान्त-कौमुदी का आधार-रूप है, ऐसा मानना पड़ेगा।

(३) सिद्धान्त-कौमुदी—(सं० १११०-१५७५ वि०)

भट्टोजीदीक्षित महोदय ने अष्टाध्यायी क्रम को छोड़कर पूर्व-प्रचलित प्रक्रिया-कौमुदी के क्रम को आश्रयण कर सिद्धान्त-कौमुदी नामक ग्रन्थ रचा। उसमें प्रायः सभी सूत्र (३६७८) व्याख्यात हैं। उन्होंने यह प्रयत्न किया कि मेरा बनाया हुआ यह सिद्धान्त-कौमुदी नामक ग्रन्थ ही सर्वत्र प्रचलित हो, व्याकरण के विषय में सिद्धान्त-कौमुदी को छोड़कर किसी भी अन्य ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन न चले। यह छात्रों के लिए कितना महान् कष्टदायक होगा, यह नहीं सोचा। उसी का यह फल है कि संस्कृत पढ़ने वाले बारह वर्ष व्याकरण पढ़ कर भी व्याकरण रूपी समुद्र से पार नहीं पाते, अन्य शास्त्रों के विषय में तो क्या कहना? तो भी "द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते" अर्थात् "बारह वर्ष में व्याकरण का ज्ञान हो पाता है", यह श्रुति मात्र है, बारह वर्ष में भी ज्ञान हो पाता है कि नहीं, इसमें तो सन्देह ही है।

(४) मध्य-कौमुदी—

पर्वत के समान स्थापित सिद्धान्त-कौमुदी 'छात्रों के लिए अतीव दुःखदायी, दुरूह, अतीव परिश्रम-साध्य एवं अति काल की अपेक्षा रखनेवाली है' ऐसा वरदराज ने जब अनुभव किया तब उन्होंने २११७ सूत्रों की व्याख्या करते हुए मध्यकौमुदी की रचना की। मध्यकौमुदी का निर्माण ही सिद्धान्त-कौमुदी की असफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है, नहीं तो क्या आवश्यकता थी कि मध्यकौमुदी बनाई जाती? इस प्रकार पर्वत से तराई पर संस्कृत के अध्ययन की पद्धति पहुंच गई। यह स्पष्ट है।

(५) लघु-कौमुदी—

जब इस मध्यम मार्ग से भी संतोष नहीं हुआ, तब उससे भी लघुतर मार्ग की इच्छा करके उन्होंने वरदराज ने अपने पूर्व-निर्मित मध्य-कौमुदी से असंतुष्ट होकर ११८८ सूत्रों की व्याख्या करते हुए लघुकौमुदी की रचना की तब पर्वत से तराई एवं तराई से नीची भूमि में व्याकरण का पठन-पाठन क्रम पहुंच गया। यदि सिद्धान्त-कौमुदी कठिन न होती, तो मध्यकौमुदी, लघुकौमुदी नामक ग्रन्थों का निर्माण कभी न होता यह स्पष्ट है। उनका निर्माण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सिद्धान्त-कौमुदी के क्रम से अध्ययन सुकर नहीं है, इसमें सन्देह नहीं।

अष्टाध्यायी का क्रम पुनः प्रादुर्भूत हुआ

“वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता” (अथर्व) —

जिस प्रकार यह पृथ्वी गोल है, “उसमें जहाँ से चलना आरम्भ करें, वहीं पुनः लौट करके आ जाते हैं” यह जनश्रुति है तथा तथ्य भी है, उसी प्रकार इस अष्टाध्यायी का क्रम आज स्वतन्त्र भारत में फिर से प्रादुर्भूत हो रहा है।

व्याकरण के पढ़नेवाले मूल से (अष्टाध्यायी-प्रक्रिया से) अत्यन्त दूर हट गये थे, यह हमने पहले प्रतिपादित किया है। जिस वृक्ष का जड़ से सम्बन्ध हट जाता है, काल-क्रम से स्वयं ही उस वृक्ष के पत्ते तथा फूलों के नाश को रोकना दुर्निवार है, इसलिये फिर से मूल का आश्रयण करने से ही कल्याण संभव है, इसमें विद्वान् ही प्रमाण हैं। इस प्रकार इस समय अष्टाध्यायीपद्धति का आश्रयण संस्कृत पढ़ने वालों वा भारतीयों के लिए कल्याणकर, श्रेयस्कर तथा साधक होगा, ऐसी आशा की जाती है।

दूसरों के द्वारा सुनी हुई यह बात नहीं है, अपितु स्वानुभूत है। वह अनुभव इस समय अपने मित्रों के आग्रह से आदरणीय विद्वानों व्याकरण पढ़ने वालों तथा व्याकरण जानने की इच्छा रखने वालों के समक्ष प्रकाशित किया जाता है।

व्याकरण की सरलता का स्वानुभव

(१) संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ दो-तीन कन्याओं की अष्टाध्यायी मूल सूत्रों को कण्ठस्थ किये बिना ही, अष्टाध्यायी-क्रम से पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण, सिद्धि (सब सूत्रों से) इत्यादि करते हुए व्याकरण में इतनी प्रगति हो गई कि अष्टाध्यायी क्रम से ही उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय की विशारद परीक्षा दश महीने में उत्तीर्ण कर ली। इस परीक्षा में व्याकरण के साथ-साथ संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ, दर्शन, धर्म-शास्त्र, भगवद्गीता, संस्कृत अनुवाद तथा निबन्ध इत्यादि विषयों में भी योग्यता प्राप्त करनी होती है। उन्हीं कन्याओं ने विशारद परीक्षा के पश्चात् सात महीने में ही पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा भी उत्तीर्ण की। शास्त्री परीक्षा में भी वेद, निरुक्त, संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ, महाभाष्य, सांख्य-योग दर्शन (भाष्य-सहित) अनुवाद तथा निबन्ध इतने विषय होते हैं। “सत्रह महीने में (डेढ़ साल में) ही संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ कन्यायें विशारद तथा शास्त्री परीक्षा में उत्तीर्ण हो गईं” यह सुनकर सामान्य लोग तो विश्वास भी नहीं करते तथा विशिष्ट लोग आश्चर्य चकित एवं विस्मित होते हैं, पर आजकल भी यह सब कुछ मर्मज्ञ विद्वान् लोग देख सकते हैं ॥

(२) दूसरे बी० ए०, एल्-एल्० बी० उपाधि-धारी इञ्जीनियर पैंतीस चालीस वर्ष के प्रौढ़, संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ सज्जनों को भी सात दिन में ही पठति, शालीयः, पुरुषः इन उदाहरणों की पूर्वापर के सूत्रों का निर्देश करते हुए अष्टाध्यायी के सूत्रों से सिद्धि करते हुए (वह भी बिना रटे हुए) देखा जा सकता है।

(३) तीसरे एफ० ए० के परीक्षार्थी ने भी सवा दो मास में अष्टाध्यायी के क्रम से अष्टाध्यायी के सूत्रों को बिना याद किये ही केवल समझकर ६०० सूत्र पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण और सिद्धि सहित ठीक-ठीक पढ़ लिये। उसने “स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ” इत्यादि कठिनतम प्रकरणों तथा अन्य प्रकरणों के कठिनतम सूत्रों की व्याख्या, एवं उदाहरणों की सिद्धि (प्रत्येक में ५०-६० सूत्रों के द्वारा) ठीक-ठीक समझकर (बिना रटे हुए) काशी के व्याकरण विद्वत्समाज में एवं अन्यो के सामने भी प्रदर्शित किया। जिससे वे सभी विद्वान् आश्चर्यचकित हो गये। इसलिए हम कहते हैं कि ‘अष्टाध्यायी ही व्याकरण ज्ञान का परमसाधन है’ ॥

संस्कृत के अध्ययन से लोग भाग क्यों जाते हैं ?

व्याकरण के बिना संस्कृत भाषा में अधिकार एवं सम्यक् प्रवेश नहीं होता, यह हमारा सिद्धान्त है, किन्तु वही व्याकरण आजकल दुरूह बिना समझे रटने के

कारण संस्कृत पढ़ने वालों के मार्ग में सुदृढ़ पाषाण के रूप में अवरोधक बन गया है। जब तक इसकी रुकावट नहीं हटायी जायेगी, अर्थात् सरल नहीं किया जायेगा तब तक इस देववाणी का पुनरुद्धार सम्भव नहीं, यह भी निश्चित है। जो कोई अपने आप या अन्यो की प्रेरणा के द्वारा धर्म, देश भक्ति की भावना से संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं, वे भी पूर्वोक्त अर्थ रहित घोखन की दुरूहता को देखकर संस्कृत के अध्ययन से हताश होकर जहाँ-तहाँ सब जगह भागते हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार के अध्ययन से पराङ्मुख हुए, एवं भागे हुए भुक्तभोगियों की संख्या न जाने भारत में कितने लाख होगी। न केवल उनके द्वारा (स्कूल कालेज आदि में पढ़ने वाले बी. ए., एम. ए. उपाधिधारियों एवं आर्य भाषा के विशेषज्ञों द्वारा) संस्कृत का अध्ययन छोड़ दिया जाता है, अपितु आगे उनकी सन्तानों का भी संस्कृत अध्ययन का मार्ग रुक जाता है। इस प्रकार के लोग अपनी सन्तानों को ऐसा उपदेश देते हुए देखे जाते हैं—“पुत्र” मैंने बाल्यकाल में संस्कृत का अध्ययन आरम्भ किया था किन्तु संस्कृत अध्ययन अति क्लिष्ट, महा कष्टसाध्य, दुरूह एवं बिना अर्थ जाने घोखने की विद्या है, ऐसा समझ कर चाहते हुए भी मैंने उसे छोड़ दिया। तुम भी इसमें समय एवं शक्ति का नाश मत करो”। इस प्रकार के प्रवाद से संस्कृत का अध्ययन देश से लुप्तप्राय ही हो गया। जो कोई उत्कृष्ट मेधा वाले हैं, उन्हें अंग्रेज पहले मक्खन के समान इकट्ठा करके इङ्ग्लैण्ड आदि देशों में उपाधि का लोभ प्रदर्शन करके बड़ी-बड़ी छात्रवृत्तियाँ देकर, विदेशी वेश-भूषा एवं भावना से युक्त करके अन्त में बड़े-बड़े वेतन देकर राजकीय कार्य में लगा देते रहे और दुर्भाग्य से अभी तक वही प्रक्रिया चल रही है जिससे वे स्वयं भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं संस्कृत-साहित्य से पराङ्मुख हो जाते हैं। जो भिक्षु-वृत्ति के साधारण बुद्धि वाले देश एवं संसार के भूत, भविष्यत् वर्तमान विषय से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, वह प्रायः करके शेष बचे हुए फोक के समान देखे जाते हैं। वे संस्कृत के अध्ययन में अपनी कर्तव्य-बुद्धि से नहीं प्रवृत्त होते, वरन् धनाभाव ही उनकी प्रवृत्ति का हेतु है। इस प्रकार की विषम समस्या में किस प्रकार संस्कृत का अम्मुदय हो, यह बात विद्वानों के द्वारा विचारणीय है।

व्याकरण के अध्ययन का अतीव सरल उपाय

व्याकरण का अध्ययन जब अनिवार्य था तथा बिना इसके संस्कृत साहित्य में प्रवेश संभव नहीं, यह हम पहले कड़ चुके हैं। ऐसी अवस्था में “व्याकरण के अध्ययन का कोई सरल उपाय हो” ऐसा विचार उत्पन्न होने पर हम एक ही मूल तत्त्व बताते हैं—

“अष्टाध्यायी-क्रम से अध्ययन ही इसके पुनरुद्धार का सबसे बड़ा औषध है”।

बहुत काल के पश्चात् इस बीसवीं शताब्दी में अष्टाध्यायी क्रम के पुनरुद्धार में पहला प्रयास श्रीमत् परमहंस परिव्राजक आचार्य परम विद्वान् विरजानन्द सरस्वती स्वामी ने किया। इस के पश्चात् उनके शिष्य श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद् दयानन्द सरस्वती स्वामी की ही कृपा है कि हम इस समय अष्टाध्यायी पठन-पाठन के क्रम के विषय में कुछ कहने में समर्थ हो रहे हैं।

अष्टाध्यायी-क्रम का वैशिष्ट्य

(१) इसमें क्या रहस्य है, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं :—

मूल अष्टाध्यायी ग्रन्थ का अभ्यास ही इसमें रहस्य है और कुछ नहीं। “आद्-गुणः” (६।१।८४) यह सूत्र हम इस प्रकार पढ़ाते हैं :—

‘आत्’ ५।१ (पंचमी का एक वचन), ‘गुणः’ १।१ (प्रथमा का एकवचन)। ऊपर से ‘एकः पूर्वपरयोः’ (६।१।८१), ‘इको यणचि’ (६।१।७४), ‘संहितायाम्’ (६।१।७०) इन सूत्रों से ‘एकः’, ‘पूर्वपरयोः’, ‘अचि’, ‘संहितायाम्’ इन पदों की अनुवृत्ति आ रही है। यहां बाह्य शब्द के अध्याहार के बिना भी सूत्र का अर्थ इस प्रकार हो जाता है—

‘आत् अचि संहितायां पूर्वपरयोः गुणः एकः’। आगे ‘स्यात्’, ‘भवेत्’ ‘भविष्यति’ ‘भवति’, ‘वर्तते’, ‘संपद्यते’, ‘जायते’ इनमें से किसी भी क्रिया पद का अध्याहार कर सकते हैं, इसमें कोई विवाद नहीं। सूत्र में ही सूत्र का अर्थ है, यह रहस्य है। वह अर्थ छात्रों को (चाहे वे बालक हों या प्रौढ़) सूत्र से ही जनाना चाहिए। मूल अष्टाध्यायी की पुस्तक ही छात्र के लिए यह सब कुछ प्रदर्शित करती है, एवं जनाती है। सूत्रों के छोखे बिना भी छात्र इस प्रकार प्रदर्शित किया हुआ सूत्रार्थ शीघ्र ही समझ लेते हैं। पढ़ाने के समय अध्यापक के द्वारा बार-बार सूत्रार्थ की आवृत्ति कर देने पर वह अर्थ स्वयं ही छात्र के हृदय में स्थित हो जाता है। रटने का कोई काम नहीं पड़ता। पुनः पुनः आवृत्ति करने में अध्यापक को परिश्रम पड़ता है, न कि छात्र को। अन्त में वह छात्र सूत्र तथा उसका अर्थ ठीक-ठीक समझ कर अपनी स्मृति में बिठा लेता है। यह प्रत्यक्ष दर्शन का विषय है। यही बात सामान्य जन को रहस्य प्रतीत होती है।

(२) लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी, प्रक्रियाकौमुदी वाले कौमुदी-परिवारों के छात्र रटते हुए जीवन भर इसको समझ नहीं पाते कि सूत्र का अर्थ यह कैसे बन गया। व्याकरणाचार्य हो जाने पर भी अनुवृत्ति के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ ही प्रायः सर्वत्र देखे जाते हैं। सूत्रों का कंठस्थ किया हुआ अर्थ (चौगुना १६ हजार) देर तक स्मृति में चाहते या न चाहते हुए भी नहीं रह सकता यह

स्वाभाविक बात है। ठीक-ठीक बिना जाना हुआ संबन्ध के ज्ञान से रहित अर्थ कैसे स्मृति-पथ में चिरस्थायी हो वा स्थित हो सके यह सर्वमान्य अनुभूति है, जो सब जगह देखी जा सकती है वा दिखाई देती है।

(३) अष्टाध्यायी-क्रम में यह भी विशेष है :— प्रौढ़ छात्र अष्टाध्यायी के सूत्रों को बिना रटे पहले अध्यापक के द्वारा पढ़ने के समय बुद्धि में बिठा लेते हैं, आगे बार-बार उन सूत्रों का प्रयोग-सिद्धि के समय अध्यापक के द्वारा अभ्यास हो जाता है। उसके पश्चात् वे सूत्र एवं उनका अर्थ स्वयमेव बुद्धि में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार जो-जो सूत्र समझ लिए जाते हैं इनके नीचे लाल चिह्न लगवा दिये जाते हैं। अथवा लगवा देना चाहिये जिससे समझे हुए सूत्रों का ज्ञान अनायास ही उनको हो जाता है। अपने अभ्यस्त चिह्नित सूत्रों को देखने से प्रौढ़ छात्रों के अध्ययन का उत्साह भी खूब बढ़ जाता है। यह भी रहस्य अष्टाध्यायी-पद्धति का है और पद्धतियों में यह संभव नहीं, न उस प्रकार ज्ञान होता है। यह विषय हमारा प्रत्यक्ष किया हुआ है न कि सुना हुआ।

(४) अष्टाध्यायी में सब प्रकरण वैज्ञानिक रीति से सुसंबद्ध हैं, इसलिए उन-उन प्रकरणों का ज्ञान अनायास ही हो जाता है, जैसे कि सर्वनाम, इत् संज्ञा, आत्मने-पद, परस्मैपद, कारक, विभक्ति, समास, द्विवचन, संहिता, सेट्, अनिट् प्रकरणों के सूत्र परस्पर सुसंबद्ध हैं। अतः उनके अर्थ जानने में छात्रों को कोई बाधा नहीं होती। यदि किसी छात्र को इट् या द्विवचन विषय में शंका होती है, तो उसको अष्टाध्यायी-क्रम से पढ़ा हुआ छात्र दो-तीन मिनट में ही उग प्रकरण के समस्त सूत्रों का पाठ करके निःशंक हो जाता है। कौमुदी-क्रम से पढ़ा हुआ छात्र तो कठिनाई एवं परिश्रम में भी अच्छी तरह सूत्रार्थ के बनने में हेतु नहीं बता सकता एवं निस्संदिग्ध नहीं होता। कैसे? उस क्रम में तो सूत्र भिन्न-भिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए हैं। भिन्न-भिन्न प्रकरणों में पठित सूत्रों का परस्पर ज्ञान कैसे हो सकता है?

(५) अष्टाध्यायी में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२), 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२), 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१)। इत्यादि अधिकार सूत्रों के कार्य में सूत्र-क्रम का ज्ञान अत्यधिक आवश्यक ही नहीं, किंतु अनिवार्यतया अपेक्षित है। सूत्रपाठ के क्रम के ज्ञान के बिना 'पूर्व' 'परं' 'आभात्' 'त्रिपादी' 'सपाद सप्ताध्यायी', 'बाध्य-बाधकभाव', इत्यादि का ज्ञान पढ़ने वालों एवं पढ़ाने वालों को भी कभी संभव नहीं है। सिद्धान्त-कौमुदी प्रक्रिया-क्रम से पढ़े हुए छात्रों को सूत्र-पाठ के क्रम के ज्ञान न होने से महाभाष्य पूर्णतया बुद्धि में नहीं बैठता। प्रत्येक पद एवं प्रत्येक सूत्र में वे बहुत कष्ट का अनुभव करते हैं, यह स्वाभाविक भी है यह हम अपना प्रत्यक्ष किया हुआ अनुभव ही यहां प्रतिपादन करते हैं।

(६) सिद्धान्त-कौमुदी के क्रम से पढ़ा हुआ व्याकरण छात्रों की स्मृति से शीघ्र लुप्त हो जाता है। बार-बार घोखने पर भी शीघ्र विस्मृत होता है। सभी प्रकरण रहित पढ़नेवाले छात्रों के स्वानुभव ही इसमें प्रमाण हैं। इसमें किसी के कहने की कुछ बात नहीं।

(७) अष्टाध्यायी-क्रम में सूत्रों की प्राप्ति सामान्यतया समझ में आ जाती है। सिद्धान्त-कौमुदी क्रम में तो जो सूत्र जहाँ उल्लिखित है, वहीं उसकी प्राप्ति बुद्धि में बैठती है किन्तु अन्यत्र उस सूत्र की प्राप्ति छात्र के मस्तिष्क में सुगमता से नहीं बैठती। एक उदाहरण में प्रयुक्त सूत्र का तत्सदृश अन्य उदाहरण में प्रयोग करने में आधुनिक प्रक्रिया से पढ़े हुए छात्र सर्वथा डरते हैं। 'उपेन्द्रः' इस प्रयोग या उदाहरण में प्रयुक्त 'आद्गुणः' सूत्र का प्रयोग 'दिनेशः' इस उदाहरण या प्रयोग में करते हुए छात्र बहुधा डरते देखे जाते हैं।

(८) लेट् में रूप स्वर-वैदिक प्रकरणों का अर्थोदाहरण, उनकी सिद्धि भी अष्टाध्यायीक्रम में आरम्भ से ही 'वृद्धिरादेच्' इस सूत्र के उदाहरण की सिद्धि में ही छात्र जान लेते हैं। सिद्धान्त-कौमुदी-क्रम में तो ग्रन्थ के अन्त में (स्वर-वैदिक प्रकरण) होने से आजीवन भी उसमें यत्न नहीं करते, क्योंकि वह प्रकरण उपेक्षित कर दिया गया है, अतः उस प्रकरण में कैसे गति हो ! यह सर्वसम्मत अनुभव है। अन्य भी बहुत सारे दोष सिद्धान्त-कौमुदी प्रक्रिया से व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन करने में हैं ? यहाँ हम विस्तार-भय से इतना ही लिखते हैं।

अष्टाध्यायी-क्रम से अध्ययन में जो गुण हैं, वे जो संपूर्ण अष्टाध्यायी पहले कंठ करके पढ़ते हैं, उनके लिए ही उपकारी होते हैं, वहाँ महाभाष्य अध्ययन पर्यन्त अष्टाध्यायी-सूत्रों के पारायण की आवश्यकता होती है। जिनको अष्टाध्यायी कंठ नहीं होती और वे अष्टाध्यायी का पठन आरम्भ करते हैं, वे तो उसके गुणों से वंचित रह जाते हैं। इसलिए अष्टाध्यायी क्रम के ज्ञान के बिना वे महाभाष्य के पढ़ने में महान् कष्ट का अनुभव करते हैं। इस प्रकार महाभाष्य का आद्यन्त अध्ययन करने वालों का सबसे पहले अष्टाध्यायी कंठ करना अनिवार्य है। जो प्रौढ़ पठनार्थी लघुकौमुदी या मध्यकौमुदी पढ़ते हैं (जहाँ कि उनका घोखने में महान् परिश्रम एवं समय व्यर्थ जाता है) उनके लिए भी अष्टाध्यायी-क्रम मात्र से अष्टाध्यायी-सूत्र-पाठ के कंठ किये बिना भी उतना ज्ञान (केवल सूत्रार्थ एवं प्रयोग-सिद्धि मात्र) छः महीने में ही हो जाता है, जितना उन लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी से दो-तीन साल में भी संभव नहीं। समय एवं परिश्रम का महान् लाभ अष्टाध्यायी-क्रम का ही महान् वैशिष्ट्य है।

इसलिए "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय"—'छुटकारे का और कोई रास्ता नहीं'—अष्टाध्यायी से ही यह सब संभव है, अन्य किसी प्रकार से भी नहीं, यह हम बार-बार कहते हैं।

निवेदक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

सम्मति

मुझे यह कहते हुए बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि आदरणीय श्री पंडित ब्रह्मादत्त जी जिज्ञासु महोदय ने पाणिनि महर्षि विरचित अष्टाध्यायी के सूत्रों की एक सरल सुबोध व्याख्या तैयार की है। मैं ऐसा मानता था कि छोटे बालकों को सूत्रबद्ध व्याकरण पढ़ाना कुछ ल्किष्ट है, परन्तु श्री जिज्ञासु जी महोदय ने बड़े प्रयत्न से सूत्रबद्ध व्याकरण को समझने की ऐसी पद्धति निकाली, जो वास्तव में सबसे प्राचीन है और जो संस्कृत व्याकरण को कम समय में सुचारु रूप से हृदय-गम कराने में पूर्ण सहयोगी है। आपने न केवल इस प्रक्रिया को सिद्धांत रूप में ही सामने रक्खा अपितु इसका एक ऐसा प्रायोगिक रूप भी उपस्थित कर दिया जिसको देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। छोटे-छोटे बालकों को तथा प्रौढ़ों को भी आपने इस पद्धति से पढ़ा कर सूत्रों का अर्थ करने तथा उनका प्रयोग करने में प्रवीण बना दिया। अब आपने उसे ग्रन्थ रूप में भी लिखकर प्रकाशित करा दिया है। इस पुस्तक में जहाँ-जहाँ जिस सूत्र से पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में अनुवृत्ति है, उसको पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया गया है और स्थान-स्थान पर उदाहरणों में भी घटा दिया गया है। मैं समझता हूँ कि यह पुस्तक सभी प्रकार के विद्यार्थियों को परम लाभदायक होगी। इस भगीरथ प्रयत्न के लिए श्री जिज्ञासु जी महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं चाहता हूँ कि यह पद्धति निरन्तर बढ़े और जनता में संस्कृत भाषा का प्रचार करने में सहायक सिद्ध हो।

धर्मसंघ
दुर्गाकुंड, वाराणसी
११ दिसम्बर, १९६४

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी
वाचस्पति, साहित्यवाचस्पति
संमानित प्राध्यापक
वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रयुक्त सङ्केत सूची ।

स० = समास

अनु० = अनुवृत्ति

उदा० = उदाहरण

वा० = वार्त्तिक

भा० वा० = भाष्य वार्त्तिक

म० भा० = महाभाष्य

परि० = परिशिष्ट

प्रमाण सङ्केत सूची ॥

ऋ० = ऋग्वेद

ऋ० खिल० = ऋग्वेद खिलपाठ

य० = यजुर्वेद

सा० = सामवेद

अथ० = अथर्ववेद

तै० सं० = तैत्तिरीय संहिता

का० सं० = काठक संहिता

मै० सं० = मैत्रायणी संहिता

श० = शतपथ ब्राह्मण

ऐ० = ऐतरेय ब्राह्मण

कौषी० = कौषीतकी ब्राह्मण

तै० = तैत्तिरीय ब्राह्मण

ऐ० शा० = ऐतरेय श्रारण्यक

तै० शा० = तैत्तिरीय श्रारण्यक

श्रा० श्रौ० = श्राववलायन श्रौत सूत्र

नि० = निरुक्त

द० भा० = दशानन्द भाष्य

अ० भा० = अष्टाध्यायी भाष्य अजमेर

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

अध्याय १-३

॥ ओ३म् ॥

अष्टाध्यायी (भाष्य) प्रथमावृत्तिः

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।

यद् भद्रं तन्न आसुव ॥ यजु० ३०।३॥

अथ शब्दानुशासनम् ॥

अथ अव्ययपदम् ॥ शब्दानुशासनम् १।१ ॥ समासः—शब्दानाम् अनुशासनम् शब्दानुशासनम्, षष्ठीतत्पुरुषसमासः ॥ अत्र कर्मणि षष्ठी ॥ अर्थः—अथ इत्यय-
मधिकारार्थः प्रयुज्यते । शब्दानुशासनम् = व्याकरणशास्त्रम् आरभ्यत इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—इस सूत्र में 'अथ' शब्द अधिकार के लिये है । यहां से लौकिक (लोक में प्रयुक्त) तथा वैदिक (वेद में प्रयुक्त) शब्दों का अनुशासन, उपदेश (अर्थात् व्याकरण) का आरम्भ करते हैं । यहां से व्याकरणशास्त्र का अधिकार चलता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

[अथ प्रत्याहारसूत्राणि]

अइउण् ॥१॥

अ, इ, उ इत्येतान् वर्णानुपदिश्यान्ते णकारमितं करोति (पाणिनिराचार्यः)
प्रत्याहारार्थम् । स णकार एकेन आदिना अकारेण गृह्यते उरण्रपरः (१।१।५०)
इत्यादिषु सूत्रेषु । अकारोऽत्र विवृतः प्रतिज्ञायते सावर्ण्यार्थम् ॥

भाषार्थः—'अ, इ, उ' इन तीन वर्णों का उपदेश करके, अन्त में (आचार्य पाणिनि ने) इत्संज्ञक (१।३।३) णकार रखा है । इससे आदि अकार के साथ एक 'अण्' प्रत्याहार सिद्ध होता है, जिसका ग्रहण उरण्रपरः (१।१।५०) इत्यादि सूत्रों में होता है ॥ प्रयोग में अकार संवृत प्रयत्नवाला है, परन्तु यहां अकार को विवृत माना गया है, जिससे वह आकार का सवर्ण सिद्ध हो जाता है ॥

विशेष—‘प्रत्याहार’ संक्षेप करने को कहते हैं। जैसे अण् कहने से अ, इ, उ तीन वर्णों का ग्रहण होता है, अच् कहने से अ से च तक सब स्वरों का। हल् कहने से सारे व्यञ्जनों का ॥

ऋलृक् ॥२॥

ऋ, लृ इत्येतौ वर्णविपदिश्य पूर्वाश्चान्ते ककारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिः अ-इ-उ इत्येतैः । अक्—अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।६७) । इक्=इको गुणवृद्धी (१।१।३) । उक्—उगितश्च (४।१।६) ॥

भाषार्थः—ऋ, लृ इन वर्णों का उपदेश करके, अन्त में ककार इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे ३ प्रत्याहार बनते हैं—अक्, इक् उक् । कहां-कहां बनते हैं, सो ऊपर संस्कृत में दिखा दिये हैं ॥

एओङ् ॥३॥

ए, ओ इत्येतौ वर्णविपदिश्य पूर्वाश्चान्ते ङकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन एङि पररूपम् (६।१।६१) इत्यकारेण ॥

भाषार्थः—ए, ओ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में ङ इत्संज्ञक रखा है । इससे एक एङ् प्रत्याहार बनता है ॥

ऐऔच् ॥४॥

ऐ, औ इत्येतौ वर्णविपदिश्य पूर्वाश्चान्ते चकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भिः अ-इ-ए-ऐ इत्येतैः । अच्—अचोन्त्यादि टि (१।१।६३) । इच्—इच एकाचोम्प्रत्ययवच्च (६।३।६६) । एच्—एचोयवायावः (६।१।७५) । ऐच्—वृद्धिरावेच् (१।१।१) ॥

भाषार्थः—ऐ, औ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में इत्संज्ञक ‘च्’ रखा है । इससे ४ प्रत्याहार बनते हैं—अच्, इच्, एच्, ऐच् ॥

हयवरट् ॥५॥

ह, य, व, र इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते टकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन शश्छोऽटि (८।४।६२) इत्यकारेण ॥

भाषार्थः—ह, य, व, र इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में ट इत्संज्ञक रखा है । इससे एक अट् प्रत्याहार ही बनता है ॥

विदित रहे कि हयवरट् से लेकर हल् सूत्र तक जितने व्यञ्जनों का उपदेश किया है, उन सब में अकार उच्चारणार्थ है । वस्तुतः ये ह् य् इस प्रकार हैं ॥

लण् ॥६॥

ल इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते णकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । अण्—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१११६८) । इण्—इण्कोः (८१३१७) । यण्—इको यणचि (६११७४) ॥

भाषार्थः—ल इस वर्ण का उपदेश करके अन्त में इत्संज्ञक ण् रखा है प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे तीन प्रत्याहार बनते हैं—अण्, इण्, यण् ॥

जामडणनम् ॥७॥

ज, म, ड, ण, न इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते मकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भिः अ-य-ड-ज इत्येतैः । अम्—पुमः खट्वम्परे (८१३१६) । यम्—हलो यमां यमि लोपः (८१४१६३) । डम्—डमो ह्रस्वादिचि डमुण् नित्यम् (८१३३२) । जम्—जमन्ताड्डः (उणा० ११११४) ॥

भाषार्थः—ज, म, ड, ण, न इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में म् इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहारसिद्धि के लिये । इससे चार प्रत्याहार बनते हैं—अम्, यम्, डम्, जम् ॥

भभञ्ज् ॥८॥

भ, भ इति द्वौ वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते ब्रकारमितं करोति प्रत्याहारसिद्धयर्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन अतो दीर्घो यञि (७१३१०१) इति यकारेण ॥

भाषार्थः—भ, भ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में ज् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे एक प्रत्याहार बनता है—यञ् ॥

घढघष् ॥९॥

व, ढ, घ इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते षकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति द्वाभ्यां भ-भ इत्येताभ्याम् । भष्, भष्—एकाचो बशो भष् भषन्तस्य स्त्वोः (८१२१७) ॥

भाषार्थः—घ, ढ, घ इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में ष् इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे दो प्रत्याहार बनते हैं—भष्, भष् ॥

जबगडदश् ॥१०॥

ज, ब, ग, ड, द इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते शकारमितं करोति प्रत्याहारसिद्धयर्थम् । तस्य ग्रहणं भवति षड्भिः अ-ह-व-भ-ज-व इत्येतैः । अश्—भोभगो-

ऽघो अपूर्वस्य योऽशि (८।३।१७) । हश्—हशि च (६।१।११०) । वश्—नेङ्-
वशि कृति (७।२।८) । भश्, जश्—भलां जश् भशि (८।४।५२) । बश्—एकाचो
बशो भष् भषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७) ॥

भाषार्थः—ज, ब, ग, ड, द इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में श् इत्संज्ञक
लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे ६ प्रत्याहार बनते हैं—अश, हश्, वश्,
भश्, जश्, बश् ॥

खफछठथचटतव् ॥११॥

ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते वकारमितं
करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन नष्टव्यप्रशान् (८।३।७) इति
छकारेण ॥

भाषार्थः—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में व्
इत्संज्ञक रखा है, एक प्रत्याहार बनाने के लिये—छव् ॥

कपय् ॥१२॥

क, प इत्येतौ वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते यकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् ।
तस्य ग्रहणं भवति पञ्चभिः य, म, भ, ख, च इत्येतैः । यय्—अनुस्वारस्य ययि पर-
सवर्णः (८।४।५७) । मय्—मय उग्रो वो वा (८।३।३३) । भय्—भयो होऽन्यतरस्याम्
(८।४।६१) खय्—पुमः खय्यम्परे (८।३।६) । चय्—चयो द्वितीयः शरि
पौष्करसादेः (वार्तिक ८।४।४७) ॥

भाषार्थः—क, प इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में य् इत्संज्ञक रखा है,
प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे पांच प्रत्याहार बनते हैं—यय्, मय्, भय्, खय्, चय् ॥

शषसर् ॥१३॥

श, ष, स इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते रेफमितं करोति प्रत्याहारार्थम् ।
तस्य ग्रहणं भवति पञ्चभिः य-भ-ख-च-श इत्येतैः । यर्—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको
वा (८।४।४४) । भर्—भरो भरि सवर्णं (८।४।६४) । खर्—खरि च (८।४।५४) ।
चर्—अभ्यासे चर्च (८।४।५३) । शर्—वा शरि (८।३।३६) ॥

भाषार्थः—श, ष, स इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में र् इत्संज्ञक लगाया है,
प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे पांच प्रत्याहार बनते हैं—यर्, भर्, खर्, चर्, शर् ॥

हल् ॥१४॥

ह इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वाश्चान्ते लकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य
ग्रहणं भवति षड्भिः अ-ह-व-र-भ-श इत्येतैः । अल्—अलोऽन्यात् पूर्व उपधा (१।१।

६४)। हल्—हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७)। वल्—लोपो व्योर्वलि (६।१।६४)।
रल्—रलो व्युपधादलादेः संज्ञा (१।२।२६)। भल्—भलो भलि (८।२।२६)।
शल्—शल इगुपधादनिटः कसः (३।१।४५) ॥

भाषार्थः—ह इस एक वर्ण का उपदेश करके अन्त में ल् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये। जिससे छः प्रत्याहार बनते हैं—अल्, हल्, वल्, रल्, भल्, शल् ॥

विशेष—इन सूत्रों से प्रत्याहार तो सैंकड़ों बन सकते हैं, पर पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में ४१ प्रत्याहारों का ही व्यवहार किया है। इसके अतिरिक्त एक उणादिसूत्र में जमन्ताडुः (उणा० १।१।१४) से जम् प्रत्याहार, तथा एक चय् प्रत्याहार चयो द्वितीयः शरि पौष्करसादेः (वा० ८।४।४७) इस वार्तिक से बनेगा। सो इन दो को मिलाकर कुल ४३ प्रत्याहार हुये ॥

ये सारे प्रत्याहार अन्तिम अक्षरों के अनुसार दिखाये गये हैं। ये दूसरे प्रकार अर्थात् आदि अक्षरों के अनुसार भी दिखाये जा सकते हैं, जिनको हम यहीं दिखाते हैं, यद्यपि अन्तिम से ही दिखाना अधिक अच्छा है ॥

अकार से ८ प्रत्याहार—अण्, अक्, अच्, अट्, अण्, अम्, अश्, अल् ।

इकार से तीन प्रत्याहार—इक्, इच्, इण् ।

उकार ,, एक ,, —उक् ।

एकार ,, दो ,, —एङ्, एच् ।

ऐकार ,, एक ,, —ऐच् ।

हकार ,, दो ,, —हश्, हल् ।

यकार ,, पांच ,, —यण्, यम्, यञ्, यय्, यर् ।

वकार ,, दो ,, —वश्, वल् ।

रेफ ,, एक ,, —रल् ।

मकार ,, ,, ,, —मय् ।

ङकार ,, ,, ,, —ङम् ।

भकार ,, पांच ,, —भष्, भश्, भय्, भर्, भल् ।

भकार ,, एक ,, —भष् ।

जकार ,, ,, ,, —जश् ।

बकार से एक प्रत्याहार — बश् ।

छकार " " " — छव् ।

खकार " दो " — खय्, खर् ।

चकार " एक " — चर् ।

शकार " दो " — शर्, शल् ।

ये प्रत्याहार अष्टाध्यायी में कुल ४१ हुये, तथा ऊपर के दो उणादिसूत्र और वार्तिक को मिलाकर ४३ हुये ॥

॥ इति प्रत्याहारसूत्राणि ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

संज्ञा सूत्र

प्रथमः पादः वृद्धिः आत् ऐच्

वृद्धिरादैच् ॥१११॥

पदच्छेदः, विभक्तिः—वृद्धिः १११॥ आदैच् १११॥ समासः—आत् च=आच्च,
ऐत् च=ऐच्च आदैच्, समाहारद्वन्द्वसमासः ॥ संज्ञासूत्रमिदम् ॥

अर्थः—आ ऐ औ इत्येतेषां वर्णाणां वृद्धिसंज्ञा भवति ॥

उदाहरणानि—भागः, त्यागः, यागः ॥ नायकः, चायकः, पावकः, स्तावकः,
कारकः, हारकः, पाठकः, पाचकः ॥ शालायां भवः=शालीयः मालीयः ॥ उपगोर-
पत्यम्=ओपगवः, ओपमन्यवः । ऐतिकायनः, आश्वलायनः, आरण्यः ॥ अचैषीत्
अनैषीत्, अलावीत् अपावीत्, अकार्षीत् अहार्षीत्, अपाठीत् ॥

भाषार्थः—[आदैच्] आत्=आ, ऐच्=ऐ, औ की [वृद्धिः] वृद्धि संज्ञा होती
है ॥ यह संज्ञासूत्र है ॥ यहां से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति १११३ में जाती है, १११२ में
अनावश्यक होने से इसका संबन्ध नहीं बैठता है ॥

अदेङ् गुणः ॥१११२॥

अत् एङ् गुणः

पद०, वि०—अदेङ् १११॥ गुणः १११॥ स०—अत् च=अच्च एङ् च=
अदेङ्, समाहारद्वन्द्वसमासः ॥

अर्थः—अ ए औ इत्येषां वर्णाणां गुणसंज्ञा भवति ॥

उदा०—चेता, नेता, स्तोता, कर्ता, हर्ता, तरिता, भविता । जयति, नयति ।
पचन्ति, पठन्ति । पचे, यजे, देवेन्द्रः, सूर्योदयः, महर्षिः ॥

भाषार्थः—[अदेङ्] अत्=अ, एङ्==ए, औ की [गुणः] गुण संज्ञा
होती है ॥

यहां से 'गुणः' की अनुवृत्ति १११३ तक जाती है ॥

१. उदाहरणों की सिद्धि, तथा इनके अर्थ परिशिष्ट में देखें । जिनका परिशिष्ट
न हो, उनका अर्थ वा सिद्धि भाषार्थ में देखें । जिनके अर्थ विग्रह में ही स्पष्ट हैं,
उनका अर्थ प्रायः छोड़ दिया गया है ॥

गुणवृद्धि ई, उ, ञ, ञ के स्थान में ही है

इको गुणवृद्धी ॥१११३॥

पद० वि०—इकः ६।१॥ गुणवृद्धी १।२॥ स०—गुणश्च वृद्धिश्च=गुणवृद्धी, इतरेतरयोगद्वन्द्वसमासः ॥ अनुवृत्तिः—वृद्धिः, गुणः ॥ अर्थः—वृद्धिः स्यात्, गुणः स्यात् इति गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते, तत्र 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपस्थितं द्रष्टव्यम्=तत्रैकः स्थाने भवत इत्यर्थः ॥

उदा०—मेघति, चेता कर्ता, जयति । माँष्टि । अलावीत् ॥

भाषार्थः—यह परिभाषासूत्र है ॥ गुण हो जाये, वृद्धि हो जाये, ऐसा नाम लेकर जहां [गुणवृद्धी] गुण वृद्धि का विधान किया जाये, वहां वे [इकः] इक् (=उ उ ञ लृ) के स्थान में ही हों । यहां 'इकः' में स्थान-षष्ठी है, अर्थात् इक् के स्थान में गुण वृद्धि हो । इस सूत्र में 'इति' पद का अध्याहार किया गया है ॥

इस सारे सूत्र की अनुवृत्ति १।१।६ तक जाती है ॥

न धातुलोप आर्द्धधातुके ॥१११४॥

पद० वि०—न अव्ययपदम् ॥ धातुलोपे ७।१॥ आर्द्धधातुके ७।१॥ स०—धातवव्ययो धातुः, धातुलोपो यस्मिन् तदिदं धातुलोपम्, तस्मिन् धातुलोपे, बहुव्रीहि-समासः ॥ अनु०—इको गुणवृद्धी ॥ अर्थः—यस्मिन्नार्द्धधातुके धातोरव्ययस्य लोपो भवति, तस्मिन्नेवार्द्धधातुके इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः ॥ उदा०—लोलुवः पोपुवः । मरीमृजः । सरीमृपः ॥

भाषार्थः—यह निषेधसूत्र है ॥ [आर्द्धधातुके] जिस आर्द्धधातुक को निमित्त मानकर [धातुलोपे] धातु के अव्यय का लोप हुआ हो, उसी आर्द्धधातुक को निमित्त मानकर इक् के स्थान में जो गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे [न] नहीं होते ॥

यहां से 'न' इस पद की अनुवृत्ति १।१।६ तक जाती है ॥

गु, क, इ, इत् में भी क्वडति च ॥१११५॥

पद० वि०—क्वडति ७।१॥ च अ०॥ स०—गश्च कश्च डश्च=क्क्डः, क्वड इतो यस्य स क्वडत्, तस्मिन् क्वडति, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इको गुणवृद्धी, न ॥ अर्थः—गित्-कित्-डित्-निमित्तके इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः । उदा०—गित्—जिष्णुः भूष्णुः । कित्—चितः चितवान्, स्तुतः स्तुतवान् कृतः कृतवान् । मृष्टः मृष्टवान् । डित्—चिनुतः सुनुतः, चिन्वन्ति सुन्वन्ति, मृजन्ति ॥

भाषार्थः—यहां क्वडति में निमित्त-सप्तमी है ॥ [क्वडति] कित् गित् डित्

१. सप्तमी तीन प्रकार की होती है (i) पर सप्तमी—परे होने पर (ii) विषय सप्तमी—विषय में (iii) निमित्त सप्तमी—निमित्त मानकर । सो यहां

को निमित्त मानकर [च] भी इक् के स्थान में जो गुण और वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे न हों ॥

दीधी, वेवी मे दीधीवेवीटाम् ॥१११६॥ श्री नहीं

दीधीवेवीटाम् ६।३॥ स०—दीधी च वेवी च इट् च=दीधीवेवीटः, तेषां दीधीवेवीटाम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वसमासः ॥ अनु०—इको गुणवृद्धी, न ॥

अर्थः—दीधीङ् (दीप्तिदेवनयोः), वेवीङ् (वेतिना तुल्ये) छान्दसौ धातु अदादिगणे पठितौ स्तः । दीधीवेव्योः इटश्च इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः ॥ उदा०—आदीध्यनम् आदीध्यकः, आवेव्यनम् आवेव्यकः । पठिता कणिता ॥

भाषार्थः—[दीधीवेवीटाम्] दीधी वेवी धातुओं, तथा इट् के इक् के स्थान में जो गुण वृद्धि प्राप्त हों, वे नहीं होते ॥ इट् की वृद्धि का उदाहरण नहीं हो सकता, अतः नहीं दिखाया है ॥

हलोऽनन्तराः संयोगः ॥१११७॥

हलः १।३॥ अनन्तराः १।३॥ संयोगः १।१॥ स०—न विद्यतेऽन्तरं येषाम्=ते अनन्तराः, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—अनन्तराः=व्यवधानरहिता हलः संयोगसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—अग्निः, अत्र ग् न् । अश्वः=श् व् । इन्द्रः=न् द र् । मोमान्, यवमान्, चितवान् ॥

भाषार्थः—[अनन्तराः] व्यवधानरहित (जिन के बीच में अच् न हों ऐसे) [हलः] हलों (दो या दो से अधिक) की [संयोगः] संयोग संज्ञा होती है ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥१११८॥

मुखनासिकावचनः १।१॥ अनुनासिकः १।१॥ स०—मुखञ्च नासिका च=मुखनासिकम्, ईषद्वचनम् आवचनम्, मुखनासिकम् आवचनं यस्य स मुखनासिकावचनः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—मुखनासिकमावचनं यस्य वर्णस्य, सोऽनुनासिकसंज्ञको भवति ॥ उदा०—अन्न आँ अपः (ऋ० ५।४८।१॥ निरु० ५।५), चन आँ इन्द्रः । सुं, पठें, एवें, गाधूं, बिमिदाँ ॥

भाषार्थः—यह संज्ञासूत्र है ॥ [मुखनासिकावचनः] कुछ मुख से कुछ नासिका

निमित्त सप्तमी है । अर्थात् गित् कित् डित् को निमित्त मानकर, ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥

से (अर्थात् दोनों की सहायता से) बोले जानेवाले वर्ण की [अनुनासिकः] अनुनासिक संज्ञा होती है ॥ अत्र आं अपः, चन आं इन्द्रः इन उदाहरणों में 'आङ्' के आ का आङोऽनुनासिकश्छन्दसि (६।१।१२२) से अनुनासिक विधान होने पर, प्रकृत सूत्र ने बताया कि अनुनासिक किसे कहते हैं ॥ सँ के अनुनासिक अच् का उपदेशोऽनुनासिक इत् (१।३।२) से इत् संज्ञा होकर लोप होता है ॥ उपदेश क्या है, वा अनुनासिक चिह्न कहाँ वा कब थे, यह हमने परिशिष्ट १।१।१ में लिखा है, और १।३।२ सूत्र पर भी लिखा है, पाठक वहीं देखें ॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥१।१।६॥

तुल्यास्यप्रयत्नम् १।१॥ सवर्णम् १।१॥ स०—आस्ये प्रयत्नः आस्यप्रयत्नः, सप्तमीतत्पुरुषः । तुल्य आस्यप्रयत्नो यस्य (येन सह), तत् तुल्यास्यप्रयत्नं, बहुव्रीहिः । आस्ये भवं आस्यम् ॥ अर्थः—तुल्य आस्ये प्रयत्नो येषां, ते वर्णाः परस्परं सवर्ण-संज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—दण्डाग्रम् खट्वाग्रम् । यदीदम् कुमारीशः । भानूदयः मधूदकम्, कर्तृकारः ॥

भाषार्थः—यह संज्ञासूत्र है ॥ [तुल्यास्यप्रयत्नम्] आस्य अर्थात् मुख में होने-वाला स्थान और प्रयत्न तुल्य हों जिनके, ऐसे वर्णों की परस्पर [सवर्णम्] सवर्ण संज्ञा होती है ॥

उदा०—दण्डस्य + अग्रम् = दण्डाग्रम् (दण्ड का अगला भाग), खट्वा + अग्रम् = खट्वाग्रम् (खाट का अगला भाग), यदि + इदम् = यदीदम् (यदि यह), कुमारी + ईशः = कुमारीशः (कुमारी का स्वामी), भानु + उदयः = भानूदयः (सूर्य का उदय), मधु + उदकम् = मधूदकम् (मीठा जल), कर्तृ + ऋकारः = कर्तृकारः (कर्तृ शब्द का ऋकार) ॥

इन सब उदाहरणों में सवर्ण संज्ञा होने से, सवर्ण अच् परे रहते अकः सवर्ण दीर्घः (६।१।६७) से दीर्घ हो जायेगा, यही प्रयोजन है ॥

इस सारे सूत्र की अनुवृत्ति १।१।१० तक जाती है ॥

न अच्-हली

स्वर + व्यञ्जन ≠ सवर्ण
नाञ्भली ॥१।१।१०॥

न अ० ॥ अञ्भली १।२॥ स०—अच् च हल् च = अञ्भली, इतरेतरयोग-द्वन्द्वः ॥ अनु०—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥ अर्थः—तुल्यास्यप्रयत्नावपि अच्-हली परस्परं सवर्णसंज्ञका न भवतः ॥ उदा०—दण्ड हस्तः, दधि शीतम् । वैपाशो मत्स्यः, आनडुहं चर्म ॥

भाषार्थः—स्थान और प्रयत्न तुल्य होने पर भी [अज्झलो] अच् और हल् की परस्पर सवर्ण संज्ञा [न] नहीं होती है ॥

[अथ प्रगृह्यसंज्ञा-प्रकरणम्]

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥११११॥

ईत्, ऊत्, एत् - अन्तर्वचनं
द्विवचनं प्रगृह्यम्

ईदूदेद् १११॥ द्विवचनम् १११॥ प्रगृह्यम् १११॥ स०—ईच्च ऊच्च एच्च =
ईदूदेद्, समाहारद्वन्द्वः ॥

अर्थः—ईदाद्यन्तं द्विवचनं शब्दरूपं प्रगृह्यसंज्ञं भवति ॥ उदा०—अग्नी इति, वायु इति, माले इति । पचेते इति, पचेथे इति । इन्द्राग्नी इमौ, इन्द्रवायू इमे सुताः (ऋ० १।२।४) ॥

भाषार्थः—[ईदूदेद्द्विवचनम्] ईत्=ई, ऊत्=ऊ, एत्=ए जिनके अन्त में हों, ऐसे जो द्विवचन शब्द हैं, उनकी [प्रगृह्यम्] प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥ यहां येन विधि० (१।१।७१) से तदन्तविधि होती है ॥

यहां से 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति १।१।१८ तक, तथा ईदूदेत् की १।१।१२ तक जाती है ॥

अदसो मात् ॥११११२॥

अदस् तस्य मकारान्तात्
ई, ऊ, ए-तः

अदसः ६।१॥ मात् ५।१॥ अनु०—ईदूदेत्, प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—अदसः प्रगृह्य सम्बन्धी यो मकारः, तस्मात् परे य ईदूदेतः तेषां प्रगृह्यसंज्ञा भवति ॥ उदा०—अग्नी अत्र, अग्नी आसते । अमू अत्र, अमू आसाते ॥ एकारस्योदाहरणं नास्ति ॥

भाषार्थः—[अदसः] अदस् शब्द के [मात्] मकार से परे ई, ऊ, ए की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥

शे ॥ १।१।१३॥

येद भात्र मै

'शे' इति लुप्तप्रथमान्तो निर्देशः । सुपां सुलुक्० (७।१।३६) इत्यनेन छान्दस आदेशो गृह्यते ॥ अनु०—प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—शे इत्यस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति ॥ उदा०—अस्मे इन्द्रावृहस्पती (ऋ० ४।४।१४), युष्मे इति, अस्मे इति । त्वे इति, मे इति ॥

भाषार्थः—सुपों के स्थान में जो [शे] शे आदेश (७।१।३६ से) होता है, उस की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥

निपात एकाजनाद् ॥११११४॥

प्रत्यक्ष

निपातः १।१॥ एकाच् १।१॥ अनाद् १।१॥ स०—एकश्च असौ अच्च = एकाच्,

कर्मधारयसमासः । न आङ् = अनाङ्, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—एकाच्
यो निपातः तस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति, आङ् वर्जयित्वा ॥ उदा०—अ अपेहि, अ अपक्राम।
इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ ॥

भाषार्थः—[एकाच्] केवल जो एक ही अच् [निपातः] निपात है, उसकी
प्रगृह्य संज्ञा होती है, [अनाङ्] आङ् को छोड़कर ॥

उदा०—अ अपेहि (अरे हट) । 'अ' निपात निषेध तथा तिरस्कार अर्थ में होता
है । इ इन्द्रं पश्य (ओहो ! इन्द्र को देखो) । यहां 'इ' विस्मयार्थक निपात है । उ
उत्तिष्ठ (अरे ! उठ जा) । 'उ' निपात निन्दा संताप तथा वितर्क अर्थ में होता है ॥

यहां सर्वत्र अकः सवर्णो दीर्घः (६।१।६७) से दीर्घ की प्राप्ति है, पर अ, इ, उ
इन तीनों का चादिगण में पाठ होने से चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से निपात संज्ञा
होकर निपात एकाजनाङ् इस प्रकृत सूत्र से एक अच् रूप निपात होने के कारण प्रगृह्य
संज्ञा होकर सन्धि का ६।१।१२१ से निषेध हो जाता है ॥

यहां से 'निपातः' की अनुवृत्ति १।१।१५ तक जाती है ॥

ओकारान्त निपात प्रगृह्य
ओत् ॥१।१।१५॥

ओत् १।१॥ अनु०—निपातः, प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—ओदन्तो निपातः प्रगृह्यसंज्ञको
भवति ॥ उदा०—आहो इति, उताहो इति । नो इदानीम् । अथो इति । अहो अधुना ॥

भाषार्थः—[ओत्] ओकारान्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥ यहां येन
विधिस्तदन्तस्य (१।१।७१) से तदन्त का ग्रहण होता है ॥

उदा०—आहो + इति, उताहो + इति, (अथवा ऐसा) । नो + इदानीम् (इस
समय नहीं) । अथो + इति (अनन्तर) । अहो + अधुना (ओहो अब) ॥

इन उदाहरणों में सर्वत्र एचोऽयवायावः (६।१।७५ की प्राप्ति थी, पर ओदन्त
निपात होने से प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि का निषेध ६।१।१२१ से हो गया है ॥

यहां से 'ओत्' की अनुवृत्ति १।१।१६ तक जाती है ॥

संबुद्धौ शाकल्यस्य इतो अनापे
संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्थे ॥१।१।१६॥

संबुद्धौ ७।१॥ शाकल्यस्य ६।१॥ इतो ७।१॥ अनापे ७।१॥ स०—न आपेः
अनापेः, तस्मिन् अनापे, नञ्त्तत्पुरुषसमासः ॥ अनु०—ओत्, प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—
संबुद्धिनिमित्तको य ओकारः, तस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन,
अनापे (अवैदिके) इतो परतः ॥

अंकीयत वाला ओकारान्त शब्द भी प्रगृह्य होता है

पादः] प्रथमोऽध्यायः अवि इति परे दो शब्दो १३

शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति, अन्येषामाचार्याणां मतेन न भविष्यति । तेन शाकल्यग्रहणेन विकल्पोऽपि सिध्यति ॥ उदा०—(शाकल्यमते) वायो इति, (अन्येषां मते) वायविति । भानो इति, भानविति । अध्वर्यो इति, अध्वर्यविति ॥

भाषार्थः—[सम्बुद्धौ] सम्बुद्धिनिमित्तक जो ओकारान्त शब्द उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है, [शाकल्यस्य] शाकल्य आचार्य के मत में, [अनार्षे] अनार्ष = अवैदिक (मन्त्र से अन्यत्र, पदपाठ में जो इतिकरण है वह अनार्ष पद से यहां विवक्षित है) [इती] इति परे रहते ॥

यहां पाणिनि मुनि ने शाकल्य का मत प्रगृह्य संज्ञा का दिखाया है । सो अन्यो के मत में तो प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी, अतः विकल्प से दो उदाहरण वनंगे ॥

यहां से 'शाकल्यस्य' 'इती' 'अनार्षे' की अनुवृत्ति १।१।१७ तक जायेगी ॥

उज्ज ऊँ ॥१।१।१७॥

उज्जः ६।१॥ ऊँ लुप्तविभक्तिकम् ॥ अनु०—शाकल्यस्य, इती, अनार्षे, प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—उज्जः प्रगृह्यसंज्ञा भवति, तस्य स्थाने 'ऊँ' आदेशश्च प्रगृह्यसंज्ञको भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन, अनार्षे इती परतः ॥ उदा०—उ इति । विति । ऊँ इति ॥

भाषार्थः—[उज्जः] उज्ज की प्रगृह्य संज्ञा होती है शाकल्य आचार्य के मत में, तथा उस के स्थान में प्रगृह्यसंज्ञक [ऊँ] ऊँ आदेश शाकल्य आचार्य के मत में होता है, अनार्ष 'इति' परे रहने पर ॥

यहां शाकल्य आचार्य के मत में 'उ इति' में इको यणचि (६।१।७४) से प्राप्त सन्धि का निषेध प्रगृह्य संज्ञा होने से पूर्ववत् हो गया । अन्यो के मत में सन्धि होकर 'विति' बना । अब 'उ' के स्थान में ऊँ आदेश शाकल्य आचार्य के मत में होकर 'ऊँ इति' तथा दूसरों के मत में 'विति' भी बना । इस प्रकार कुल तीन रूप बनते हैं । शाकल्य आचार्य के मत में 'ऊँ' आदेश बिना किये 'उ इति', एवं आदेश करके 'ऊँ इति' । ये दो रूप महाभाष्यकार के योगविभाग करने से सुस्पष्ट सिद्ध होते हैं, जो कि शङ्कासमाधान का विषय होने से यहां नहीं बताया जा सकता ॥ उज्ज में जकार अनुबन्ध है, सो उसका हलन्त्यम् (१।३.३) से इत् संज्ञा एवं लोप हो जायेगा ॥

ईदूती च सप्तम्यर्थे ॥ १।१।१८॥

ईदूती १।२॥ च अ० ॥ सप्तम्यर्थे ७।१॥ स०—ईच्च ऊच्च—ईदूती, इतरेतर-योगद्वन्द्वः । सप्तम्या अर्थः—सप्तम्यर्थः, तस्मिन् सप्तम्यर्थे, षष्ठीतत्पुरुषः । अनु०—प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—सप्तम्यर्थे वर्त्तमानो ईकारान्त-ऊकारान्तौ शब्दो प्रगृह्यसंज्ञको

भवतः ॥ उदा०—सोमो गौरी अधिश्रितः । अध्यस्यां मामकी तनू—मामकी इति, तनू इति ॥

भाषार्थः—[सप्तम्यर्थे] सप्तमी के अर्थ में वर्तमान [ईदूती] ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥

दाधा, दाप्, दैप् दित्वा दाधाध्वदाप् ॥११११६॥

दाधाः ११३॥ घु १११ ॥ अदाप् १११॥ स०—दाश्च धौ चेति दाधाः, इतरेतर-योगद्वन्द्वः । दाप् च दैप् च=दाप्, न दाप् अदाप्, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—दारूपाः धारूपी च धातवो घुसंज्ञका भवन्ति, दाप्दैपी वर्जयित्वा ॥ दारूपाश्चत्वारो धातवः—डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दोऽवखण्डने, देङ् रक्षणे इति । धारूपावपि द्वौ धातू—डुधाञ् धारणपोषणयोः, घेट् पाने इति ॥ उदा०—प्रणिददाति, प्रणिदीयते, प्रणिदाता । प्रणियच्छति । प्रणिद्यति । प्रणिदयते । प्रणिदधाति, प्रणिधीयते, प्रणिधाता । प्रणिधयति । देहि । घेहि ॥

भाषार्थः—[दाधाः] दा रूपवाले=जिनका 'दा' रूप बन जाता है (अनु-बन्धादि लोप होकर), तथा 'धा' रूपवाले=जिनका 'धा' रूप बन जाता है, धातुओं की [घु] घु संज्ञा हो जाती है, [अदाप्] दाप् (लवने) और दैप् (शोधने) इन दो धातुओं को छोड़ कर ॥

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १११२०॥

आदि अन्त

आद्यन्तवद् अ० ॥ एकस्मिन् ७।१॥ स०—आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तो, इतरे-तरयोगद्वन्द्वः । आद्यन्तयोरिव आद्यन्तवत्, सप्तम्यर्थे वतिप्रत्ययः (५।१।११५) ॥ अति-देशसूत्रमिदम् ॥ अर्थः—एकस्मिन्नपि आदाविव अन्त इव च कार्यं भवति ॥ उदा०—आपगवः, आभ्याम् ॥

भाषार्थः—यह अतिदेश सूत्र है ॥ [एकस्मिन्] एक में भी [आद्यन्तवत्] आदि और अन्त के समान कार्य हो जाते हैं ॥

जिससे पहिले कोई वर्ण न हो, वह 'आदि' कहलाता है । जिसके पीछे कोई वर्ण न हो वह 'अन्त' कहलाता है । इस प्रकार आदि और अन्त का व्यवहार दो या दो से अधिक वर्ण के होने पर ही सम्भव है । पर यदि कोई वर्ण एक ही हो, वहां पर यदि कोई कार्य आदि को कहें या अन्त को कहें, तो वह कंसे हो क्योंकि वह अकेला है, न आदि का है, न अन्त का । सो अकेले में भी आदि और अन्त का व्यवहार मान कर कार्य हो जाये, इसलिये यह सूत्र बनाया है । लोक में भी यदि किसी का एक ही

पुत्र, हो तो वही उसका छोटा एवं वही उसका बड़ा मान लिया जाता है। इसी प्रकार शास्त्र में भी एक में ही आदि और अन्त का अतिदेश कर दिया ॥

तरप्तमपौ घः ॥१११२१॥ $\omega \rightarrow \text{तरप् तमप्}$

तरप्तमपौ ११२॥ घः १११॥ स०—तरप् च तमप् च=तरप्तमपौ, इतरेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—तरप्तमपौ घसंज्ञकी भवतः ॥ उदा०—कुमारितरा, कुमारितमा । ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा ॥

भाषार्थः—[तरप्तमपौ] तरप् और तमप् प्रत्ययों की [घः] घ संज्ञा होती है ॥
संख्या [६६, गण, बहुगणवतुडति संख्या ॥१११२२॥ वतुप्, डति ३

बहुगणवतुडति १११॥ संख्या १११॥ स०—बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्च=बहु-गणवतुडति, समाहारद्वन्द्वः ॥ अर्थः—बहुगणशब्दों, वतुडतिप्रत्ययान्तों च शब्दों संख्या-संज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—बहुकृत्वः, बहुधा, बहुकः, बहुशः । गणकृत्वः, गणधा, गणकः, गणशः । तावत्कृत्वः, तावद्धा, तावत्कः, तावच्छः । कतिकृत्वः, कतिधा, कतिकः, कतिशः ॥

संख्या = ६६, गण, वतुप्, डति ३

भाषार्थः—[बहुगणवतुडति] बहु गण शब्दों की, तथा वतुप् और डति प्रत्ययान्त शब्दों की [संख्या] संख्या संज्ञा होती है ॥

यहां से 'संख्या' की अनुवृत्ति १११२४ तक जाती है ॥

षट् ष, ण-अन्त ३ णान्ता षट् ॥१११२३॥

णान्ता १११॥ षट् १११॥ स०—षश्च नश्च=णो, णो अन्ते यस्याः सा णान्ता, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संख्या ॥ अर्थः—षकारान्ता नकारान्ता च या संख्या सा षट्संज्ञिका भवति ॥ उदा०—षकारान्ता—षट् तिष्ठन्ति, षट् पश्य । नकारान्ता—पञ्च सप्त नव दश ॥

भाषार्थः—[णान्ता] षकारान्त तथा नकारान्त जो संख्यावाची शब्द हैं, उनकी [षट्] षट् संज्ञा होती है ॥

यहां से 'षट्' की अनुवृत्ति १११२४ तक जाती है ॥

षट् ६ डति ३ डति च ॥१११२४॥

डति १११॥ च अ० ॥ अनु०—षट्, संख्या ॥ अर्थः—डतिप्रत्ययान्ता संख्या षट्संज्ञिका भवति ॥ उदा०—कति तिष्ठन्ति, कति पश्य ॥

भाषार्थः—[डति] डतिप्रत्ययान्त संख्यावाची शब्द की [च] भी षट् संज्ञा होती है ॥ कति की सिद्धि परि० १११२२॥ में देखें । यहाँ कति के आगे पूर्ववत् जस् या शस् आया, तो प्रकृत सूत्र से षट्संज्ञा होने से षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) से लुक् हो गया, यही षट् संज्ञा का प्रयोजन है ॥

६४, क्ववु३

क्तक्तवतू निष्ठा ॥१११२५॥

क्तक्तवतू १।२॥ निष्ठा १।१॥ स०—क्तश्च क्तवतुश्च=क्तक्तवतू इतरेतरयोग-
द्वन्द्वः ॥ अर्थः—क्तक्तवतू प्रत्ययौ निष्ठासंज्ञकौ भवतः ॥ उदा०—पठितः, पठितवान् ।
चितः चितवान् । स्तुतः स्तुतवान् । भिन्नः भिन्नवान् । पक्वः पक्ववान् ॥

भाषार्थः—[क्तक्तवतू] क्त और क्तवतु प्रत्ययों की [निष्ठा] निष्ठा संज्ञा
होती है ॥

सर्वनाम → ६ सर्व... ३ सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१११२६॥

सर्वादीनि १।३॥ सर्वनामानि १।३॥ स०—सर्व आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनि,
बहुव्रीहिसमासः ॥ अर्थः—सर्वादिशब्दानां सर्वनामसंज्ञा भवति ॥ उदा०—सर्वे, सर्वस्मै,
सर्वस्मात्, सर्वस्मिन्, सर्वेषाम्, सर्वकः । विश्वे, विश्वस्मै, विश्वस्मात्, विश्वस्मिन्,
विश्वेषाम्, विश्वकः ॥

भाषार्थः—[सर्वादीनि] सर्वादिगण' में पढ़े शब्दों की [सर्वनामानि] सर्वनाम-
संज्ञा होती है ॥

यहां से 'सर्वनामानि' की अनुवृत्ति १।१।३५ तक जाती है, तथा 'सर्वादीनि'
की अनुवृत्ति १।१।३१ तक जाती है ॥

दिक् बहुव्रीहि ६ सर्व... ३ विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥१११२७॥

विभाषा १।१॥ दिक्समासे ७।१॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ स०—दिशां समासः दिक्-
समासः, तस्मिन् दिक्समासे, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥
अर्थः—दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि विभाषा भवन्ति ॥ उदा०
—उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै । दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै । उत्तरपूर्वस्याः, उत्तर-
पूर्वायाः । दक्षिणपूर्वस्याः, दक्षिणपूर्वायाः ॥

भाषार्थः—[दिक्समासे] दिशावाची [बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में सर्वादियों
की सर्वनाम संज्ञा [विभाषा] विकल्प से होती है ॥

आगे न बहुव्रीहौ (१।१।२८) से बहुव्रीहि समास में सर्वनाम संज्ञा का नित्य
प्रतिषेध करेंगे, पर यहां दिगुपदिष्ट (२।२।२६) बहुव्रीहि समास में विकल्प से सर्व-
नाम संज्ञा हो, इसके लिये यह सूत्र है ॥

बहुव्रीहि ६ सर्व... ३ सर्वनामानि बहुव्रीहौ ॥१११२८॥

न अ० ॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ अनु०—सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ

१. सब गणशब्द गणपाठ में देखें, जो काशिका में भी तत्तत् सूत्र में दिखायें हैं ॥

समासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति ॥ उदा०—प्रियविश्वाय, प्रियोभयाय ।
द्वयन्याय, त्रयन्याय ॥

भाषार्थः—[बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा [न]
नहीं होती ॥

यहां से 'न' की अनुवृत्ति १।१।३१ तक जाती है ॥

तृतीयासमासे ॥ १।१।२६॥

तृतीय समास ऽ सर्व... 3
≠ सर्वनाम

तृतीयासमासे ७।१॥ स०—तृतीयायाः समासः=तृतीयासमासः, तस्मिन् तृतीया-
समासे, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—तृतीयासमासे
सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति ॥ उदा०—मासपूर्वाय, संवत्सरपूर्वाय ।
द्व्यहपूर्वाय, त्र्यहपूर्वाय ॥

भाषार्थः—[तृतीयासमासे] तृतीया तत्पुरुष समास में सर्वादियों की सर्वनाम
संज्ञा नहीं होती ॥

द्वन्द्वे च ॥ १।१।३०॥

द्वन्द्वे ऽ सर्व... 3 ≠ सर्वनाम

द्वन्द्वे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—द्वन्द्वे समासे
सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति ॥ उदा०—पूर्वापराणाम् । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् ।
कतरकतमानाम् ॥

भाषार्थः—[द्वन्द्वे] द्वन्द्व समास में [च] भी सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा नहीं
होती ॥

यहां से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति १।१।३१ तक जायगी ॥

विभाषा जसि ॥ १।१।३१॥

विभाषा १।१॥ जसि ७।१॥ अनु०—द्वन्द्वे, न, सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—
द्वन्द्वे समासे जसि सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि विभाषा न भवन्ति ॥ उदा०—
कतरकतमे कतरकतमाः । दक्षिणपूर्वे दक्षिणपूर्वाः ॥

भाषार्थः—द्वन्द्व समास में सर्वादियों की सर्वनामसंज्ञा [जसि] जस् सम्बन्धी
कार्य में [विभाषा] विकल्प से नहीं होती ॥

यहां से 'विभाषा जसि' की अनुवृत्ति १।१।३५ तक जाती है ॥

प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ॥ १।१।३२॥

प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः १।३ ॥ च अ० ॥ स०—प्रथमश्च चरमश्च

३ प्रथम, चरम, तय, अल्प, अर्ध, कतिपय, नेमा

ऽ सर्व... 3 =, ≠ सर्वनाम

जसि - संबंधी

तयश्च अल्पश्च अर्धश्च कतिपयश्च नेमश्च = प्रथम...नेमाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥
 अनु०—विभाषा जसि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध,
 कतिपय, नेम इत्येते शब्दा जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—प्रथमे
 प्रथमाः । चरमे चरमाः । द्वितये द्वितयाः । अल्पे अल्पाः । अर्धे अर्धाः । कतिपये कति-
 पयाः । नेमे नेमाः ॥

भाषार्थः—[प्रथम...नेमाश्च] प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त शब्द, अल्प, अर्ध,
 कतिपय तथा नेम इन शब्दों की जस्-सम्बन्धी कार्य में विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा
 होती है ॥

उदा०—प्रथमे प्रथमाः (पहिले) । चरमे चरमाः (अन्तिम) । द्वितये द्वितयाः
 (दो अवयववाले) । अल्पे अल्पाः (न्यून) । अर्धे अर्धाः (आधे) । कतिपये कति-
 पयाः (कई एक) । नेमे नेमाः (आधे) । यहां सर्वनामसंज्ञा पक्ष में सर्वत्र पूर्ववत्
 जसः शी (७।१।१७) से 'शी' होकर 'प्रथमे' आदि बनता है । तथा दूसरे पक्ष में जब
 सर्वनाम संज्ञा न हुई, तो 'प्रथमाः' आदि बना । परिशिष्ट १।१।३१ के समान ही
 सिद्धियां जानें ॥ 'द्वितये' इस उदाहरण में संख्याया अवयवे तयप् (५।२।४२) से
 तयप् हो जाता है ॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यावस्थायामसंज्ञायाम् ॥१।१।३३॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि १।३ ॥ व्यवस्थायाम् ७।१ ॥ असंज्ञायाम्
 ७।१॥ स०—पूर्व च परं च अवरं च दक्षिणं च उत्तरं च अपरं च अधरञ्च =
 पूर्वपरावर.....धराणि, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न संज्ञा असंज्ञा, तस्याम् असंज्ञायाम्,
 नञ्त्त्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा जसि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण,
 उत्तर, अपर, अधर इत्येतानि जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति संज्ञाभिन्नव्यव-
 स्थायाम् ॥ उदा०—पूर्वे पूर्वाः, परे पराः, अवरे अवराः, दक्षिणे दक्षिणाः, उत्तरे
 उत्तराः, अपरे अपराः । अधरे अधराः ॥

भाषार्थः—[पूर्व.....धराणि] पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर
 इन शब्दों की जस्-सम्बन्धी कार्य में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, [व्यवस्थायाम-
 संज्ञायाम्] संज्ञा से भिन्न व्यवस्था हो तो ॥

उदा०—पूर्वे पूर्वाः (पूर्व वाले) । परे पराः (बादवाले) । अवरे अवराः
 (पहिले वाले) । दक्षिणे दक्षिणाः (दक्षिण वाले) । उत्तरे उत्तराः (उत्तरवाले) ।
 अपरे अपराः (दूसरे) । अधरे अधराः (नीचे वाले) । सिद्धियां सब पूर्ववत् जानें ।
 सर्वनाम संज्ञा पक्ष में जसः शी (७।१।१७) से जस् को शी हो जाता है ॥

स्वमज्ञातिघनाख्यायाम् ॥११३४॥

स्वम् ११॥ अज्ञातिघनाख्यायाम् ७१॥ स०—ज्ञातिश्च घनं च ज्ञातिघने, ज्ञातिघनयोः आख्या ज्ञातिघनाख्या, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः । न ज्ञातिघनाख्या अज्ञाति-घनाख्या, तस्याम् अज्ञातिघनाख्यायाम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा जसि, सर्व-नामानि ॥ अर्थः—अनेकार्थोऽयं 'स्व'शब्दः, ज्ञाति-घन-आत्मीयवाची । ज्ञाति-घनाभिधानभिन्नस्य स्वशब्दस्य जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञा भवति ॥ उदा०—स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः । स्वे गावः, स्वा गावः । आत्मीया इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[स्वम्] स्व शब्द की जस् सम्बन्धी कार्य में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, [अज्ञातिघनाख्यायाम्] ज्ञाति तथा घन की आख्या को छोड़कर ॥ 'स्व' शब्द के अनेकार्थवाची होने से सब अर्थों में सर्वनाम संज्ञा ही प्राप्त थी । अतः ज्ञाति और घन को छोड़कर कहा । अर्थात् ज्ञाति और घन को कहने में सर्वनाम संज्ञा न हो, अन्य अर्थों में हो ॥

उदा०—स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः (अपने पुत्र) । स्वे गावः, स्वाः गावः (अपनी गायें) । सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥११३५॥

अन्तरम् ११॥ बहिर्योगोपसंव्यानयोः ७२॥ बहिरित्यनेन योगः=बहिर्योगः, उपसंवीयत इत्युपसंव्यानम् ॥ स०—बहिर्योगश्च उपसंव्यानं च=बहिर्योगोपसंव्याने तयोः बहिर्योगोपसंव्यानयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा जसि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—बहिर्योगे उपसंव्याने च गम्यमानेऽन्तरशब्दस्य जसि विभाषा सर्वनाम-संज्ञा भवति ॥ उदा०—बहिर्योगे—अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः । उपसंव्याने—अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः ॥

भाषार्थः—[बहिर्योगोपसंव्यानयोः] बहिर्योग तथा उपसंव्यान गम्यमान होने पर [अन्तरम्] अन्तर शब्द की जस् सम्बन्धी कार्य में विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा होती है ॥

उदा०—अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः (नगर या ग्राम के बाहर चाण्डालादिकों के गृह) । अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः (परिधानीय=अन्तर पहिने का वस्त्र, इसमें चादर नहीं ली जायेगी) । सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥

स्वरादिनिपातमव्ययम् ॥११३६॥

स्वरादिनिपातम् ११॥ अव्ययम् ११॥ स०—स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः,

स्वरादयश्च निपाताश्च स्वरादिनिपातम्, बहुव्रीहिगर्भः समाहारद्वन्द्वसमासः ॥ अर्थः—
स्वरादिशब्दरूपाणि निपाताश्चाव्ययसंज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—स्वरादिः—स्वर्
प्रातर् । निपाताः—च, वा, ह ॥ प्राग्ग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।५६) इत्यतः अघिरी-
श्वरे (१।४।६६) इति यावत् निपातसंज्ञां वक्ष्यति । तेषां निपातानामव्ययसंज्ञा
वेदितव्या ॥

भाषार्थः—[स्वरादिनिपातम्] स्वरादिगणपठित शब्दों की, तथा निपातों
की [अव्ययम्] अव्यय संज्ञा होती है ॥ प्राग्ग्रीश्वरान्निपाताः से लेकर अघिरीश्वरे
तक निपात संज्ञा कही है । उन निपातों की यहां अव्यय संज्ञा भी कहते हैं ॥

उदा०—स्वर् (सुख) । प्रातर् (प्रातः) । च (और) । वा (अथवा) । ह
(निश्चय से) ॥ यहां सर्वत्र अव्यय संज्ञा होने से स्वादि विभक्तियों का अव्यया-
दाप्सुः (२।४।८२) से लुक् (= अवशान) हो जाता है । यही अव्यय संज्ञा का
प्रयोजन है ॥

यहां से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति १।१।४० तक जाती है ॥

अल्प-विभक्ति तद्धित = अल्प
तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥१।१।३७॥

तद्धितः १।१॥ च अ० ॥ असर्वविभक्तिः १।१॥ स०—नोत्पद्यते सर्वा विभक्ति-
र्यस्मात् सोऽसर्वविभक्तिस्तद्धितः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अव्ययम् ॥ अर्थः—असर्व-
विभक्तिस्तद्धितप्रत्ययान्तः शब्दोऽव्ययसंज्ञको भवति ॥ उदा०—ततः । यतः । तत्र ।
यत्र । तदा । यदा । सर्वदा । सदा । विना । नाना ॥

भाषार्थः—[असर्वविभक्तिः] जिससे सारी विभक्ति (= त्रिक) उत्पन्न न हो,
ऐसे [तद्धितः] तद्धितप्रत्ययान्त शब्द की [च] भी अव्यय संज्ञा होती है ॥

यहां महाभाष्यकार ने अव्यय संज्ञा के प्रयोजक तद्धित-प्रत्ययों का परिगणन
क्रिया है, जो इस प्रकार है—तसिलादयः प्राक् पाशपः (पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७)
से लेकर (याप्ये पाशप् ५।३।४७) तक । शस्प्रभृतिभ्यः प्राक् समासान्तेभ्यः (बह्व-
ल्पार्थच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ५।४।४२) से लेकर (समासान्ताः ५।४।६८)
तक । मान्तः—अम्, आम् (अमु च च्छन्दसि ५।४।१२, किमेत्तिङव्ययघादाम्ब-
द्रव्यप्रकर्षे ५।४।११) । तसिबती—(तसिश्च ४।३।११३, तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः
५।१।११४) । कृत्वोऽर्थाः—(संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वमुच् ५।४।१७,
द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८, विभाषा बहोर्घाऽविप्रकृष्टकाले ५।४।२०) । नानाञौ—ना
नाञ् (विनञ्भ्यां नानाञौ न सह ५।२।२७) ॥

कृन्मेजन्तः ॥१११३८॥

कृत् १११॥ मेजन्तः १११॥ स०—मश्च एच् च मेचौ, मेचावन्तेऽस्य स मेजन्तः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अव्ययम् ॥ अर्थः—कृद् यो मकारान्त एजन्तश्च, तदन्तं शब्दरूप-
मव्ययसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—अस्वादीं स्वादीं कृत्वा भुङ्क्ते = स्वादुंकारं भुङ्क्ते ।
सम्पन्नंकारं भुङ्क्ते । लवणंकारं भुङ्क्ते । उदरपूरं भुङ्क्ते । एजन्तः—वक्षे रायः ।
ता वामेषे रथानाम् । ऋत्वे दक्षाय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृशे । म्लेच्छितवै ॥

भाषार्थः—[कृत्] कृत् जो [मेजन्तः] मकारान्त तथा एजन्त, तदन्त शब्द-
रूप की अव्यय संज्ञा होती है ॥

म, ए - अन्तवर्ति कृत् = अव्यय

क्त्वातोसुन्कसुनः ॥१११३९॥

क्त्वातोसुन्कसुनः ११३॥ स०—क्त्वा च तोसुंश्च कसुंश्च क्त्वातोसुन्कसुनः,
इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अव्ययम् ॥ अर्थः—क्त्वा तोसुन् कसुन् इत्येवमन्ताः शब्दा
अव्ययसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—क्त्वा—पठित्वा, चित्वा, जित्वा, कृत्वा, हृत्वा ।
तोसुन्—पुरा सूर्यस्योवेतोराधेयः (का० सं० ५।३) । कसुन्—पुरा क्रूरस्य विसृपो
विरिञ्चिन् (य० १।२८) ॥

भाषार्थः—[क्त्वातोसुन्कसुनः] क्त्वा तोसुन् कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की
अव्यय संज्ञा होती है ॥

६ क्त्वा, तोसुन्, कसुन् ३ = अव्यय

अव्ययीभावश्च ॥१११४०॥

अव्ययीभावः १११॥ च अ० ॥ अनु०—अव्ययम् ॥ अर्थः—अव्ययीभावसमासो-
ऽव्ययसंज्ञको भवति ॥ उदा०—उपाग्नि, प्रत्यग्नि, अधिस्त्रि ॥

भाषार्थः—[अव्ययीभावः] अव्ययीभाव समास की [च] भी अव्यय संज्ञा
होती है ॥

६ अव्ययीभाव समास ३ = अव्यय

६ जश्/शस् → शि३ शि सर्वनामस्थानम् ॥१११४१॥ = सर्वनाम

शि १११॥ सर्वनामस्थानम् १११॥ अर्थः—शि = जश्शसोः शिः (७।१।२०)
इत्यनेन यः 'शिः' आदेशः, तस्य सर्वनामस्थानसंज्ञा भवति ॥ उदा०—कुण्डानि,
वनानि । दधीनि, मधूनि । त्रपूणि, जतूनि ॥

भाषार्थः—[शि] 'शि' की [सर्वनामस्थानम्] सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ॥
जश्शसोः शिः (७।१।२०) से जो जस् और शस् के स्थान में 'शि' आदेश होता है,
उसका यहां ग्रहण है ॥

यहां से 'सर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति १११४२ तक जाती है ॥

सर्वनाम = ६ अनपुंसक सु, औ, जस् अम्, औट् ३
मुडनपुंसकस्य ॥१११४२॥

मुट् ११॥ अनपुंसकस्य ६॥ १॥ स०—न नपुंसकम्=अनपुंसकम्, तस्यान-
पुंसकस्य, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सर्वनामस्थानम् ॥ अर्थः—नपुंसकभिन्नसम्बन्धी
यः मुट् तस्य सर्वनामस्थानसंज्ञा भवति ॥ 'मुट्' इत्यनेन सु इत्यारभ्य औट्पर्यन्तं
प्रत्याहारो गृह्यते । तत्र च, सु औ जस् अम् औट् इति पञ्च प्रत्ययाः समाविष्टाः
सन्ति ॥ उदा०—राजा राजानौ राजानः राजानम् राजानौ ॥

भाषार्थः—[अनपुंसकस्य] नपुंसकलिङ्ग से भिन्न जो [मुट्] मुट् उसकी
सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ॥ यहां सु से लेकर औट् पर्यन्त पांच प्रत्ययों का मुट्
प्रत्याहार से ग्रहण है ॥

विभाषा = ६ न, वा ३ न वेति विभाषा ॥१११४३॥

न अ० ॥ वा अ० ॥ इति अ० ॥ विभाषा ११॥ अर्थः—'न' इति निषेधार्थः,
'वा' इति विकल्पार्थः, अनयोनिषेधविकल्पार्थयोर्विभाषा संज्ञा भवति ॥ उदा०—शुश्राव,
शिश्रवाय । शुश्रुवतुः, शिश्रुवतुः । दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वस्यै ॥

भाषार्थः—[न वेति] न=निषेध, वा=विकल्प इन अर्थों की [विभाषा]
विभाषा संज्ञा होती है ॥

विशेषः—यहां 'न' और 'वा' इन शब्दों की विभाषा संज्ञा नहीं होती, अपितु
'न' का अर्थ जो निषेध, 'वा' का अर्थ जो विकल्प, इन अर्थों की विभाषा संज्ञा होती
है । सूत्रों में 'इति' पद जहां लगता है, वहां उस शब्द के अर्थ का बोध कराता है,
स्वरूप का नहीं । अतः यहां नवेति में 'इति' शब्द अर्थ का बोधक है ॥

य, व, र, ल → इ, उ, ऋ, ए यणः सम्प्रसारणम् ॥१११४४॥

इक् ११॥ यणः ६॥ १॥ सम्प्रसारणम् ११॥ अर्थः—यणः (—य् व् र् ल्)
यण् इक् स्थाने य इक् (=इ उ ऋ लृ) (भूतो भावी वा) तस्य सम्प्रसारणसंज्ञा भवति ॥
उदा०—उक्तः, उक्तवान् । सुप्तः, सुप्तवान् । इष्टः, इष्टवान् । गृहीतः, गृहीतवान् ॥

भाषार्थः—[यणः] यण् के स्थान में जो [इक्] इक् वह [सम्प्रसारणम्]
सम्प्रसारणसंज्ञक होता है ॥

यहां यण् के स्थान में जो इक् वर्ण उसकी, तथा 'यण्' के स्थान में जो इक्
करना इस वाक्यार्थ की भी सम्प्रसारण संज्ञा होती है ॥

आदि ट-इत् [परिभाषा-प्रकरणम्]

अन्त क्-इत् आद्यन्तो टकितौ ॥१११४५॥

आद्यन्तो ११२॥ टकितौ ११२॥ स० — आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तो, इतरेतरयोग-
द्वन्द्वः । टश्च कश्च टको, टको इतो ययोरिति टकितौ, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—
षष्ठीनिर्दिष्टस्य 'टित्' आगम आदिर्भवति, 'कित्' आगमोऽन्तो भवति ॥ उदा०—टित्
—पठिता, भविता । कित्—त्रापुषम्, जातुषम् । जटिलो भीषयते, मुण्डो भीषयते ॥

भाषार्थः—षष्ठीनिर्दिष्ट को जो [टकितौ] टित् आगम तथा कित् आगम
कहा गया हो, वह क्रम से उसका [आद्यन्तो] आदि और अन्त अवयव हो ॥

यहां भविता में तास् आर्षधातुक को आर्षधातुकस्येड्वलादेः (७।२।३५) से कहा
हुआ 'इट्' उसका आदि अवयव बनता है, और भीषयते में धुक् 'भी' का अन्तिम
अवयव बनता है ॥ यह सूत्र षष्ठी स्थानेयोगा (१११४८) का पूर्व अपवाद है ॥

अन्त्य अच् + मि मिदचोऽन्त्यात् परः ॥१११४६॥

मित् १११॥ अचः ६।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ परः १।१॥ स०—म् इत् यस्य स
मित्, बहुव्रीहिः ॥ अन्ते भवः अन्त्यः, तस्मात् अन्त्यात् ॥ अर्थः—अचो सन्निविष्टानां
योऽन्त्योऽच् तस्मात् परो मित् भवति ॥ उदा०—भिनत्ति, छिनत्ति । रुणद्धि ।
मुञ्चन्ति । वन्दे मातरम् । कुण्डानि, वनानि । यशांसि, पयांसि ॥

भाषार्थः—[अचः] अचों के बीच में जो [अन्त्यात्] अन्तिम अच् उससे
[परः] परे [मित्] मित् (भकार जिसका इत् हो) होता है ॥ यह सूत्र आगे आने-
वाले १११४८, तथा प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२) सूत्रों का अपवाद है । प्रत्यय होने
के कारण 'इनम्' आदियों को परे होना चाहिये था, पर इस सूत्र से मित् होने से
अन्त्य अच् से परे हो जाता है ॥

एच इग्प्रस्वादेशे ॥१११४७॥

एचः ६।१॥ इक् १।१॥ ह्रस्वादेशे ७।१॥ स०—ह्रस्वश्चासावादेशश्च ह्रस्वा-
देशः, कर्मधारयः ॥ अर्थः—एचः स्थाने ह्रस्वादेशे कर्त्तव्ये इग् एव ह्रस्वो भवति,
नान्यः ॥ उदा०—अतिरि कुलम् । अतिनु कुलम् । उपगु ॥

भाषार्थः—[एचः] एच् के स्थान में [ह्रस्वादेशे] ह्रस्वादेश करने में [इक्]
इक् ही ह्रस्व हो। अन्य नहीं ॥ इस सूत्र की प्रवृत्ति नियमरूप से होती है, विधिरूप से
नहीं । नियम प्राप्तिपूर्वक होता है, अतः एच् के स्थान में जो अन्तरतम (अ, इ, उ) प्राप्त
हुए, उन्हीं का नियम किया गया । इस प्रकार यहां यथासंख्य आदेश नहीं होता ॥

षष्ठी स्थानेयोगा ॥१११४८॥

षष्ठी १११॥ स्थानेयोगा १११॥ स०—स्थाने योगोऽस्याः सेयं स्थानेयोगा, बहुव्रीहिः । अत्र निपातनात् सप्तम्या अलुग् भवति ॥ अर्थः—अस्मिन् शास्त्रे अनियतयोगा (= अनियतसम्बन्धा) षष्ठी स्थानेयोगा मन्तव्या ॥ उदा०—भविता, भवितुम्, भवितव्यम् । वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् । दध्यत्र, मध्वत्र, पित्रर्थम्, लाकृतिः ॥

भाषार्थः—इस शास्त्र में अनियतयोगा (जिस षष्ठी का सम्बन्ध कहीं न जुड़ता हो वह) [षष्ठी] षष्ठी [स्थानेयोगा] स्थानेयोगा = स्थान के साथ सम्बन्धवाली होती है ॥

षष्ठी के अनेक अर्थ होते हैं । जैसे—समीप, विकार, अवयव, स्व-स्वाम्यादि । उनमें से शब्द में जितने अर्थ सम्भव हैं, उन सभी के प्राप्त होने पर यह नियम किया गया है । जिस षष्ठी का कोई सम्बन्ध न जुड़ता हो, वह अनियतयोगा षष्ठी कहलाती है । उसका 'स्थाने' शब्द के साथ सम्बन्ध होता है ॥

यहां से 'स्थाने' की अनुवृत्ति १।१।५० तक जाती है, तथा 'षष्ठी' पद की अनुवृत्ति १।१।५४ तक जाती है ॥

स्थानेऽन्तरतमः ॥१११४९॥

स्थाने ७।१॥ अन्तरतमः १।१॥ सर्वे इमेऽन्तराः, अयमेषामतिशयेनान्तरः = अन्तरतमः = सदृशतमः । अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५) इति तमप् प्रत्ययः ॥ अनु०—स्थाने ॥ अर्थः—स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतमः = सदृशतम आदेशो भवति ॥ आन्तर्यं चतुर्विधं भवति—स्थानकृतम्, अर्थकृतम्, गुणकृतम्, प्रमाणकृतञ्चेति ॥ उदा०—स्थानकृतम्—दण्डाग्रम् दधीदम् भानूदयः । अर्थकृतम्—अभवताम्, वात्तण्ड्ययुवतिः । गुणकृतम्—भागः यागः त्यागः । प्रमाणकृतम्—अमुष्मै, अमूभ्याम् ॥

भाषार्थः—[स्थाने] स्थान में प्राप्त होनेवाले आदेशों में जो स्थानी के [अन्तरतमः] सदृशतम = सब से अधिक समान हो, वह आदेश हो ॥

उरणरपरः ॥१११५०॥

उः ६।१॥ अण् १।१॥ रपरः १।१॥ स०—रः परो यस्मात् स रपरः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्थाने ॥ अर्थः—ऋवर्णस्य स्थाने अण् (अ इ उ) प्रसज्यमान एव रपरो भवति ॥ उदा०—कर्ता हर्ता । कारकः हारकः । किरति गिरति । द्वैमातुरः त्रैमातुरः ॥

भाषार्थः—[उः] ऋवर्ण के स्थान में [अण्] अण् (अ-इ-उ में से कोई अक्षर) प्राप्त हो, तो वह होते-होते ही [रपरः] रपरेवाला हो जाता है ॥

यहां जब ऋ के स्थान में गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं, तब ऋ का अन्तरतम (=सदृशतम) इनमें से कोई है नहीं, तो प्रकृत सूत्र से अ आ (अण्) होते-होते रपर होकर अर् आर् बन जाते हैं। तो स्थानेऽन्तरतमः (१११४६) सूत्र लगकर अर् आर् गुण और वृद्धि होते हैं। यह बात समझ लेने की है कि गुण या वृद्धि होते-होते अ आ रपर होते हैं, होने के पश्चात् नहीं ॥

अलोऽन्त्यस्य ॥१११५१॥

अलः ६।१॥ अन्त्यस्य ६।१॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थः—षष्ठीनिर्दिष्टस्य य आदेश उच्यते, सोऽन्त्यस्यालः स्थाने भवति ॥ उदा०—घोः । सः । पञ्चगोणिः ॥

भाषार्थः—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट को जो आदेश कहा जाता है, वह [अन्त्यस्य] अन्त्य [अलः] अल् के स्थान में होता है ॥ यह सूत्र षष्ठी स्थानेयोगा (१११४८) से प्राप्त कार्य का अनुसंहार अन्तिम अल् में करता है ॥

यहां से 'अलः' की अनुवृत्ति १११५३, तथा 'अन्त्यस्य' की अनुवृत्ति १११५२ तक जाती है ॥

डिच्च ॥१११५२॥

डित् १।१॥ च अ० ॥ स०—ङ् इत् यस्य स डित्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अलोऽन्त्यस्य, षष्ठी ॥ अर्थः—षष्ठीनिर्दिष्टस्य यो डिदादेशः, सोऽन्त्यस्यालः स्थाने भवति ॥ अनेकाल्शिन्त् सर्वस्य (१११५४) इति वक्ष्यति, तस्यायं पुरस्तादपवादः । अर्थादनेकालपि सन् डिदादेशोऽन्त्यस्यालः स्थाने भवति, न तु सर्वस्य ॥ उदा०—चेता, नेता । मातापितरौ । होतापोतारौ ॥

भाषार्थः—[डित्] डित् आदेश [च] भी अन्त्य अल् के स्थान में होता है ॥ अनेकाल्शिन्त् सर्वस्य (१११५४) की प्राप्ति में यह पूर्व अपवाद सूत्र है । अर्थात् अनेकाल् होने पर भी डित् आदेश सब के स्थान में न होकर अन्त्य अल् के स्थान में ही होता है ॥

आदेः परस्य ॥१११५३॥

आदेः ६।१॥ परस्य ६।१॥ अनु०—अलः, षष्ठी ॥ अर्थः—परस्योच्यमानं कार्यं तस्यादेरलः स्थाने भवति ॥ तस्मादित्युत्तरस्य (१११६६) इति परस्य कार्यं शिष्यते ॥ अलोऽन्त्यस्यायमपवादः ॥ उदा०—आसीनः । द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम् ॥

भाषार्थः—[परस्य] पर को कहा हुआ कार्य, उसके [आदेः] आदि अल् के स्थान में हो ॥ तस्मादित्युत्तरस्य (१११६६) सूत्र से पर को कार्य कहा गया है, वह अलोऽन्त्यस्य (१११५१) से अन्तिम अल् को प्राप्त हुआ । यह सूत्र अलोऽन्त्यस्य का अपवाद है, अतः पर के अन्तिम अल् को कार्य न होकर उस के आदि अल् को हुआ ॥

अनेकाल्शित् सर्वस्य ॥१११५४॥

अनेकाल्शित् १११॥ सर्वस्य ६११॥ स०—न एकः अनेकः, नञ्त्तत्पुरुषः, अनेकः अल् यस्य स अनेकाल्, बहुव्रीहिः । श् इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहिः । अनेकाल् च शिच्च अनेकाल्शित्, बहुव्रीहिर्गर्भः समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थः—अनेकाल् शिच्च य आदेशः सः सर्वस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने भवति ॥ अलोऽन्त्यस्य (१११५१) इति सूत्रस्यापवादभूतमिदम् ॥ उदा०—अनेकाल्—भविता, भवितुम्, भवितव्यम् । पुरुषैः । शित्—कुण्डानि, वनानि ॥

भाषार्थः—[अनेकाल्शित्] अनेक अल्वाला तथा शित् जो आदेश, वह [सर्वस्य] सारे षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान में होता है ॥ यह सूत्र अलोऽन्त्यस्य (१११५१) का अपवाद है । अर्थात् षष्ठी-निर्दिष्ट को कहे गये सब आदेश अन्त्य अल् के स्थान में उस सूत्र से प्राप्त थे, इसने अनेकाल् तथा शित् आदेशों को सब के स्थान में हों, ऐसा कह दिया ॥

[अतिदेश-प्रकरणम्]

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥१११५५॥

स्थानिवत् अ०॥ आदेशः १११॥ अनल्विधौ ७११॥ स०—‘अल्विधौ’ इत्यत्रार्थानुरोधात् चतुर्विधः समासः—अलः (५११) परस्य विधिः=अल्विधिः, पञ्चमी-तत्पुरुषः । अलः (६११) स्थाने विधिः=अल्विधिः, षष्ठीतत्पुरुषः । अलि विधिः=अल्विधिः, सप्तमीतत्पुरुषः । अला विधिः=अल्विधिः, तृतीयातत्पुरुषः । न अल्विधिः अनल्विधिः, तस्मिन् अनल्विधौ, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ स्थानमस्यास्तीति स्थानी अत इनिठनौ (५१२११५) इत्यनेन ‘इनिः’ प्रत्ययः, स्थानिना तुल्यं स्थानिवत् तेन तुल्यं० (५११११४) इत्यनेन वतिप्रत्ययः ॥ अर्थः—आदेशः स्थानिवद् भवति, अल्विधिं वर्जयित्वा ॥ तत्रादेशाः प्रायः अष्टविधा भवन्ति—धातु-अङ्ग-कृत-तद्धित-अव्यय-सुप्-तिङ्-पदादेशाः ॥ उदा०-धात्वादेशः—भविता, भवितुम्, भवितव्यम् । वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् । अङ्गादेशः—केन, काम्याम्, कैः । कृदादेशः—प्रकृत्य, प्रहृत्य । तद्धितादेशः—दधि संस्कृतम्=दाधिकम्, अद्यतनम् । अव्ययादेशः—प्रकृत्य, प्रहृत्य ।

सुबादेशः पुत्रपाय, वृक्षाय । तिङादेशः—अकुरुताम्, अकुरुतम् । पदादेशः—ग्रामो नः स्वम्, ग्रामो वः स्वम् । अल्विधौ स्थानिवत् न भवति । तद्यथा—अलः (५।१) विधिः—द्यौः, पन्थाः सः । अलः (६।१) विधिः—द्युकामः । अलि (७।१) विधिः—क इष्टः । अला (३।१) विधिः—महोरस्केन, व्यूढोरकेन ॥

भाषार्थः—जिसके स्थान में हो वह स्थानी, जो किया जाये वह आदेश कहाता है ॥ [आदेशः] आदेश [स्थानिवत्] स्थानी के तुल्य माना जाता है [अनल्विधौ] अल्विधि को छोड़कर ॥

आदेश प्रायः आठ प्रकार के होते हैं—(१) घातु = घातु का आदेश घातुवत् होता है, (२) अङ्ग = अङ्ग का आदेश अङ्गवत् होता है, (३) कृत् = कृत् का आदेश कृत्वत् होता है, (४) तद्धित = तद्धित का आदेश तद्धितवत् होता है, (५) अव्यय = अव्यय का आदेश अव्ययवत् होता है, (६) सुप् = सुप् का आदेश सुप्वत् होता है, (७) तिङ् = तिङ् का आदेश तिङ्वत् होता है, (८) पद = पद का आदेश पदवत् होता है ॥

अल्विधि में चार प्रकार का समास है—

पञ्चमी तत्पुरुष—अल् से परे विधि । षष्ठीतत्पुरुष—अल् के स्थान में विधि । सप्तमीतत्पुरुष—अल् परे रहते विधि । तृतीयातत्पुरुष—अल् के द्वारा विधि । इन सब उदाहरणों में आदेश स्थानिवत् नहीं होता ॥

इस प्रकार का व्यवहार लोक में भी देखा जाता है। जैसे एक कलेक्टर के स्थान में जो दूसरा कलेक्टर (जिलाधीश) बदल कर आता है । उस नये कलेक्टर को भी पुराने कलेक्टर के समान सारे अधिकार प्राप्त हो जाते हैं । यहां पुराना कलेक्टर स्थानी था, नया उसका आदेश, सो स्थानिवत् व्यवहार हो गया । जिस प्रकार नये कलेक्टर को खरबूजा पसन्द होता है, पर पुराने कलेक्टर को नहीं होता, अर्थात् व्यक्तिगत रुचि में वह स्थानी के तुल्य नहीं होता, उसी प्रकार यहां भी अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता, ऐसा समझें । आगे के अतिदेश सूत्रों में भी अतिदेश-सम्बन्धी यह बात घटा लेनी चाहिये ॥

विशेषः—अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता, इसके उदाहरण देना यद्यपि द्वितीयावृत्ति (शंका-समाधान) का विषय है, तथापि उसको भी यहां समझाना इसलिये अनिवार्य हो गया है कि अगला सूत्र अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६) अनल्विधि का अपवाद है । अतः यहां अल्विधि में स्थानिवत् किस प्रकार नहीं होता, यह बता देना आवश्यक है । यह बात अध्यापक धीरे से समझा दें । हम तो समझ

ही बेते हैं। छात्र समझ लेता है, और प्रसन्न हो उठता है। कोई न समझे तो जाने दें ॥

यहां से 'स्थानिवदादेशः' की अनुवृत्ति १११५८ तक जाती है ॥

अक्षः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥१॥१॥५६॥

अथः ६।१॥ परस्मिन् ७।१ [निमित्त-सप्तमी] ॥ पूर्वविधौ ७।१ [विषय-सप्तमी] ॥ स०—पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः, तस्मिन् पूर्वविधौ, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ विधानं विधिः ॥ अनु०—स्थानिवद् आदेशः ॥ अर्थः—परनिमित्तकोऽजादेशः पूर्वविधौ कर्तव्ये स्थानिवद् भवति ॥ स्थान्यजपेक्षयात्र पूर्वत्वम् अभिप्रेतम् ॥ पूर्वेण सूत्रेणाल्-विधौ स्थानिवद्भावस्य निषेधः प्राप्नोति, अनेन सूत्रेण पुनः प्रतिप्रसूयते ॥ उदा०—पठयति, अवधीत, बह्वखटवकः ।

भाषार्थः—[परस्मिन्] परनिमित्तक=पर को निमित्त या कारण मानकर [अच्:] अच् के स्थान में हुआ जो आदेश, वह [पूर्वविधौ] पूर्व को विधि करने में स्थानिवत् हो जाता है ॥ यहां पूर्वविधि में स्थानी से पूर्वत्व अभिप्रेत है । अर्थात्—अनावष्टि (=स्थानी) अच् से पूर्व जो वर्ण विद्यमान था, उस की विधि (=कार्य) । पूर्व सूत्र से यहां अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध प्राप्त था । इस सूत्र से पुनः अल्विधि में स्थानिवद्भाव प्राप्त कराया गया है ॥

यहां से 'अचः' की अनुवृत्ति १११५८ तक, तथा 'परस्मिन् पूर्वविधौ' की १११५७ तक जाती है ॥

न पदान्तद्विवचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चरुविधिषु ॥१॥१५७॥

न अ० ॥ पदान्तः—विधिषु ७।३॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः, अथवा पदे अन्तः पदान्तः, सप्तमीतत्पुरुषः । पदान्तश्च द्विवचनं च, वरे च, यलोपश्च, स्वरश्च, सवर्णश्च, अनुस्वारश्च, दीर्घश्च, जश् च, चर् च—पदान्तद्विवचनः—चरः, एतेषां विधयः, तेषु पदान्तद्विवचनः—विधिषु, द्वन्द्वगर्भः षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अचः परस्मिन्, स्थानिवद् आदेशः ॥ अर्थः—पदान्त-द्विवचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्ण-अनुस्वार-दीर्घ-जश्-चर् इत्येतेषां विधिषु परनिमित्तकोऽजादेशः स्थानिवत् न भवति ॥ उदा०—पदान्तविधौ—कौ स्तः, यौ स्तः । तानि सन्ति, यानि सन्ति ॥ द्विवचन-विधौ—दद्धघत्र, मद्धघत्र ॥ वरेविधौ—अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान् । यलोप-विधौ—कण्डूतिः । स्वरविधौ—चिकीर्षकः, जिह्वीर्षकः । सवर्णविधौ—शिण्डि, पिण्डि । अनुस्वारविधौ—शिषन्ति, पिषन्ति । दीर्घविधौ—प्रतिदीप्ता प्रतिदीप्ते । जश्विधौ—सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे, बब्धां ते हरी घानाः । चर्विधौ—जक्षतुः जक्षुः, अक्षन्न-मीमदन्त पितरः ॥

भाषार्थः—[पदान्तद्विवचन...विधिषु] पदान्त-द्विवचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्ण-
अनुस्वार-दीर्घ-जश्-चर् इन की विधियों में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् [न]
नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से स्थानिवत् प्राप्त था, उसका यह प्रतिषेध है ॥

द्विवचनेऽचि ॥१११५८॥

द्विवचने ७।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—अचः, स्थानिवदादेशः ॥ द्विवचनं च
द्विवचनं च इति द्विवचनम्, तस्मिन् द्विवचने । सरूपाणाम्० (१।२।६४) इत्येकशेषः ॥
अर्थः—द्विवचननिमित्तेऽचि परतोऽजादेशः स्थानिरूपो भवति, द्विवचन एव कर्तव्ये ।
रूपातिदेशोऽयम् ॥ उदा०—पपुः पपुः । जग्मतुः जग्मुः । चक्रुः चक्रुः । निनय
निनाय । लुलव लुलाव । आटिटट् ॥

भाषार्थः—[द्विवचने] द्विवचन का निमित्त [अचि] अजादि प्रत्यय परे हो,
तो अजादेश स्थानिवत् हो जाता है, द्विवचन करनेमात्र में ॥

यह रूपातिदेश सूत्र है ॥ पूर्व सूत्रों में कार्यातिदेश था । कार्यातिदेश उसे कहते हैं
कि जो आदेश को स्थानी के तुल्य मान कर स्थानी के समान आदेश में कार्य कर दे ।
रूपातिदेश उसे कहते हैं कि जिसमें स्थानी का जैसा रूप हो, वैसा ही आदेश का
रूप भी हो जावे ॥ यह अतिदेश सूत्रों का प्रकरण समाप्त हुआ ॥

अदर्शनं लोपः ॥१११५९॥

अदर्शनम् १।१॥ लोपः १।१॥ स०—न दर्शनम् अदर्शनम्, नवृत्तपुरुषः ॥
अनु०—‘इति’ इत्येतत् पदं न वेति विभाषा (१।१।४३) इत्यतो मण्डूकप्लुतगत्यानु-
वर्तते ॥ अर्थः—यद् भूत्वा न भवति तद् अदर्शनम् = अनुपलब्धिः वर्णविनाशस्तस्य
लोप इति संज्ञा भवति, अर्थात् प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—
शालीयः । गौघेरः । पचेरन् । जीरदानुः । आस्त्रेमाणम् ॥

भाषार्थः—जो कोई वस्तु होकर न रहे, न दिखाई पड़े, उसे अदर्शन कहते हैं,
अर्थात् विद्यमान के [अदर्शनम्] अदर्शन की [लोपः] लोप संज्ञा होती है ॥ उसको
अदर्शन नहीं कह सकते, जो कभी विद्यमान ही न रहा हो ॥

यहाँ अदर्शन के अर्थ की लोप संज्ञा होती है, न कि ‘अदर्शन’ शब्द की । यह
बात न वेति विभाषा (१।१।४३) से मण्डूकप्लुतगति' द्वारा ‘इति’ शब्द की अनुवृत्ति
लाकर होती है ॥

यहाँ से ‘अदर्शनम्’ की अनुवृत्ति १।१।६० तक जाती है ॥

१. मण्डूकप्लुत न्याय यह है कि जैसे मण्डूक = मेंढक कूद-कूद कर ही चलते हैं, सरक

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ॥११६०॥

प्रत्ययस्य ६।१॥ लुक्श्लुलुपः १।३॥ स०—लुक् च श्लुश्च लुप् च=लुक्-श्लुलुपः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अन०—अदर्शनम् । 'इति' इत्येतत् पदमत्रापि सम्बध्यते ॥ अर्थः—प्रत्ययस्य अदर्शनस्य लुक्-श्लु-लुप् इत्येताः संज्ञा भवन्ति ॥ उदा०—लुक्—विशाखः स्तौति । श्लु—जुहोति । लुप्—वरणाः पञ्चालाः ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययस्य] प्रत्यय के अदर्शन की [लुक्श्लुलुपः] लुक् श्लु तथा लुप् संज्ञाएं होती हैं ॥ यदि "लुक्" हो जाये ऐसा कहकर प्रत्यय का अदर्शन किया जाये, तो उस प्रत्ययादर्शन की लुक् संज्ञा होती है । इसी प्रकार यदि 'श्लु' द्वारा अदर्शन हो, तो उस प्रत्ययादर्शन की श्लु संज्ञा होगी । तथा 'लुप्' के द्वारा अदर्शन की लुप् संज्ञा हो जायगी । इस प्रकार लुक् श्लु लुप् इन तीनों संज्ञाओं का पृथक्-पृथक् विषय-विभाग हो जाता है । भिन्न-भिन्न प्रकार से किये गये प्रत्यय के अदर्शन होने से इन संज्ञाओं का परस्पर साङ्ख्यं नहीं होता ॥

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥११६१॥

प्रत्ययलोपे ७।१॥ प्रत्ययलक्षणम् १।१॥ स०—प्रत्ययस्य लोपः प्रत्ययलोपः, तस्मिन् प्रत्ययलोपे, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रत्ययो लक्षणं यस्य कार्यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—प्रत्ययस्य लोपे सति प्रत्ययनिमित्तं (प्रत्ययहेतुकं) कार्यं भवति ॥ उदा०—अग्निचित् । सोमसुत् । अधोक् ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययलोपे] प्रत्यय के लोप हो जाने पर [प्रत्ययलक्षणम्] प्रत्यय-लक्षण कार्य हो जाता है, अर्थात् उस प्रत्यय को निमित्त मानकर जो कार्य पाता था, वह उसके लोप हो जाने पर (हट जाने पर) भी हो जावे ॥

यहां लोप शब्द अदर्शनमात्र के लिये प्रयुक्त हुआ है, अतः इससे लुक्, श्लु, लुप् का ग्रहण भी होता है ॥

यहां से 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' की अनुवृत्ति १।१।६२ तक जाती है ॥

न लुमताङ्गस्य ॥११६२॥

न अ० ॥ लुमता ३।१॥ अङ्गस्य ६।१॥ अनु०—प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥ लु अस्मिन्नस्तीति लुमान्, तेन लुमता, तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।६४)

कर नहीं, इसी प्रकार इस सूत्र का 'इति' पद भी बीच के सूत्रों में न बैठकर यहाँ उपस्थित हुआ है ॥

इत्यनेन मतुप् प्रत्ययः ॥ अर्थः—लुमता शब्देन प्रत्ययस्य लोपे (अदर्शने) सति तस्मिन् परतो यदङ्गं तस्य यत् प्रत्ययलक्षणं कार्यं तन्न भवति ॥ उदा०—गर्गाः, मृष्टः, जुहुतः, वरणाः ॥

भाषार्थः—[लुमता] लृक्-इत् और लुप् इन शब्दों के द्वारा जहां प्रत्यय का अदर्शन किया गया हो, उसके परे रहते जो [अङ्गस्य] अङ्ग, उस अङ्ग को जो प्रत्यय-लक्षण कार्य प्राप्त हों, वे [न] नहीं होते । पूर्व सूत्र से प्रत्ययलक्षण कार्य प्राप्त था, सो नहीं हुआ ॥

अचोऽन्त्यादि टि ॥११॥६३॥

अचः ६।१ [निर्धारणे षष्ठी] ॥ अन्त्यादि १।१॥ टि १।१॥ अन्ते भवोऽन्त्यः, दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४) इत्यनेन यत् प्रत्ययः ॥ स०—अन्त्य आदिर्यस्य तद् अन्त्यादि, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—अचां मध्ये योऽन्त्योऽच्, स आदिर्यस्य समुदायस्य, स टिसंज्ञको भवति ॥ उदा०—‘अग्निचित्, सोमसुत् इत्यत्र इत्-उत् शब्दौ । पचेते, पचेथे ॥

भाषार्थः—[अचः] अचों के मध्य में जो [अन्त्यादि] अन्त्य अच्, वह अन्त्य अच् आदि है जिस (समुदाय) का उस (समुदाय) की [टि] टि संज्ञा होती है ॥

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥११॥६४॥

अलः ५।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वः १।१॥ उपधा १।१॥ अर्थः—अन्त्यात् अलः पूर्वो योऽल्, स उपधासंज्ञको भवति ॥ उदा०—भेत्ता, छेत्ता ॥

भाषार्थः—[अन्त्यात्] अन्त्य [अलः] अल् से [पूर्वः] पूर्व जो अल्, उसकी [उपधा] उपधा संज्ञा होती है ॥

[परिभाषा-प्रकरणम्]

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥११॥६५॥

तस्मिन् ७।१॥ इति अ० ॥ निर्दिष्टे ७।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ अर्थः—तस्मिन्निति = सप्तम्या विभक्त्या निर्दिष्टे सति पूर्वस्यैव कार्यं भवति ॥ इहापि इतिकरणोऽर्थ-निर्देशार्थः । तेन ‘तस्मिन्’ इति पदेन सप्तम्यर्थो गृह्यते, न तु तस्मिन् इति शब्दः ॥ उदा०—दध्युदकम्, मध्विदम्, पचत्योदनम् ॥

भाषार्थः—[तस्मिन् इति] सप्तमी विभक्ति से [निर्दिष्टे] निर्देश किया हुआ जो शब्द हो, उससे (अव्यवहित) [पूर्वस्य] पूर्व को ही कार्य होता है ॥ यहां भी ‘इति’ शब्द अर्थनिर्देश के लिये है । सो ‘तस्मिन्’ इस पद से ‘सप्तमी

विभक्ति' का अर्थ लिया जायेगा, न कि 'तस्मिन्' यह शब्द ॥ उदा०—दध्युदकम्, मध्वदम्, पचत्योदनम् । यहां सर्वत्र इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होता है । इस सूत्र में 'अचि' पद सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट है । सो उदकम् इदम् तथा ओदनम् अच् के परे रहते, उससे (अव्यवहित) पूर्व जो क्रमशः इ, उ, इ इन को ही यण् आदेश हुआ है ॥

यहां से 'निर्दिष्टे' की अनुवृत्ति १।१।६६ तक जायगी ॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥१।१।६६॥

तस्मात् ५।१॥ इति अ० ॥ उत्तरस्य ६।१॥ अनु०—निर्दिष्टे॥ अर्थः—पञ्चम्या विभक्त्या निर्दिष्टे सत्युत्तरस्यैव कार्यं भवति ॥ उदा०—आसीनः, द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम् । ओदनं पचति ॥

भाषार्थः—[तस्मात् इति] पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट जो शब्द, उससे [उत्तरस्य] उत्तर को कार्य होता है ॥ 'आसीनः' 'द्वीपम्' आदि की सिद्धि परिशिष्ट १।१।५३ में दिखा ही चुके हैं । ओदनं पचति (चावल पकाता है) यहां पर तिङ्ङितिङ् (दा१।२८) से 'ओदनं' अतिङ् से उत्तर 'पचति' तिङ् को सर्वानुदात्त = निघात हो जाता है । यह 'अतिङ्' में पञ्चमी विभक्ति है, अतः 'अतिङ्' से उत्तर पचति को स्वरकार्य हुआ ॥

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥१।१।६७॥

स्वम् १।१॥ रूपम् १।१॥ शब्दस्य ६।१॥ अशब्दसंज्ञा १।१॥ स०—शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा, षष्ठीतत्पुरुषः, न शब्द संज्ञा अशब्दसंज्ञा, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—इह व्याकरणे यस्य शब्दस्य कार्यमुच्यते, तस्य स्वं रूपं ग्राह्यम्, न तु शब्दार्थः, न च पर्यायवाची शब्दः, शब्दसंज्ञां वर्जयित्वा ॥ उदा०—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् ॥

भाषार्थः—इस व्याकरणशास्त्र में [शब्दस्य] शब्द के [स्वं रूपम्] अपने रूप का ग्रहण होता है, उस शब्द के अर्थ का नहीं, न ही पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होगा, [अशब्दसंज्ञा] शब्दसंज्ञा को छोड़कर ॥ शब्द तथा अर्थ पृथक्-पृथक् दो वस्तु हैं । यह लौकिक रीति है कि यदि हम किसी से कहें कि "अग्निमानय=अग्नि को लाओ", तो वह "आग" ऐसा शब्द नहीं लाता, "आग" का अर्थ जो अङ्गारा है, उसे लाता है, अर्थात् अर्थ से काम लेता है, न कि शब्द से । सो यही बात कहीं व्याकरणशास्त्र में न ले ली जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥

उदाहरण में अग्नेर्दक् (४।२।३२) से अग्नि शब्द से दक् प्रत्यय कहा है, न

कि अग्नि के अर्थ अंगारे = कोयले आदि से ॥ यहां पर यदि अग्नि के अर्थ से ढक् करने लगेंगे, तो सारी अष्टाध्यायी ही भस्म हो जायेगी ॥ इस सूत्र से स्वरूप-ग्रहण हो, ऐसा कहने के कारण ही यहां अग्नि के पर्यायवाची जो वह्नि-ज्वलन-धूमकेतु आदि शब्द हैं, उनसे भी ढक् प्रत्यय नहीं होगा ॥

यहां से 'स्व रूपम्' की अनुवृत्ति १।१।७१ तक जाती है ॥

अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः ॥१।१।६८॥

अणुदित् १।१॥ सवर्णस्य ६।१॥ च अ० ॥ अप्रत्ययः १।१॥ स०—उत् इत् यस्य = उदित्, अण् च उदित् च = अणुदित्, बहुव्रीहिगर्भसमाहारद्वन्द्वः । न प्रत्ययः अप्रत्ययः, नञ् तत्पुरुषः ॥ अनु०—स्व रूपम् ॥ अर्थः—अण्प्रत्याहारः उदित् च सवर्णस्य ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य, प्रत्ययं वर्जयित्वा ॥ अत्र 'अण्' प्रत्याहारः परेण णकारेण गृह्यते ॥ उदा०—अस्य च्वौ (७।४।३२)। अत्र 'अकारेण' सवर्णदीर्घाकारोऽपि गृह्यते, तेन 'मालीभवति' इत्यापि 'ईत्वं' सिध्यति । यस्येति च (६।४।१४८) अत्रापि 'अकारेण' सवर्ण 'आकार' ग्रहणात् 'मालीयः' अत्रापि लोपो भवति । आद्गुणः (६।१।८४) अत्रापि दीर्घस्यापि ग्रहणं भवति । तेन रमा + ईश्वरः = रमे-श्वरः, अत्रापि गुणो भवति ॥ उदित्—कु (कवर्गः), चु (चवर्गः), टु (टवर्गः), तु (तवर्गः), पु (पवर्गः) ॥

भाषार्थः—[अणुदित्] अण् प्रत्याहार (यहां लण् के णकार का ग्रहण होता है), तथा उदित् (उकार इत्वाले वर्ण) अपने स्वरूप तथा अपने [सवर्णस्य] सवर्ण का [च] भी ग्रहण करानेवाले होते हैं, [अप्रत्ययः] प्रत्यय को छोड़कर ॥

पूर्व सूत्र १।१।६७ से शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण प्राप्त था, उसका सवर्ण नहीं लिया जा सकता था, सो इस सूत्र से विधान कर दिया ॥ अस्य च्वौ (७।४।३२); यस्येति च (६।४।१४८); आद्गुणः (६।१।८४) इन सब सूत्रों में ह्रस्व अकार का निर्देश होने पर भी ह्रस्व अकार तथा उसके सवर्ण दीर्घ 'आ' का भी ग्रहण हो जाता है ॥ उदित्—इसी प्रकार कु से कवर्ग (क ख ग घ ङ), चु से चवर्ग (च छ ज झ ञ), टु से टवर्ग (ट ठ ड ढ ण), तु से तवर्ग (त थ द ध न), पु से पवर्ग (प फ ब भ म) का ग्रहण होता है । क्योंकि वग्यो वग्येण सवर्णः (वर्णो०७७) से अपने-अपने वर्गों में होनेवाले वर्ण परस्पर सवर्ण होते हैं ॥

यहां से 'सवर्णस्य' की अनुवृत्ति १।१।६९ तक जाती है ॥

तपरस्तत्कालस्य ॥११॥६६॥

तपरः ११॥ तत्कालस्य ६१॥ स०—तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः, बहु-
व्रीहिः। अथवा तादपि परस्तपरः, पञ्चमीतत्पुरुषः। तस्य कालः तत्कालः, षष्ठीतत्पुरुषः।
तत्कालः कालो यस्य स तत्कालः, उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिसमासः ॥ अनु०—सवर्णस्य,
स्वं रूपम् ॥ अर्थः—तपरो वर्णः तत्कालस्य सवर्णस्य (गुणान्तरयुक्तस्य) स्वस्य च
रूपस्य ग्राहको भवति ॥ उदा०—अतो भिस् ऐस् (७।१।६)—वृक्षैः, प्लक्षैः। आत
ओ णलः (७।१।३४)—पपौ, ददौ ॥

भाषार्थः—[तपरः] तपर (त् परेवाला, तथा जो त् से परे) वर्ण वह [तत्कालस्य]
अपने कालवाले सवर्णों का, तथा अपना भी ग्रहण कराता है, भिन्न कालवाले सवर्ण
का नहीं ॥

तपर वर्ण अपने कालवाले, चाहे भिन्न गुणवाले (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित,
सानुनासिक तथा निरनुनासिक आदि) ही हों, उन सवर्णों का ग्रहण तो करा ही देंगे,
पर भिन्नकालवाले सवर्णों का नहीं ॥

अतो भिस् ऐस् (७।१।६) यहां पर 'अतः' से ह्रस्व अ ही लिया जायेगा। सो
वृक्ष प्लक्ष जो अकारान्त शब्द हैं, उनके भिस् को ऐस् होगा। माला शब्द से परे भिस्
को ऐस् नहीं होगा। इसी प्रकार आत ओ णलः (७।१।३४) में दीर्घ 'आ' को तपर
किया है, तो अकारान्त जो पा वा आदि धातु हैं, इनसे परे ही णल् को अकारादेश
होगा ॥

आदिरन्त्येन सहेता ॥११॥७०॥

आदिः ११॥ अन्त्येन ३१॥ सह अ० ॥ इता ३१॥ अनु०—स्वं रूपम् ॥
अर्थः—आदिः अन्त्येन इता—इत्संज्ञकेन वर्णेन सह तयोर्मध्यस्थानां स्वस्य च रूपस्य
ग्राहको भवति ॥ उदा०—अण्=अ इ उ। अक्=अ इ उ ऋ लृ। अच्=
अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ॥

भाषार्थः—[आदिः] आदि वर्ण [अन्त्येन] अन्त्य [इता सह] इत्संज्ञक वर्ण
के साथ मिलकर दोनों के मध्य में स्थित वर्णों का, तथा अपने स्वरूप का भी ग्रहण
कराता है ॥

येन विधिस्तदन्तस्य ॥११॥७१॥

येन ३१॥ विधिः ११॥ तदन्तस्य ६१॥ स०—सोऽन्ते यस्य स तदन्तः, तस्य
तदन्तस्य, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्वं रूपम् ॥ अर्थः—येन (विशेषणेन) विधिविधीयते,

स तदन्तस्य समुदायस्य स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति ॥ उदा०—अचो यत् (१।१।६७)—चयम्, जयम् । एरच् (१।१।५६)—चयः, जयः, अयः ॥

भाषार्थः—[येन] जिस विशेषण से [विधिः] विधि की जावे, वह विशेषण [तदन्तस्य] अन्त में है जिसके, उस विशेषणान्त समुदाय का ग्राहक होता है, और अपने स्वरूप का भी ॥

यहां विशेषण-विशेष्य प्रक्रिया इस प्रकार समझनी चाहिये—‘येन’ शब्द में करण में तृतीया है । करण से कर्त्ता का भी अनुमान हो जाता है, अतः अर्थापत्ति से कर्त्ता भी सन्निहित हुआ । कर्त्ता स्वतन्त्र होता है, और करण परतन्त्र, अर्थात् विधियों में कर्त्ता विशेष्य तथा करण विशेषण होगा । विशेषण-विशेष्यभाव विवक्षा के अधीन है । एरच् (१।१।५६) में अधिकारप्राप्त ‘धातु’ कर्त्ता, इकार करण के द्वारा अच् प्रत्यय का विधान करता है । अर्थात् इकार विशेषणरूप से विवक्षित है, और ‘धातु’ विशेष्यरूप से । इस अवस्था में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होती है । इस से इकारान्त चि जि आदि धातुओं से, तथा इण् धातु से अच् प्रत्यय होकर क्रमशः चयः जयः अयः रूप बन जाते हैं ॥

[वृद्धसंज्ञा-प्रकरणम्]

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥ १।१।७२ ॥

वृद्धिः १।१॥ यस्य ६।१॥ अचाम् ६।३ [निर्धारणे षष्ठी] ॥ आदिः १।१॥ तत् १।१॥ वृद्धम् १।१॥ अर्थः—यस्य समुदायस्य अचां मध्ये आदिः अच् वृद्धिसंज्ञको भवति, तत् समुदायरूपं वृद्धसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—शालीयः, मालीयः । ओपगवीयः, कापटवीयः ॥

भाषार्थः—[यस्य] जिस समुदाय के [अचाम्] अचों में [आदिः] आदि अच् [वृद्धिः] वृद्धिसंज्ञक हो, [तत्] उस समुदाय की [वृद्धम्] वृद्ध संज्ञा होती है ॥

शालीयः, मालीयः की सिद्धि परिशिष्ट १।१।१ में दिखा चुके हैं । इसी प्रकार ‘ओपगवः’, ‘कापटवः’ शब्दों का आदि अच् वृद्धिसंज्ञक है, अतः वृद्ध संज्ञा होकर पूर्ववत् छ प्रत्यय हो गया ॥

यहां से ‘वृद्धम्’ की अनुवृत्ति १।१।७४ तक, तथा यस्याचामादिः की १।१।७४ में ही जाती है, १।१।७३ में नहीं जाती ॥

त्यदादीनि च ॥ १।१।७३ ॥

त्यदादीनि १।३॥ च अ० ॥ स०—त्यद् आदिर्येषाम् तानीमानि त्यदादीनि,

बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वृद्धम् ॥ अर्थः—त्यदादीनि शब्दरूपाणि वृद्धसंज्ञकानि भवन्ति ॥
उदा०—त्यदीयम् । तदीयम् । एतदीयम् ॥

भाषार्थः—[त्यदादीनि] त्यदादिगण में पड़े शब्दों की [च] भी वृद्ध संज्ञा होती है ॥ वृद्ध संज्ञा का प्रयोजन पूर्ववत् समझें ॥

उदा०—त्यदीयम् (उसका), तदीयम् (उसका), एतदीयम् (इसका) ॥

एङ् प्राचां देशे ॥ ११७४ ॥

एङ् १११॥ प्राचाम् ६१३॥ देशे ७११॥ अनु०—यस्याचामादिः, वृद्धम् ॥
अर्थः—यस्य समुदायस्य अचाम् आदिः 'एङ्', तस्य प्राचां देशाभिधाने वृद्धसंज्ञा भवति ॥ उदा०—एणीपचने भवः=एणीपचनीयः । गोनर्दे भवः=गोनर्दीयः । भोजकटे भवः=भोजकटीयः ॥

भाषार्थः—जिस समुदाय के अर्चों का आदि अच् [एङ्] एङ् हो, उसकी (प्राचां देशे) पूर्वदेश को कहने में वृद्ध संज्ञा होती है ॥

उदा०—एणीपचनीयः (एणीपचन देश में रहनेवाला) । गोनर्दीयः (आजकल का गोंडा प्रदेश । यह महाभाष्यकार पतञ्जलि का नाम है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है) । भोजकटीयः (भोजकट नगर प्राचीन विदर्भ की राजधानी थी, उसमें होनेवाला) । यहां भी वृद्ध संज्ञा का प्रयोजन पूर्ववत् ही है ॥

इति प्रथमः पादः

—:०:—

डित्

द्वितीयः पादः

गाड्, कुटादि + अ-अ/ग-ङ्

[डित्कित्-प्रकरणम्]

डितवत्

गाड् कुटादिभ्योऽञ्जिण्डित् ॥१२॥१॥

गाड् कुटादिभ्यः ॥३॥ अञ्जित् १॥१॥ डित् १॥१॥ स०—कुट आदिर्येषां ते कुटादयः, गाड् च कुटादयश्च गाड् कुटादयः, तेभ्यः-----बहुव्रीहिगर्भेतर-योगद्वन्द्वः । अश्च णश्च ञ्णी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । ञ्णी इतो यस्य स ञ्जित्, न ञ्जित् अञ्जित्, बहुव्रीहिगर्भो नञत्पुरुषः ॥ अर्थः—गाड्घातोः कुटादिभ्यश्च घातुभ्यः परे ये जित्णित्भिन्नप्रत्ययास्ते डित्वद् भवन्ति । गाड् इत्यनेन इडादेशो गाड् गृह्यते, यो विभाषा लुङ् लृङोः (२।४।५०) इत्यनेन सम्पद्यते । कुटादयोऽपि (तुदा०) कुट कौटिल्ये इत्यारभ्य कुङ् शब्दे इति यावद् गृह्यन्ते ॥ उदा०—गाड्—अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत । कुटादिभ्यः—कुटिता, कुटितुम्, कुटितव्यम् । उत्पुटिता, उत्पुटितुम्, उत्पुटितव्यम् ॥

भाषार्थः—[गाड् कुटादिभ्यः] गाड् तथा कुटादि घातुभ्यो से परे जो [अञ्जित्] जित्-णित्-भिन्न प्रत्यय, वह [डित्] डितवत् (डित् के समान) होते हैं ॥

गाड् से यहां इङ् घातु का आदेश जो 'गाड्' वह लिया गया है । कुटादिगण भी 'कुट कौटिल्ये' घातु से लेकर 'कुङ् शब्दे' तक जानना चाहिये ॥

यहां से 'डित्' की अनुवृत्ति १।२।४ तक जायेगी ॥

डित्

विज ईट् ॥१२॥२॥

ओविजी [विज्] + ईट्-अपि डितवत्

विजः ५।१॥ ईट् १।१॥ अनु०—डित् ॥ अर्थः—ओविजी भयसञ्चलनयोः (तुदा० आ०) इत्येतस्मात् पर इडादिः प्रत्ययो डित्वद् भवति । उदा०—उद्विजिता, उद्विजितुम्, उद्विजितव्यम् ॥

भाषार्थः—[विजः] ओविजी घातु से परे [ईट्] इडादि प्रत्यय डित्वत् होत हैं ॥ उद्विजिता (कंपानेवाला) आवि की सिद्धियां परि० १।१।४ के समान ही हैं । सर्वत्र पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण की प्राप्ति का विकडति च (१।१।५) से निषेध हो जाये, यही डित् करने का प्रयोजन है ॥

यहां से 'ईट्' की अनुवृत्ति १।२।३ तक जायेगी ॥

उर्णुञ् [इट्] + इट्-आदि विभाषणोः ॥११२।३॥ डि०

विभाषा १।१॥ ऊर्णोः ५।१॥ अनु०—इट् डिट् ॥ अर्थः—‘ऊर्णुञ् आच्छादने’ (अदा० उ०) अस्मात् पर इडादिः प्रत्ययो विभाषा डिद्वद् भवति ॥ उदा०—ऊर्णुविता ऊर्णविता ॥

भाषार्थः—[ऊर्णोः] ऊर्णुञ् धातु से परे इडादि प्रत्यय [विभाषा] विकल्प करके डिद्वत् होता है ॥ डिट् पक्ष में सार्वधातु० (७।३।८४) से प्राप्त गुण का पूर्ववत् निषेध होकर ‘ऊर्णु इट् तृच् सु’ रहा । अचि स्नुधातु० (६।४।७७), और डिच्च (१।१।५२) लगकर उकार के स्थान में उवङ् हुआ, सो ऊर्णुवङ् इ तृ सु = ऊर्णुव् इ तृ सु रहा । शेष परि० १।१।२ के ‘चेता’ के समान होकर ऊर्णुविता बना । अडिट् पक्ष में ७।३।८४ से गुण होकर ‘ऊर्णो इ तृ सु’ रहा । सो एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अवावेश होकर ‘ऊर्णविता’ बन गया ॥

उदा०—ऊर्णुविता (आच्छादन करनेवाला), ऊर्णविता ॥

डि०

सार्वधातुकमपित् ॥१२।४॥

सार्वधातुकम् १।१॥ अपित् १।१॥ स०—प् इत् यस्य स पित्, बहुव्रीहिः । न पित् अपित्, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—डिट् ॥ अर्थः—अपित् सार्वधातुकं डिद्वद् भवति ॥ उदा०—कुरुतः, कुर्वन्ति । चिनुतः, चिन्वन्ति ॥

अपित् सार्वधातुक डि०

भाषार्थः—[अपित्] पित् भिन्न (जो पकार इत्वाला नहीं) [सार्वधातुकम्] सार्वधातुक डिद्वत् होता है ॥

यहां से ‘अपित्’ की अनुवृत्ति १।२।५ तक जायेगी ॥

कि०

असंयोगाल्लिट् कित् ॥१२।५॥

असंयोगात् ५।१॥ लिट् १।१॥ कित् १।१॥ स०—न संयोगः असंयोगः, तस्मादसंयोगात्, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अपित् ॥ अर्थः—असंयोगान्ताद्धातोः परोऽपिल्लिट् प्रत्ययः क्द्वद् भवति ॥ उदा०—बिभिदतुः बिभिदुः । चिच्छिदतुः चिच्छिदुः । ईजंतुः ईजुः ॥

असंयोगात् + लिट्

भाषार्थः—[असंयोगात्] संयोग जिसके अन्त में न हो ऐसी धातु से परे अपित् [लिट्] लिट् प्रत्यय [किट्] कित्वत् होता है ॥

यहां से ‘लिट्’ की अनुवृत्ति १।२।६ तक, तथा ‘किट्’ की १।२।२६ तक जायेगी ॥

पादः]

प्रथमोऽध्यायः

इधि, भू + क्ति

१६ कितवत्

इन्धिभवतिभ्यां च ॥१२।६॥

कित

इन्धिभवतिभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ स०—इन्धिश्च भवतिश्च इन्धिभवती, ताभ्याम् इन्धिभवतिभ्याम् इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लिट्, कित् ॥ अर्थः—इन्धि भवति इत्येताभ्यां परो लिट् प्रत्ययः किद्वद् भवति ॥ उदा०—पुत्र ईधे अथर्वणः (ऋ० ६।१६।१४) । समीधे दस्युहन्तमम् (ऋ० ६।१६।१५) । बभूव बभूविथ ॥

भाषार्थः—[इन्धिभवतिभ्याम्] इन्धि तथा तथा भू धातु से [च] भी परे लिट् प्रत्यय कित्वत् होता है ॥

इन्ध से उत्तर लिट् को कित्वत् करने का प्रयोजन इन्ध के अनुनासिक का ६।४।२४ से लोप करना है, तथा अपित् स्थानों में तो भू से उत्तर लिट् १।२।५ से कित्वत् हो ही जायेगा । पित् (=णल् थल् णल् जो पित्स्थानी होने से कित्वत् नहीं हो सकते) स्थानों में भी कित्वत् होकर वृद्धि तथा गुण का निषेध हो जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥

मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद, वस + क्त्वा = कित्वत्

मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा ॥१२।७॥

कित

मृडमृद...वसः ५।१॥ क्त्वा १।१॥ स०—मृडश्च मृदश्च गुधश्च कुषश्च क्लिशश्च वदश्च वसश्च मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः, तस्मात् मृड...वसः, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—कित् ॥ अर्थः—‘मृड मुखने’ (तुदा० प०), ‘मृद क्षोदे’ (ऋचा० प०), ‘गुध रोधे’ (ऋचा० प०), ‘कुष निष्कर्षे’ (ऋया० प०), ‘क्लिशू विबाधने’ (ऋया० प०), ‘वद व्यक्तायां वाचि’ (म्वा० प०), ‘वस निवासे’ (म्वादि प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः क्त्वाप्रत्ययः किद्वद् भवति ॥ उदा०—मृडित्वा, मृदित्वा, गुधित्वा, कुषित्वा, क्लिशित्वा, उदित्वा, उषित्वा ॥

भाषार्थः—[मृड...वसः] मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद तथा वस् इन धातुओं से उत्तर [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय कित्वत् होता है ॥

विशेष—क्त्वा प्रत्यय तो कित् है ही, पुनः उसे कित्वत् करने का यह प्रयोजन है कि न क्त्वा सेट् (१।२।१८) सूत्र से सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, ऐसा कहा है । ये सब सेट् धातु हैं, सो इनसे उत्तर जो क्त्वा वह भी कित् होते हुए भी कित् न माना जाता । कित् माना जाये, अतः यह सूत्र पुरस्तादपवाद रूप में बनाया है । गुध कुष क्लिश इन धातुओं को विकल्प से कित्वत् रलो व्युपधादलादेः संश्च (१।२।२६) से प्राप्त था, नित्य कित्वत् हो, इसलिये यहां पुनः कहा है ॥

यहां से ‘क्त्वा’ की अनुवृत्ति १।२।८ तक जायेगी ॥

रुद, विद, मुष, ग्रह, स्वपि, प्रच्छ + सेन = कितवत्
क्त्वा

४०

अष्टाध्यायी-प्रथमावृत्ती

[द्वितीयः

किं

रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च ॥१२॥८॥

रुद.....प्रच्छः ५११॥ सन् १११॥ च अ० ॥ स०—रुदश्च, विदश्च, मुषश्च ग्रहिश्च, स्वपिश्च, प्रट् च रुदविद.....प्रट्, तस्मात् रुद.....प्रच्छः, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—क्त्वा, कित् ॥ अर्थः—‘रुदिर् अथ विमोचने’ (अदा० प०), ‘विद ज्ञाने’ (अदा० प०), ‘मुष स्तेये’ (क्रधा० प०), ‘ग्रह उपादाने’ (क्रधा० उ०), ‘जिष्ण्वप् शये’ (अदा० प०), ‘प्रच्छ जीप्सायाम्’ (तुदा० प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परो क्त्वासनो प्रत्ययो किद्वद् भवतः ॥ उदा०—रुदित्वा, रुहदिषति । विदित्वा, विविदिषति । मुषित्वा, मुमुषिषति । गृहीत्वा, जिघृक्षति । सुप्त्वा, सुषुप्सति । पृष्ट्वा, पिपृच्छिषति ॥

भाषार्थः—[रुद... प्रच्छः] रुद, विद, मुष, ग्रह, स्वपि तथा प्रच्छ इन धातुओं से परे [सन्] सन् [च] और क्त्वा प्रत्यय कित्वत् होते हैं । रुद विद मुष इन धातुओं को रलो व्युपधा० (११२।२६) से विकल्प से कित्वत् प्राप्त था, नित्यार्थ यह वचन है । ग्रह का ग्रहण विध्यर्थ है । स्वपि प्रच्छ धातु अनिट् हैं । सो इन्हें ११२।१८ से कित् का निषेध प्राप्त ही नहीं था, पुनः इनसे उत्तर क्त्वा को कित् करना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो कित् है ही । तब इनका ग्रहण सन् को कित् करने के लिये ही है, न कि क्त्वा को कित् करने के लिए, ऐसा जानना चाहिये ॥

यहां से ‘सन्’ की अनुवृत्ति ११२।१० तक जायेगी ॥

इ, उ, ऋ, लृ - अन्त + झल - आदि = कित्वत्
इको भल् ॥१२।१६॥

इकः ५११॥ भल् १११॥ अनु०—सन्, कित् ॥ अर्थः—इगन्ताद् धातोः परो भलादिः सन् किद्वद् भवति ॥ उदा०—चिचीषति, तुष्टुषति, चिकीर्षति, जिहीर्षति ॥

भाषार्थः—[इकः] इक् अन्तवाले धातु से परे [भल्] भलादि सन् कित्वत् होता है ॥

किं

यहां से ‘इकः’ की अनुवृत्ति ११२।११, तथा ‘भल्’ की अनुवृत्ति ११२।१३ तक जायेगी ॥

इ, उ, ऋ, लृ - अन्त + झल = कित्वत्
इको भल् ॥१२।१०॥

हलन्तात् ५११॥ च० अ० ॥ स०—हल् चासौ अन्तश्च हलन्तः तस्मात् हलन्तात्, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—इको भल्, सन्, कित् ॥ अर्थः—इकः समीपो यो हल् तस्मात् परो भलादिः सन् किद्वद् भवति ॥ अन्तशब्दोऽत्र समीपवाची ॥ उदा०—बिभित्सति, बुभुत्सते ॥

इक-समीप एल् + लिङ् = कितवत्

पादः]

प्रथमोऽध्यायः

४१

भाषार्थः—इक् के [हलन्तात्] समीप जो हल् उससे परे [च] भी भलादि सन् कितवत् होता है ॥ यहां अन्त शब्द समीपवाची है, अवयववाची नहीं ॥

यहां से 'हलन्तात्' की अनुवृत्ति ११२११ तक जायेगी ॥

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु ॥११२११॥

किन्

लिङ्सिचौ ११२॥ आत्मनेपदेषु ७३॥ स०—लिङ् च सिच् च लिङ्सिचौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—हलन्तात्, इको भल्, कित् ॥ अर्थः—इकः समीपाद् हलः परौ भलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदविषये किद्वद् भवतः ॥ उदा०—लिङ्—भित्सीष्ट, भुत्सीष्ट । सिच्—अभित्त, अबुद्ध ॥

भाषार्थः—इक् के समीप जो हल् उससे परे भलादि [लिङ्सिचौ] लिङ् और सिच् [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपद विषय में कितवत् होते हैं ॥

यहां से 'लिङ्सिचौ' की अनुवृत्ति ११२१३ तक, तथा आत्मनेपदेषु की ११२१७ तक जायेगी ॥

किन्

उश्च ॥११२१२॥

अ + लिङ् = कितवत्
सिच्

उः ५१॥ च अ० ॥ अनु०—लिङ्सिचावात्मनेपदेषु, भल्, कित् ॥ अर्थः—ऋवर्णान्ताद्धातोः परौ भलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदविषये किद्वद् भवतः ॥ उदा०—लिङ्—कृषीष्ट, हृषीष्ट । सिच्—अकृत, अहृत ॥

भाषार्थः—[उः] ऋवर्णान्त धातुओं से परे [च] भी भलादि लिङ् और सिच् आत्मनेपद विषय में कितवत् होते हैं ॥ सब सिद्धियां परि० ११२११ के समान जानें । कितवत् होने से ७३॥८४ से प्राप्त गुण का निषेध पूर्ववत् हो जाता है । अकृत अहृत में सिच् के सकार का लोप ह्रस्वादङ्गात् (८१२१७) से होता है ॥

उदा०—लिङ्—कृषीष्ट (वह करे), हृषीष्ट (वह हरण करे) । सिच्—अकृत (उसने किया), अहृत (उसने हरण किया) ॥

किन्

वा गमः ॥११२१३॥

वा अ० ॥ गमः ५१॥ अनु०—लिङ्सिचावात्मनेपदेषु, भल्, कित् ॥ अर्थः—गम्धातोः परौ भलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदविषये विकल्पेन किद्वद् भवतः ॥ उदा०—लिङ्—संगसीष्ट, संगंसीष्ट । सिच्—समगत, समगंस्त ॥

भाषार्थः—[गमः] गम् धातु से परे भलादि लिङ् और सिच् आत्मनेपद विषय में [वा] विकल्प से कितवत् होते हैं ॥ गम् + लिङ् [आत्मनेपद] = विकल्प

सिच्

४२
हन् + सिच् [आत्मने] = कितवत्

अष्टाध्यायी-प्रथमावृत्ती

[द्वितीयः]

हन्: सिच् ॥१२॥१४॥

कित

हन्: ५।१॥ सिच् १।१॥ अनु०—आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—हन्घातोः परः सिच् आत्मनेपदविषये किद्वद् भवति ॥ उदा०—आहत, आहसाताम्, आहसत ॥

भाषार्थः—(हन्:) हन् घातु से परे [सिच्] सिच् आत्मनेपदविषय में कित्वत् होता है ॥

आहत में समगत के समान ही कित्वत् होने से अनुनासिकलोप होकर ८।२।२७ से सिच् के सकार का लोप हुआ है। आडो यमहनः (१।३।२८) सूत्र से हन् घातु से आत्मनेपद हो जायेगा। आहसत में 'ह' को अत् आदेश आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।१५) से हो जाता है ॥ उदा०—आहत (उसने मारा), आहसाताम्, आहसत ॥

यहाँ से 'सिच्' की अनुवृत्ति १।२।१७ तक जायेगी ॥

यम + सिच् = कितवत्
[विदायत] [आत्मने]

यमो गन्धने ॥१२॥१५॥

कित

यमः ५।१॥ गन्धने ७।१॥ अनु०—सिच्, आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—गन्धनेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम् घातोः परः सिच् आत्मनेपदविषये किद्वद् भवति ॥ गन्धनं = सूचनम्, परस्य दोषाविष्करणम् ॥ उदा०—उदायत, उदायसाताम्, उदायसत ॥

भाषार्थः—[गन्धने] गन्धन अर्थ में वर्त्तमान [यमः] यम् घातु से परे आत्मनेपद विषय में सिच् प्रत्यय कित्वत् होता है ॥ गन्धन चुगली करने को कहते हैं ॥

उदायत, यहाँ पर भी कित् करने का प्रयोजन अनुनासिकलोप करना ही है। तदनन्तर सिच् के सकार का लोप पूर्ववत् ही हो जायेगा। आत्मनेपद भी आडो यमहनः (१।३।२८) से हो जाता है। उत् आड् यम् सिच् त=उदायसत्=उदायत (उसने चुगली की) बन गया ॥

यम + सिच् = कितवत्
[विदायत] [आत्मने]

विभाषोपयमने ॥१२॥१६॥

कित

विभाषा १।१॥ उपयमने ७।२॥ अनु०—यमः, सिच्, आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—उपयमनेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम् घातोः परः सिच् प्रत्ययः आत्मनेपदविषये विकल्पेन किद्वद् भवति ॥ उपयमनं पाणिग्रहणम् ॥ उदा०—उपायत कन्याम्, उपायस्त कन्याम् ॥

भाषार्थः—[उपयमने] उपयमन अर्थ में वर्त्तमान यम् घातु से परे आत्मनेपद विषय में सिच् प्रत्यय [विभाषा] विकल्प करके कित्वत् होता है ॥ उपयमन विवाह करने को कहते हैं ॥

उप आङ् पूर्वक 'उपायत्' तथा 'उपायंस्त' की सिद्धि 'समगत समगंस्त' के समान परि० १।२।१३ में देखें । कित् पक्ष में अनुनासिकलोप, तथा सिच् के सकार का लोप होकर—उपायत् कन्याम् (उसने कन्या से विवाह किया), तथा अकित् पक्ष में उपायंस्त कन्याम् बनेगा ॥

कित्

स्था, यु +
स्थाघ्वोरिच्च ॥१।२।१७॥

सिच् = कित्वात्
इके का आदेश

स्थाघ्वोः ६।२॥ इत् १।१॥ च अ० ॥ स०—स्थाश्च घुश्च स्थाघू, तयोः स्थाघ्वोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सिच्, आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—स्थाघातोः घुसंज्ञकेभ्यश्च परः सिच् किद्वद् भवति, इकारश्चान्त्यादेशः ॥ उदा०—उपास्थित, उपास्थिषाताम्, उपास्थिषत् । घुसंज्ञकानाम्—अदित, अधित ॥

भाषार्थः—[स्थाघ्वोः] स्था तथा घुसंज्ञक धातुओं से परे सिच् कित्वात् होता है, और [इत्] इकारादेश [च] भी हो जाता है ॥

कित्-निषेध

न क्त्वा सेट् ॥१।२।१८॥

सेट् धातु + क्त्वा
= अकित्वात्

न अ० ॥ क्त्वा लुप्तविभक्तिनिर्देशः ॥ सेट् १।१॥ स०—सह इटा सेट्, तेन सहेति० (२।२।२८) इति बहुव्रीहिसमासः ॥ अनु०—कित् ॥ अर्थः—सेट् क्त्वाप्रत्ययः कित् भवति ॥ उदा०—देवित्वा, वर्तित्वा, वर्धित्वा ॥

भाषार्थः—[सेट्] सेट् [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय कित् [न] नहीं होता है ॥ कित् का निषेध करने से ७।३।८६ से गुण हो जाता है, अन्यथा विडति च (१।१।१५) से निषेध हो जाता । दिव् इट् त्वा=देवित्वा (क्रीडा करके), वृत् इट् त्वा=वर्तित्वा (बरत कर), वृध् इट् त्वा=वर्धित्वा (बढ़कर) बनेंगे ॥

यहां से 'न' 'सेट्' की अनुवृत्ति १।२।२६ तक जायेगी ॥

कित्-निषेध

निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्विदिधृषः ॥१।२।१९॥

निष्ठा १।१॥ शीङ्स्विदिमिदिक्विदिधृषः ५।१॥ स०—शीङ् च स्विदिश्च मिदिश्च क्विदिश्च घृट् च, शीङ्...घृट्, तस्मात् शीङ्...घृषः, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—न सेट्, कित् ॥ अर्थः—शीङ् स्वप्ने (अदा० आ०), त्रिष्विदा गात्रप्रक्षरणे (दिवा० प०), त्रिमिदा स्नेहने (दिवा० प०), त्रिक्विदा स्नेहनमोचनयोः (दिवा० प०), त्रिधृषा प्रागल्भ्ये (स्वा० प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः सेट् निष्ठाप्रत्ययः कित् न भवति ॥

सेट् शीङ्, स्वि, मि, क्वि, धृप् + क्त्वा = अकित्वात्

उदा०—शयितः शयितवान्, प्रस्वेदितः प्रस्वेदितवान्, प्रमेदितः प्रमेदितवान्, प्रक्ष्वेदितः प्रक्ष्वेदितवान्, प्रघर्षितः प्रघर्षितवान् ॥

भाषार्थः—[शीङ् घृषः] शीङ्, स्विद्, मिद्, क्ष्विद् तथा घृष् घातुओं से परे सेट् [निष्ठा] निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता है ॥

निष्ठाप्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धियां परि० १।१।५ में दर्शाई हैं, उसी प्रकार यहां भी जानें। सेट् होने से सर्वत्र इट् आगम ७।२।३५ से हो जाता है। कित् निषेध करने का सर्वत्र यही प्रयोजन है कि ७।३।८६ से प्राप्त गुण हो जाय, अन्यथा १।१।५ से निषेध हो जाता ॥

उदा०—शयितः (सोया हुआ) शयितवान् (वह सोया), प्रस्वेदितः (पसीने से भीगा हुआ) प्रस्वेदितवान् (वह पसीने से भीगा), प्रमेदितः (स्नेह किया हुआ) प्रमेदितवान् (उसने स्नेह किया), प्रक्ष्वेदितः (स्नेह किया हुआ) प्रक्ष्वेदितवान् (उसने स्नेह किया), प्रघर्षितः (ढीठ बना हुआ) प्रघर्षितवान् (उसने ढिठाई की) ॥

यहां से “निष्ठा” की अनुवृत्ति १।२।२२ तक जाती है ॥

कित् निषेध

मृषस्तितिक्षायाम् ॥१।२।२०॥

मृषः ५।१॥ तितिक्षायाम् ७।१॥ अनु०—निष्ठा, न सेट्, कित्। अर्थः—तितिक्षायामर्थे वर्तमानात् मृषघातोः परः सेट् निष्ठाप्रत्ययो न किद् भवति ॥ तितिक्षा = क्षमा ॥ उदा०—मर्षितः, मर्षितवान् ॥

भाषार्थः—[तितिक्षायाम्] क्षमा अर्थ में वर्तमान [मृषः] मृष घातु से परे सेट् निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता ॥ मृष + क् + स्विद्, (स्व) = अकितवान्

उदा०—मर्षितः (क्षमा किया हुआ) मर्षितवान् (उसने क्षमा किया)। पूर्ववत् कित् निषेध होने से गुण हो जाता है ॥

कित् वा

उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् ॥१।२।२१॥

उदुपधात् ५।१॥ भावादिकर्मणोः ७।२॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—उत् उपधा यस्य स उदुपधः, तस्मात् उदुपधात्, बहुव्रीहिः। आदि चादः कर्म आदिकर्म, कर्मधारयस्तत्पुरुषः। भावश्च आदिकर्म च भावादिकर्मणी, तयोः भावादिकर्मणोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठा, न सेट्, कित् ॥ अर्थः—उदुपधाद्भातोः परो भावे आदिकर्मणि च वर्तमानः सेट् निष्ठाप्रत्ययोन्यतरस्याम् = विकल्पेन कित् न भवति ॥

उदा०—भावे—द्योतितमनेन, द्युतितमनेन। मोदितमनेन, मुदितमनेन ॥ आदिकर्मणि—प्रद्योतितः, प्रद्युतितः। प्रमोदितः, प्रमुदितः ॥

उद्-उपधा-धातु

+ सेट् निष्ठा = विकल्प से

पादः] [भाववाच्य, प्रथमोऽध्यायः
प्रथमोऽर्थः]

४५
अकितम्

भाषार्थः—[उदुपधात्] उकार जिसकी उपधा है, ऐसी धातु से परे [भाववाच्य-कर्मणोः] भाववाच्य तथा आदिकर्म में वर्तमान जो सेट् निष्ठा प्रत्यय वह [अन्यतर-स्याम्] विकल्प करके कित् नहीं होता ॥ आदिकर्म क्रिया की प्रारम्भिक अवस्था को कहते हैं ॥ उदा०—द्योतितमनेन (यह प्रकाशित हुआ) द्युतितमनेन । मोदितमनेन (यह प्रसन्न हुआ) मुदितमनेन । आदिकर्म में—प्रद्योतितः (प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ) प्रद्युतितः । प्रमोदितः (प्रसन्न होने लगा) प्रमुदितः ॥

द्युत् तथा मुद् उकारोपध धातुएं हैं। सो कित् निषेध पक्ष में गुण, तथा कित् पक्ष में गुण निषेध हो जाता है । नपुंसके भावे क्तः (३।३।११४) से भाव में क्त प्रत्यय हुआ है, तथा आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या (वा० ३।२।१०२) इस वाक्तिक से आदिकर्म को कहने में क्त प्रत्यय हुआ है । भाव, कर्म, कर्त्ता की विशेष व्याख्या भाव-कर्मणोः (१।३।१३) सूत्र पर देखें ॥

कित् निषेध पूडः क्त्वा च ॥१।२।२२॥ पूड् + सेट् क्त = अकित्

पूडः ५।१॥ क्त्वा लुप्तविभक्तिकः ॥ च अ० ॥ अनु०—निष्ठा, न सेट्, कित् ॥ अर्थः—पूड् पवने (भ्वा० आ०) अस्माद् धातोः परः सेट् निष्ठा क्त्वा च कित् न भवति ॥ उदा०—पवितः पवितवान् । पवित्वा ॥

भाषार्थः—[पूडः] पूड् धातु से परे सेट् निष्ठा, तथा सेट् [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय [च] भी कित् नहीं होता है ॥

उदा०—पवितः (पवित्र किया हुआ) पवितवान् (पवित्र किया) । पवित्वा (पवित्र करके) ॥

पवितः आदि में पूडश्च (७।२।५१) से इट् आगम पक्ष में होता है । सो सेट् पक्ष में कित् निषेध होने से गुण होकर 'पवितः' आदि रूप बनेंगे । तथा जिस पक्ष में इट् आगम नहीं होगा, उस पक्ष में कित् निषेध नहीं होगा । सो गुण का निषेध होकर पूत पूतवान् तथा पूत्वा रूप भी बनते हैं ॥

यहां से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति १।२।२६ तक जाती है ॥

कित् वा नोपधात्थफान्ताद्वा ॥१।२।२३॥

नोपधात् ५।१॥ थफान्तात् ५।१॥ वा अ० ॥ स०—न उपधा यस्य स नोपधः, तस्माद्, बहुव्रीहिः । थश्च फश्च थफी, थफी अन्ते यस्य स थफान्तः, तस्मात्... द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—क्त्वा, न सेट्, कित् ॥ अर्थः—नकारोपधाद् थकारान्ताद् फकारान्ताच्च धातोः परः सेट् क्त्वा प्रत्ययो वा न किद् भवति ॥ उदा०—ग्रथित्वा ग्रन्थित्वा, अथित्वा अन्थित्वा । गुफित्वा गुम्फित्वा ॥

न-उपधा-धातु + सेट् क्त्वा = विकल्प
थान्त
फान्त
अकित्

भाषार्थः—[नोपधात्] नकार उपधावाली धातुयें यदि वे [यफान्तात्] यकारान्त और फकारान्त हों, तो उनसे परे जो सेट् क्त्वा प्रत्यय वह [वा] विकल्प करके कित् नहीं होता ॥ न क्त्वा सेट् (१।२।१८) से नित्य ही कित्त्व निषेध प्राप्त था, विकल्प विधान कर दिया है ॥

उदा०—ग्रथित्वा (बांधकर) ग्रन्थित्वा; श्रथित्वा (छूट कर) श्रन्थित्वा, गुफित्वा (गूँथकर) गुम्फित्वा ॥

ग्रन्थ श्रन्थ धातुयें नकारोपध तथा यकारान्त हैं, सो कित् पक्ष में अनिदितां हल० (३।४।२४) से अनुनासिक लोप होगा। तथा अकित् पक्ष में नहीं होगा। इसी प्रकार गुम्फ धातु नकारोपध तथा फकारान्त है, उसमें भी ऐसे ही जानें ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति १।२।२६ तक जायेगी ॥

वञ्चित् लुञ्च्यत् इच्च ॥१।२।२४॥

कित् वा

वञ्चित् लुञ्च्यत्: ५।१॥ च अ० ॥ स०—वञ्चित्श्च लुञ्चित्श्च ऋत् च वञ्चित् लुञ्च्यत्, तस्मात्... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—वा क्त्वा न सेट् कित् ॥

अर्थः—वञ्चु प्रलम्भने (चुरा० आ०), लुञ्च अपनयने (भ्वा० प०), ऋत् सीत्रो धातुः घृणायाम्, इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः सेट् क्त्वा वा न किद् भवति ॥ उदा०—वचित्वा वञ्चित्वा। लुचित्वा लुञ्चित्वा। ऋतित्वा अतित्वा ॥

भाषार्थः—[वञ्चि... तः] वञ्चु, लुञ्च, ऋत् इन धातुओं से परे [च] भी सेट् क्त्वा विकल्प करके कित् नहीं होता ॥ पूर्ववत् सेट् क्त्वा को कित्त्व निषेध प्राप्त था, विकल्प विधान कर दिया है ॥

उदा०—वचित्वा (ठगकर) वञ्चित्वा। लुचित्वा (दूर करके) लुञ्चित्वा। ऋतित्वा (घृणा करके) अतित्वा ॥

कित् पक्ष में वञ्च लुञ्च के अनुनासिक का पूर्ववत् लोप होगा, तथा अकित् पक्ष में नहीं होगा। ऋत् धातु को भी कित् पक्ष में गुण निषेध, एवं अकित् पक्ष में गुण होगा, ऐसा जानना चाहिये ॥ वचित्वा वञ्चित्वा में इट् आगम उदितो वा (७।२।५६) से होता है ॥

कित् वा

तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य ॥१।२।२५॥

तृषिमृषिकृशेः ५।१॥ काश्यपस्य ६।१॥ स०—तृषिश्च मृषिश्च कृशिश्च तृषिमृषिकृशिः, तस्मात्... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—वा क्त्वा न सेट् कित् ॥ अर्थः—त्रितृष पिपासायाम् (दिवा० प०), मृष तितिक्षायाम् (दिवा० उ०), कृश तनूकरणे

पादः]

प्रथमोऽध्यायः

तृषि, मृषि, कृषि + सेट् नन्वा ४७ = प्रकृति

विकल्प

(दिवा० प०), इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः सेट् क्त्वा वा न किद् भवति, काश्यपस्याचार्यस्य मतेन ॥ उदा०—तृषित्वा तर्षित्वा । मृषित्वा मर्षित्वा । कृषित्वा कर्षित्वा ॥

भाषार्थः—[तृषिमृषिकृषेः] तृष मूष कृष इन धातुओं से परे सेट् क्त्वा प्रत्यय [काश्यपस्य] काश्यप आचार्य के मत में विकल्प करके कित् नहीं होता ॥ काश्यप ग्रहण पूजार्थ है ॥

उदा०—तृषित्वा (प्यासा होकर) तर्षित्वा । मृषित्वा (सहन करके) मर्षित्वा । कृषित्वा (छीलकर या पतला करके) कर्षित्वा ॥ सर्वत्र कित् पक्ष में गुण निषेध, तथा अकित् पक्ष में गुण होता है ॥

१-अन्त + सेट् सन् नन्वा = अकित् विकल्प कित् वा

रलो व्युपधादुल्लादेः संश्च ॥११२॥
रलः ५।१॥ व्युपधात् ५।१॥ हलादेः ५।१॥ सन् १।१॥ च अ०॥ स०—उश्च इश्च वी(इको यणचि ६।१।७४ इत्यनेन यणादेशः), वी उपघे यस्य स व्युपधात्, तस्मात्..... द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । हल् आदिर्यस्य स हलादिः, तस्मात्..... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वा क्त्वा न सेट् कित् ॥ अर्थः—उकारोपधाद् इकारोपधाच्च रलन्तादुल्लादेः धातोः परः सेट् सन्, सेट् क्त्वा च वा कित् न भवतः ॥ उदा०—द्युतिस्वा द्योतिस्वा । लिखित्वा लेखित्वा । दिद्युतिषते, दिद्योतिषते । लिलिखिषति लिलेखिषति ॥

भाषार्थः—[व्युपधात्] उकार इकार उपधावाली [रलः] रलन्त एवं [हलादेः] हलादि धातुओं से परे सेट् [सन्] सन [च] और सेट् क्त्वा प्रत्यय विकल्प से कित् नहीं होते हैं ॥

उदा०—द्युतिस्वा (प्रकाशित होकर) द्योतिस्वा । लिखित्वा (लिखकर) लेखित्वा । दिद्युतिषते (प्रकाशित होना चाहता है) दिद्योतिषते । लिलिखिषति (लिखना चाहता है) लिलेखिषति ॥

‘द्युत दीप्ती’ (भ्वा० आ०) तथा ‘लिख अक्षरविन्यासे’ (तुदा० प०) ये धातुएं उकार इकार उपधावाली, रलन्त तथा हलादि भी हैं । सो इनसे परे सेट् सन् और सेट् क्त्वा को कित्त्व विकल्प से हो गया है । कित् पक्ष में गुण निषेध, एवं अकित् पक्ष में पूर्ववत् गुण भी हो जायेगा ॥

सिद्धि सारी पूर्ववत् ही समझे । सन्नन्त की सिद्धि परि० १।२।८ के समान जानें । हाँ, दिद्युतिषते में ‘द्युत् द्युत्’ द्वित्व होने पर द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् (७।४।६७) से अभ्यास को सम्प्रसारण होकर—‘दि उ त् द्युत् इत् स अ त्’=सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) लगकर, और हलादि शेष होकर दिद्युतिषते बन गया है, ऐसा जानें ॥

उ द्वस्व
ऊ दीर्घ
अः प्लुत

ऊकालोऽहस्वदीर्घप्लुतः ॥११२१७॥

ऊकालः १११॥ अच् १११॥ हस्वदीर्घप्लुतः १११॥ उ, ऊ उ३ काल इति (अकः सवर्णो दीर्घः ७।१।१७ इत्यनेन त्रयाणामुकाराणां दीर्घत्वम्) ऊकालः । काल-शब्दः प्रत्येकमुकारं प्रति सम्बध्यते—ऊकालः, ऊकालः, उ३काल इति ॥ स०—उश्च ऊश्च उ३श्चेति वः, वां काल एव कालो यस्य स ऊकालः, बहुव्रीहिः । हस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च हस्वदीर्घप्लुतः, समाहारो द्वन्द्वः । पुंलिङ्गनिर्देशस्तु ज्ञापकः क्वचित् समाहारेऽपि नपुंसकत्वाभावस्य ॥ अर्थः—उ ऊ उ३ इत्येवंकालो योऽच् स यथासङ्ख्यं हस्वदीर्घप्लुतसंज्ञको भवति ॥ उदा०—हस्वः—दधिच्छत्रम्, मधुच्छत्रम् । दीर्घः—कुमारी, गौरी । प्लुतः—देवदत्त३ अत्र न्वसि ॥

भाषार्थः—[ऊकालः] ऊकाल = एकमात्रिक, ऊकाल = द्विमात्रिक, तथा उ३-काल = त्रिमात्रिक [अच्] अच् की यथासङ्ख्य करके [हस्वदीर्घप्लुतः] हस्व दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है । अर्थात् एकमात्रिक की हस्व, द्विमात्रिक की दीर्घ, तथा त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा होती है ॥

यहां सूत्र में 'हस्वदीर्घप्लुतः' में नपुंसकलिङ्ग होना चाहिये था । पुंलिङ्ग-निर्देश से ज्ञापित होता है कि कहीं-कहीं समाहारद्वन्द्व में भी नपुंसकलिङ्ग का अभाव होता है ॥

यहां से 'हस्वदीर्घप्लुतः' की अनुवृत्ति ११२।२८ तक, तथा 'अच्' की ११२।३१ तक जाती है ॥

हस्वदीर्घप्लुत

अचश्च ॥११२।२८॥

अचः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—अच् हस्वदीर्घप्लुतः ॥ परिभाषेयं स्थानि-नियमार्था ॥ अर्थः—हस्व दीर्घ प्लुत इत्येवं विधीयमानो योऽच्, स अच एव स्थाने भवित ॥ उदा०—अतिरि, अतिन्, उपगु ॥

भाषार्थः—यह परिभाषासूत्र है स्थानी का नियम करने के लिये ॥ हस्व हो जाये, दीर्घ हो जाये, प्लुत हो जाये, ऐसा नाम लेकर जब कहा जावे, तो [च] वह पूर्वोक्त हस्व दीर्घ प्लुत [अचः] अच् के स्थान में ही हों ॥ अतिरि आदि की सिद्धि परि० १।१।४७ में देखें ॥ जब हस्वो नपुंसके (११२।४७) से हस्व प्राप्त होता है, तो यह परिभाषा उपस्थित हो जाती है । अतः अजन्त प्रातिपदिक के ही अन्तिम अच् का हस्व होता है, हलन्त 'मुवाग्' आदि का नहीं ॥

[स्वर-प्रकरणम्]

उच्चैरुदात्तः ॥११२॥२६॥

३६/१

उच्चैः अ० ॥ उदात्तः १११॥ अनु०—अच् ॥ अर्थः—तालवादिषु हि भागवत्सु स्थानेषु वर्णा निष्पद्यन्ते, तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति ॥ अत्र महाभाष्यकार आह—“आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य । आयामः=गात्राणां निग्रहः । दारुण्यम्=स्वरस्य दारुणता रूक्षता । अणुता खस्य=कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि शब्दस्य” ॥ उदा०—औपगवः, ये, ते, के ॥

भाषार्थः—तालवादि स्थानों से वर्णों का उच्चारण होता है, उन स्थानों में जो ऊर्ध्व भाग हैं, उन [उच्चैः] ऊर्ध्व भागों से उच्चरित जो अच्, वह [उदात्तः] उदात्तसंज्ञक होता है ॥

यहां महाभाष्यकार कहते हैं कि—“आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य” । आयामः=शरीर के सब अवयवों को सख्त कर लेना । दारुण्यं=स्वर में रूखाई होना । अणुता खस्य=कण्ठ को संकुचित कर लेना । ऐसे-ऐसे यत्नों से बोले जानेवाला जो अच्, वह उदात्तसंज्ञक होता है ॥ प्रायः वेद में उदात्त स्वर का कोई चिह्न नहीं होता है, ॥

नीचैरनुदात्तः ॥११२॥३०॥

अनुदात्त

नीचैः अ० ॥ अनुदात्तः १११॥ अनु०—अच् ॥ अर्थः—समाने स्थाने नीच-भागे=अधरभागे निष्पन्नो योऽच् सोऽनुदात्तसंज्ञको भवति ॥ अत्रापि महाभाष्यकार आह—“अन्ववसर्गो मार्दवमुक्ता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । अन्ववसर्गः=गात्राणां शिथिलता । मार्दवं=स्वरस्य मृदुता स्निग्धता । उक्ता खस्य=महत्ता कण्ठ-स्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ।” उदा०—नर्मस्ते देवदत्त, त्व, सम, सिम ॥

भाषार्थः—तालवादि स्थानों में जो [नीचैः] नीचे भागों से बोला जानेवाला अच् वह [अनुदात्तः] अनुदात्तसंज्ञक होता है ॥

यहां भी महाभाष्यकार कहते हैं—“अन्ववसर्गो मार्दवमुक्ता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ।” अन्ववसर्गः=शरीर के अवयवों को ढीले कर देना । मार्दवं=स्वर को मृदु कोमल करके बोलना । उक्ता खस्य=कण्ठ को फैला करके बोलना । इन-इन प्रयत्नों

से बोले जानेवाला अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है ॥ अनुदात्त स्वर का चिह्न सामान्यतया नीचे पड़ी रेखा होती है ॥

स्वरित

समाहारः स्वरितः ॥१२॥३१॥

समाहारः ११॥ स्वरितः ११॥ समाहारः इत्यत्र सम्प्राङ्पूर्वात्, ह्रस्वातोः घञ् प्रत्ययः, समाहरणं समाहारः। पश्चात् समाहारोऽस्मिन्नस्तीति समाहारः, अर्धश्चादिभ्योऽच् (५।२।१२७) इत्यनेन मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः ॥ अनु०—अच् ॥ अर्थः—उदात्तानुदात्तगुणयोः समाहारो यस्मिन्नचि सोऽच् स्वरितसंज्ञको भवति ॥ उदा०—क्व, शिष्यम्, कन्या, सामुन्धः ॥

भाषार्थः—[समाहारः] जिस अच् में उदात्त तथा अनुदात्त दोनों गुणों का समाहार हो, अर्थात् थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दोनों गुण मिले हों, ऐसा अच् [स्वरितः] स्वरितसंज्ञक होता है ॥

स्वरित का चिह्न सामान्यतया ऊपर खड़ी रेखा होती है ॥

स्वरित

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् ॥१२॥३२॥

तस्य ६।१॥ आदितः अ० ॥ उदात्तम् १।१॥ अर्धह्रस्वम् १।१॥ स०—अर्ध ह्रस्वस्य अर्धह्रस्वम्, अर्धं नपुंसकम् (२।२।२) इत्यनेन तत्पुरुषसमासः ॥ तस्येति सापेक्षकं पदं स्वरित इत्येतमनुकर्षति । 'आदितः' इत्यत्र तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् (वा० ५।४।४४) इत्यनेन वार्तिकेन तसिः प्रत्ययः, तद्धितश्चास० (१।१।३७) इत्यनेनाव्ययत्वम् । अर्धह्रस्वमात्रम् अर्धह्रस्वम्, मात्रचोऽत्र प्रमाणं लो वक्तव्यः (वा० ५।२।३७) इत्यनेन वार्तिकेन लोपो द्रष्टव्यः ॥ अर्थः—तस्य स्वरितस्यादौ अर्धह्रस्वम् उदात्तं भवति, परिशिष्टमनुदात्तम् ॥ उदा०—क्व, कन्या ॥

भाषार्थः—[तस्य] उस स्वरित गुणवाले अच् के [आदितः] आदि की [अर्धह्रस्वम्] आधी मात्रा [उदात्तम्] उदात्त, और शेष अनुदात्त होती है ॥

जिस प्रकार दूध और पानी मिला देने पर पता नहीं लगता कि कहाँ पर पानी वा कहाँ पर दूध है, तथा कितना पानी वा कितना दूध है, इसी प्रकार यहाँ उदात्त तथा अनुदात्त मिश्रित गुणवाले अच् की स्वरित संज्ञा कही है । तो पता नहीं लगता कि कहाँ पर उदात्त वा कहाँ अनुदात्त है, तथा कितना उदात्त वा कितना अनुदात्त है । सो इस सूत्र में पाणिनि आचार्य इस सन्देह का निवारण करते हैं ॥

क्व के स्वरित अच् 'अ' में आदि की आधी मात्रा उदात्त, तथा शेष आधी

अनुदात्त है। कन्या के 'आ' में आदि की आधी मात्रा उदात्त, तथा शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त रहेगी ॥ एवं तथा कन्या की सिद्धि परि० १।२।३१ में देखें ॥

एकश्रुति

एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ ॥१।२।३३॥

एकश्रुति १।१॥ दूरात् ५।१॥ सम्बुद्धौ ७।१॥ स०—एका श्रुतिः श्रवणं यस्य तत् एकश्रुति, बहुव्रीहिः ॥ श्रवणं श्रुतिः । सम्यग् बोधनं सम्बुद्धिः ॥ अर्थः—दूरात् सम्बोधने वाक्यम् एकश्रुति भवति ॥ यत्रोदात्तानुदात्तस्वरितानां स्वराणां भेदो न लक्ष्यते स एकश्रुतिस्वरः ॥ उदा०—आगच्छ भो माणवक देवदत्तः । अत्रोदात्तानुदात्तस्वरितस्वराः पृथक्-पृथक् नोच्चारिता भवन्ति ॥

भाषार्थः—[दूरात्] दूर से [सम्बुद्धौ] सम्बोधन=बुलाने में वाक्य [एकश्रुति] एकश्रुति हो जाता है, अर्थात् वाक्य में पृथक्-पृथक् उदात्त-अनुदात्त-स्वरित स्वरों का श्रवण न होकर, एक ही प्रकार का स्वर सुनाई देता है ॥

यहां सम्बुद्धि पद से एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४६) वाला सम्बुद्धि नहीं लेना है, अपितु 'सम्यग् बोधनं सम्बुद्धिः' = भली प्रकार किसी को बुलाना लिया गया है ॥

आगच्छ भो माणवक देवदत्तः (ऐ लड़के देवदत्त आ), यहां उदात्त अनुदात्त स्वरित तीनों स्वर हटकर एकश्रुति हो गई है ॥ एकश्रुति स्वर का कोई चिह्न नहीं होता ॥

यहां से 'एकश्रुति' की अनुवृत्ति १।२।३६ तक जायेगी ॥

एकश्रुति

यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु ॥१।२।३४॥

यज्ञकर्मणि ७।१॥ अजपन्यूङ्खसामसु ७।३॥ स०—यज्ञस्य कर्म यज्ञकर्म, तस्मिन् यज्ञकर्मणि, षष्ठीतत्पुरुषः । जपश्च न्यूङ्खश्च साम च जपन्यूङ्खसामानि, न जपन्यूङ्खसामानि अजपन्यूङ्खसामानि, तेष्वजपन्यूङ्खसामसु, द्वन्द्वगर्भनञ्त्पुरुषः ॥ अनु०—एकश्रुति ॥ अर्थः—यज्ञकर्मणि उदात्तानुदात्तस्वरितस्वराणामेकश्रुतिर्भवति, जपन्यूङ्खसामानि वर्जयित्वा ॥ जप उपांशुप्रयोगः । न्यूङ्खा निगदविशेषाः, आश्वलायनश्रौतसूत्रे ७।११ व्याख्यातास्तत्र द्रष्टव्याः ॥ उदा०—समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयता-

१. किसी भी यज्ञ में वेदमन्त्रों द्वारा कर्म किया जावे, तो मन्त्रों के उच्चारण में एकश्रुति का विधान समझना चाहिये, जप न्यूङ्ख तथा साममन्त्रों को छोड़कर । अतः जो लोग यज्ञ में मन्त्रों का स्वरसहित उच्चारण करके कर्म करने की बात कहते हैं, उन का कथन इस शास्त्रवचन से माननीय नहीं हो सकता ॥

तिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ यजु० ३।१॥ अग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या
अयम् । अपां रेतांसि जिन्वतोऽम् ॥ यजु० ३।१२॥ अत्रैकश्रुतिरभूत् ॥

भाषार्थः—[यज्ञकर्मणि] यज्ञकर्म में उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों को एकश्रुति हो जाती है, [अजपन्यूङ्खसामसु] अज न्यूङ्ख तथा साम को छोड़कर ॥ 'अज' ऐसे बोलने को कहते हैं, जिसमें पास बंटे व्यक्ति को भी सुनाई न दे । 'न्यूङ्ख' आश्वलायन श्रौतसूत्र (७।११) में पढ़े हुये निगदविशेष हैं । 'साम' सामवेद के गान को कहते हैं ॥

यहां से 'यज्ञकर्मणि' की अनुवृत्ति १।२।३५ तक जायेगी ॥

उदात्तर

उच्चैस्तरां वा वषट्कारः ॥१।२।३५॥

उच्चैस्तराम् अ० ॥ वा अ० ॥ वषट्कारः १।१॥ उच्चैः इत्यनेन उदात्तो गृह्यते, अयमुदात्तोऽयमुदात्तोऽयमनयोरतितरामुदात्तः=उच्चैस्तराम्, द्विवचनविभ० (५।३।५७) इत्यनेन तरप्प्रत्ययः, ततः किमेत्तिङ० (५।४।११) इति आम् ॥ अनु०—यज्ञकर्मणि, एकश्रुति ॥ अर्थः—यज्ञकर्मणि वषट्कारउच्चैस्तरां=उदात्ततरो विकल्पेन भवति, पक्षे एकश्रुतिर्भवति ॥ वषट्कारशब्देनात्र वौषट् शब्दो गृह्यते । यद्येवं वौषट्ग्रहणमेव कस्मान्न कृतम् ? वैचित्र्यार्थम् । विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः ॥ उदा०—सोमस्याग्ने वीही३ वौषट् । पक्षे एकश्रुतिः—सोमस्याग्ने वीही३वौषट् ॥

भाषार्थः—यज्ञकर्म में [वषट्कारः] वषट्कार अर्थात् वौषट् शब्द [उच्चैस्तराम्] उदात्ततर [वा] विकल्प से होता है, पक्ष में एकश्रुति हो जाती है ॥ पूर्वसूत्र से यज्ञकर्म में नित्य ही एकश्रुति प्राप्त थी, सो विकल्प से उदात्ततर विधान कर दिया ॥

एकश्रुति एवं त्रिस्वरे विभाषा' छन्दसि ॥१।२।३६॥

विभाषा १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—एकश्रुति ॥ अर्थः—छन्दसि विषये उदात्तानुदात्तस्वरितस्वराणामेकश्रुतिर्भवति विकल्पेन, पक्षे त्रैस्वर्यमेव ॥ उदा०—

१. यहां यह बात समझ लेने की है कि यज्ञकर्म से अतिरिक्त वेदमन्त्रों के सामान्य उच्चारण (स्वाध्याय) में प्रकृत सूत्र के विधान से उदात्त अनुदात्त स्वरित इन तीनों स्वरों से, तथा एकश्रुति (बिना स्वर के) भी बोला जा सकता है । इससे जो लोग समझते हैं कि वेदमन्त्रों को स्वर से ही बोला जा सकता है, तो ऐसी बात नहीं । क्योंकि प्रकृत सूत्र में वेदमन्त्रों के उच्चारण के सम्बन्ध में दोनों ही पक्ष स्वीकार किये हैं, अर्थात् स्वर से बोलें अथवा एकश्रुति=तीनों स्वर रहित बोलें ॥

अग्निमीद्रे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं स्तनघातमम् ॥ ऋक्० १।१।१॥ इष
त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण० ॥ यजु० १।१॥
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । निहोता सत्सि बर्हिषि ॥ साम० १।१।१॥ ये
त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु
मे ॥ अथर्व० १।१।१॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में तीनों स्वरों को [विभाषा] विकल्प से
एकश्रुति हो जाती है, पक्ष में तीनों स्वर भी होते हैं ॥ इस सूत्र में यज्ञकर्म की
अनुवृत्ति नहीं आ रही है । अतः वेद के सामान्य उच्चारण (स्वाध्यायकाल) के
समय का यह विधान है । यज्ञकर्म में एकश्रुति १।२।३४ सूत्र से होती है । पक्ष में
जब तीनों स्वर होते हैं, तब क्या स्वर कहां पर होगा, यह सब परिशिष्ट में देखें ॥

तीनों स्वर न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः ॥ १।२।३७॥

न अ० ॥ सुब्रह्मण्यायाम् ७।१॥ स्वरितस्य ६।१॥ तु अ० ॥ उदात्तः १।१॥
अनु०—एकश्रुति ॥ अर्थः—सुब्रह्मण्यायां निगदे एकश्रुतिर्न भवति, किन्तु तत्र यः स्व-
रितस्तस्योदात्तादेशो भवति ॥ यज्ञकर्मण्य० (१।२।३४); विभाषा छन्दसि (१।२।३६)
इत्येताभ्यामेकश्रुतिः प्राप्ता प्रतिषिध्यते ॥ सुब्रह्मण्या नाम निगदविशेषः । शतपथ-
ब्राह्मणे तृतीये काण्डे तृतीये प्रपाठके, चतुर्थब्राह्मणस्य सप्तदशीं कण्डिकामारभ्य
विंशतिकण्डिकापर्यन्तं यो पाठस्तस्य सुब्रह्मण्येति संज्ञाऽस्ति ॥ उदा०—सुब्रह्मण्यो३-
मिन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेप वृषणश्चस्य मेने गौरावस्कन्दिहलयायै जार
कौशिकब्राह्मण गौतमब्रुवाण इवः सुत्यामागच्छ मध्वन् ॥ श० ३।३।४।१७॥

भाषार्थः—[सुब्रह्मण्यायां] सुब्रह्मण्या नामवाले निगद में एकश्रुति [न] नहीं
होती, किन्तु उस निगद में [स्वरितस्य] जो स्वरित उसको [उदात्तः] उदात्त[तु]
तो हो जाता है ॥

यज्ञकर्मण्य० (१।२।३४); तथा विभाषा छन्दसि (१।२।३६) से एकश्रुति की
प्राप्ति में यह सूत्र बनाया गया है ॥

शतपथब्राह्मण में 'सुब्रह्मण्या' नाम का निगदविशेष है । ऊपर संस्कृत-भाग में
उसका पता दे दिया है ॥

यहां से 'स्वरितस्य' की अनुवृत्ति १।२।३८ तक जाती है ॥

देवब्रह्मणोरनुदात्तः ॥ १।२।३८॥

अनुदात्त

देवब्रह्मणोः ७।२॥ अनुदात्तः १।१॥ स०—देवश्च ब्रह्मा च देवब्रह्मणो, तयोः

देवब्रह्मणोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वरितस्य ॥ अर्थः—देवब्रह्मणोः शब्दयोः
स्वरितस्यानुदात्तो भवति ॥ सुब्रह्मण्यायां 'देवा ब्रह्माण' इति पठ्यते, तत्र पूर्वसूत्रेण
स्वरितस्योदात्तः प्राप्नोति, अनेनानुदात्तो विधीयते ॥ उदा०—देवा ब्रह्माण
आगच्छतु ॥

भाषार्थः—[देवब्रह्मणोः] देव ब्रह्मन् शब्दों को स्वरित के स्थान में [अनुदात्तः]
अनुदात्त होता है ॥

सुब्रह्मण्या निगद में 'देवा ब्रह्माणः' ऐसा पाठ है, उसको पूर्वसूत्र से स्वरित के
स्थान में उदात्त प्राप्त था, इस सूत्र ने अनुदात्त विधान कर दिया ॥

विशेषः—यहां पर 'देवा ब्रह्माणः' इन दो शब्दों के स्वरित के स्थान में ही
अनुदात्त होता है, न कि 'आगच्छत' शब्द को भी । इस विषय में देखो—अ० भा०,
महर्षि दयानन्द कृत, तथा श० ब्रा० सायणभाष्य ३।३।१।२०, पृ० ११४ बम्बई
संस्करण ॥

एकश्रुति

स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् ॥१२।३६॥

स्वरितात् ५।१॥ संहितायाम् ७।१॥ अनुदात्तानाम् ६।३॥ अनु०—एकश्रुति ॥
अर्थः—स्वरितात् परेषामनुदात्तानामेकश्रुतिर्भवति संहितायां विषये ॥ उदा०—इमं में
गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि ॥ १०।७।१॥ माणवक जटिलकाध्यापक क्व गमि-
ष्यसि ॥

भाषार्थः—[संहितायाम्] संहिता-विषय में (जब पदपाठ का संहितापाठ
करना हो तो) [स्वरितात्] स्वरित से उत्तर [अनुदात्तानाम्] अनुदात्तों को (एक
दो या बहुतों को) एकश्रुति होती है ॥

यहां से 'संहितायाम्' 'अनुदात्तानाम्' की अनुवृत्ति १।२।४० तक जायेगी ॥

अनुदात्त

उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः ॥१२।४०॥

उदात्तस्वरितपरस्य ६।१॥ सन्नतरः १।१॥ स०—उदात्तश्च स्वरितश्चोदात्तस्व-
रितौ, उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात् स उदात्तस्वरितपरः, तस्योदात्तस्वरितपरस्य, द्वन्द्वगर्भ-
बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संहितायामनुदात्तानाम् ॥ अर्थः—उदात्तपरस्य स्वरितपरस्य
चानुदात्तस्य सन्नतरः = अनुदात्ततर आदेशो भवति संहितायाम् ॥ उदा०—देवा मरुतः
पृथिनमातरोऽपः । सरस्वति शुतुद्रि । स्वरितपरस्य—अध्यापक क्व ॥

भाषार्थः—[उदात्तस्वरितपरस्य] उदात्त परे है जिसके, तथा स्वरित परे है

जिसके, उस अनुदात्त को [सन्नतरः] सन्नतर अर्थात् अनुदात्ततर आदेश हो जाता है संहिता में ॥ 'सन्नतर' यह अनुदात्ततर की संज्ञा है ॥

अपृक्त

अपृक्त एकालप्रत्ययः ॥१२१४१॥

अपृक्तः १११॥ एकाल् १११॥ प्रत्ययः १११॥ स०—एकश्चासावल् च एकाल्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—एकाल्प्रत्ययोऽपृक्तसंज्ञको भवति ॥ असहायवाची एकशब्दः ॥ उदा०—वाक्, लता, कुमारी । धृतस्पृक्, अर्धभाक्, पादभाक् ॥

भाषार्थः—[एकाल्] असहाय=एक अल् (जो अकेला ही है) [प्रत्ययः] प्रत्यय की [अपृक्तः] अपृक्त संज्ञा होती है ॥

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ॥१२१४२॥

कर्मधारय

तत्पुरुषः १११॥ समानाधिकरणः १११॥ कर्मधारयः १११॥ स०—समानाधिकरणं यस्य स समानाधिकरणः, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—समानाधिकरणपदस्तत्पुरुषः कर्मधारयसंज्ञको भवति ॥ अत्र अवयवधर्मः सामानाधिकरण्यं (पदेषु वर्तमानं) समुदाये (तत्पुरुषे) उपचर्यते ॥ उदा०—पाचकवृन्दारिका, परमराज्यम्, उत्तमराज्यम् ॥

भाषार्थः—[समानाधिकरणः] समान है अधिकरण (आश्रय) जिनका, ऐसे पदोंवाले [तत्पुरुषः] तत्पुरुष की [कर्मधारयः] कर्मधारय संज्ञा होती है ॥ 'समानाधिकरण' उसे कहते हैं, जहां दो धर्म एक ही द्रव्य में रहें । यहां तत्पुरुष के अवयव पदों का सामानाधिकरण्य अभिप्रेत है ॥

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ॥१२१४३॥

उपसर्जन

प्रथमानिर्दिष्टम् १११॥ समासे ७११॥ उपसर्जनम् १११॥ स०—प्रथमया (विभक्त्या) निर्दिष्टं प्रथमानिर्दिष्टम्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अर्थः—समासे=समासविधायके सूत्रे प्रथमया विभक्त्या निर्दिष्टं यत् पदं तदुपसर्जनसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—कष्टश्रितः, शङ्कुलाखण्डः, यूपदारु, वृकभयम्, राजपुरुषः, अक्षशौण्डः ॥

भाषार्थः—[समासे] समासविधान करनेवाले सूत्रों में जो [प्रथमानिर्दिष्टम्] प्रथमाविभक्ति से निर्देश किया हुआ पद है, उसकी [उपसर्जनम्] उपसर्जन संज्ञा होती है ॥ यहां "समासे" इस पद से "समासविधान करनेवाला सूत्र" यह अर्थ लेना है ॥

यहां से "समास उपसर्जनम्" की अनुवृत्ति १२१४४ तक जाती है ॥

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते ॥१२१४४॥

उपसर्जन

एकविभक्ति १११॥ च अ० ॥ अपूर्वनिपाते ७११॥ स०—एका विभक्तियस्य

तदेकविभक्ति (पदम्), बहुव्रीहिः । पूर्वश्चासौ निपातश्चेति पूर्वनिपातः, कर्मधारय-
स्तत्पुरुषः । न पूर्वनिपातोऽपूर्वनिपातः, तस्मिन्नपूर्वनिपाते, नञ्स्तत्पुरुषः ॥ अनु०—
समास उपसर्जनम् ॥ अर्थः—समासे विधीयमाने एकविभक्तिकं = नियतविभक्तिकं
पदमुपसर्जनसंज्ञं भवति, (तत्सम्बन्धिपदे बहुभिर्विभक्तियुज्यमानेऽपि) पूर्वनिपातमुप-
सर्जनकार्यं वर्जयित्वा ॥ उदा०—निष्कौशाम्बिः, निर्वाणसिः ॥ निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या
निष्कौशाम्बिः । निष्क्रान्तं कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिम् । निष्क्रान्तेन कौशाम्ब्या
निष्कौशाम्बिना । निष्क्रान्ताय कौशाम्ब्या निष्कौशाम्ब्ये । निष्क्रान्तात्
कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बेः । निष्क्रान्तस्य कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बेः । निष्क्रान्ते
कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बी । हे निष्क्रान्त कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बे । सर्वत्रैवात्र
'कौशाम्ब्याः' इति नियतविभक्तिकं पञ्चम्यन्तं पदं वर्तते, यद्यपि तत्सम्बन्धि
'निष्क्रान्त' इति पदं बहुभिर्विभक्तिभिर्युज्यते ॥ एवं 'निर्वाणसिः' इत्यपि बोध्यम् ॥

भाषार्थः—समास-विधान करना है जिस (विग्रह) वाक्य से, उसमें जो पद
[एकविभक्ति] नियतविभक्तिवाला हो (चाहे उससे सम्बन्धित दूसरा पद बहुत
विभक्तियों से युक्त हो, तो भी), तो उसकी [च] भी उपसर्जन संज्ञा होती है,
[अपूर्वनिपाते] पूर्वनिपात उपसर्जन कार्य को छोड़कर ॥

निष्कौशाम्बिः यहां विग्रह करने पर 'कौशाम्बी' शब्द नियत पञ्चमी विभक्ति-
वाला हो रहता है, सो इसकी उपसर्जन संज्ञा हो गई है ॥

प्रातिपदिकम् अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ १।२।४५ ॥

अर्थवत् १।१ ॥ अधातुः १।१ ॥ अप्रत्ययः १।१ ॥ प्रातिपदिकम् १।१ ॥ अर्थो-
ऽस्यास्तीत्यर्थवत्, तदस्यास्त्य० (१।२।६४) इति मनुपप्रत्ययः ॥ स०—न धातुः
अधातुः । न प्रत्ययः अप्रत्ययः, उभयत्र नञ्स्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—अर्थवत् शब्दरूपं
प्रातिपदिकसंज्ञं भवति, धातुं प्रत्ययञ्च वर्जयित्वा ॥ उदा०—पुरुषः, डित्थः, कपित्थः,
कुण्डम्, पीठम् ॥

भाषार्थः—[अर्थवत्] अर्थवान् (अर्थवाले=सार्थक) शब्दों की [प्रातिपदिकम्]
प्रातिपदिक संज्ञा होती है, [अधातुरप्रत्ययः] धातु और प्रत्यय को छोड़कर ॥

उदा०—पुरुषः (एक पुरुष), डित्थः (लकड़ी का हाथी), कपित्थः (बन्दर के
बैठने का स्थान), कुण्डम् (कूंडा), पीठम् (चीकी) ॥

सब उदाहरणों में प्रातिपदिक संज्ञा होने से ड्याप्रातिपदिकात् के अधिकार में
कहे हुये स्वादि प्रत्यय हो जाते हैं । कुण्डम्, पीठम् में 'सु' को 'अम्' अतोऽम् (७।१।
२४) से हो गया है ॥

यहां से 'प्रातिपदिकम्' की अनुवृत्ति १।२।४६ तक जाती है ॥

प्रातिपदिक

कृत्तद्धितसमासःश्च ॥१२१४६॥

कृत्तद्धितसमासः ११॥ च अ० ॥ स०—कृत् च तद्धितश्च समासश्च कृत्तद्धित-
समासः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रातिपदिकम् ॥ अर्थः—कृत्प्रत्ययान्तास्तद्धित-
प्रत्ययान्ताः समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—कृत्—कारक, हारकः,
कर्त्ता, हर्त्ता । तद्धितः—शालीयः, श्रीपगवः, ऐतिकायनः । समासः—राजपुरुषः,
कष्टश्रितः ॥

भाषार्थः—[कृत्तद्धितसमासः] कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त, तथा समास की
[च] भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है ॥

पूर्वसूत्र में प्रत्यय का निषेध कर देने से कृत्प्रत्ययान्त तथा तद्धितप्रत्ययान्त की
प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती थी, सो यहाँ कहना पड़ा ॥

सारे उदाहरणों की सिद्धि परि० ११११, तथा १११२ में की गई है, वहीं
देखें । समास के उदाहरणों की सिद्धि परि० ११२४३ में देखें ॥

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥१२१४७॥

प्रातिपदिक

ह्रस्वः ११॥ नपुंसके ७१॥ प्रातिपदिकस्य ६१॥ अर्थः—नपुंसकलिङ्गोऽर्थे
वर्त्तमानं यत् प्रातिपदिकं तस्य ह्रस्वो भवति ॥ अत्र अचश्च (१२१२८) इति
परिभाषासूत्रमुपतिष्ठते । तेनाजन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—अतिरि
कुलम्, अतिनु कुलम् ॥

भाषार्थः—[नपुंसके] नपुंसक लिङ्ग में वर्त्तमान जो [प्रातिपदिकस्य] प्राति-
पदिक उसको [ह्रस्वः] ह्रस्व हो जाता है ॥ अचश्च (१२१२८) परिभाषासूत्र
यहाँ पर बैठ जाता है ॥ सिद्धि परि० १११४७ में देखें ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः प्रातिपदिकस्य' की अनुवृत्ति १२१४८ तक जाती है ॥

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ॥१२१४८॥

प्रातिपदिक

गोस्त्रियोः ६१२॥ उपसर्जनस्य ६१॥ स०—गौश्च स्त्री च गोस्त्रियो, तयोः
गोस्त्रियोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ह्रस्वः प्रातिपदिकस्य ॥ अर्थः—उपसर्जनगो-
शब्दान्तस्य प्रातिपदिकस्य, उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तस्य च प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो
भवति ॥ उदा०—गोशब्दान्तस्य—चित्रगुः शबलगुः । स्त्रीप्रत्ययान्तस्य—निष्कौ-
शस्त्रिः निर्वाणसिः, अतिखट्वः अतिमालः ॥

भाषार्थः—[उपसर्जनस्य] उपसर्जन [गोस्त्रियोः] गोशब्दान्त प्रातिपदिक, तथा उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है ॥

यहां 'स्त्री' शब्द से स्त्रियाम् (४।१।३) के अधिकार में कहे गये टाप्, डाट्, चाप्, डीप्, डीष्, डीन् स्त्रीप्रत्यय लिये गये हैं, न कि 'स्त्री' शब्द लिया गया है ॥

यहां से 'स्त्री' तथा 'उपसर्जनस्य' की अनुवृत्ति १।२।४६ तक जाती है ॥

उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय लुक् तद्धितलुकि ॥१।२।४६॥

लुक् १।१॥ तद्धितलुकि ७।१॥ स०—तद्धितस्य लुक् तद्धितलुक्, तस्मिन् तद्धितलुकि, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—स्त्री उपसर्जनस्य ॥ अर्थः—तद्धितलुकि सति उपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ उदा०—पञ्चेन्द्रः, दशेन्द्रः । पञ्चशङ्कुलम्, आमलकम्, बकुलम्, कुवलम्, बदरम् ॥

भाषार्थः—[तद्धितलुकि] तद्धित के लुक् हो जाने पर उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का [लुक्] हो जाता है ॥

यहां से 'तद्धितलुकि' की अनुवृत्ति १।२।५० तक जाती है ॥

इकारादेशः

इद् गोण्याः ॥१।२।५०॥

इत् १।१॥ गोण्याः ६।१॥ अनु०—तद्धितलुकि ॥ अर्थः—तद्धितलुकि सति गोणीशब्दस्येकारादेशो भवति ॥ पूर्वसूत्रेण लुकि प्राप्ते तदपवाद इकारो विधीयते ॥ उदा०—पञ्चगोणिः, दशगोणिः ॥

भाषार्थः—तद्धित—प्रत्यय के लुक् हो जाने पर [गोण्याः] गोणी शब्द को [इत्] इकारादेश हो जाता है । पूर्वसूत्र से स्त्रीप्रत्यय (डीष्) का लुक् प्राप्त था, इकार अन्तादेश विधान कर दिया ॥ गोण शब्द से जानपदकुण्डगोण० (४।१।४२) से आवपन अर्थ में डीष् प्रत्यय होकर गोणी शब्द बना है । सिद्धि परि० १।१।५१ में देखें ॥

युक्तवत्

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ॥१।२।५१॥

लुपि ७।१॥ युक्तवत् अ० ॥ व्यक्तिवचने १।२॥ स०—व्यक्तिश्च वचनञ्च व्यक्तिवचने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ लुपशब्देनात्र लुप्तस्य प्रत्ययस्यार्थ उच्यते । युक्तः प्रकृत्यर्थः, प्रत्ययार्थेन सम्बद्धत्वात् । तत्र तस्येव (५।१।११६) इति वतिः । व्यक्तिः=लिङ्गम् । वचनं=सङ्ख्या, एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । 'व्यक्तिवचने' इति लिङ्गसङ्ख्ययोः पूर्वाचार्याणां निर्देशः ॥ अर्थः—लुपि=लुवर्ये युक्तवत्=प्रकृत्यर्थ इव

व्यक्तिवचने = लिङ्गसङ्ख्ये भवतः ॥ उदा०—पञ्चालाः, कुरवः, मगधाः, मत्स्याः, अङ्गाः, वङ्गाः, सुह्याः, पुण्ड्राः । गोदो ग्रामः । कटुकबदरी ग्रामः ॥

भाषार्थः—प्रत्यय के [लुपि] लुप् हो जाने पर उस प्रत्यय के अर्थ में [व्यक्ति-वचने] व्यक्ति = लिङ्ग, वचन = संख्या, [युक्तवत्] प्रकृत्यर्थवत् (= प्रकृत्यर्थ के समान) हों ॥ व्यक्तिवचन यह पूर्वाचार्यों का लिङ्ग और संख्या के लिये नाम है ॥

यहां से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति १।२।५२ तक जाती है ॥

विशेषणानां चाजातेः ॥१।२।५२॥

युक्तवत्

विशेषणानाम् ६।३॥ च अ० ॥ आ अ० ॥ जातेः ५।१॥ अनु०—लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ॥ अर्थः—लुबर्थस्य यानि विशेषणानि, तेषामपि युक्तवत् (प्रकृत्यर्थवत्) लिङ्गसङ्ख्ये भवतः, आ जातेः=जातेः पूर्वम्, आजातिप्रयोगादि-त्यर्थः ॥ तावद् युक्तवद्भावो भवति, यावज्जातिनं प्रकान्ता । यदा तु विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा जातिः प्रक्रम्यते, तदा युक्तवद्भावो न भवति ॥ उदा०—पञ्चालाः रमणीयाः बह्वन्ताः बहुक्षीरघृताः बहुमाल्यफलाः । गोदो रमणीयो बह्वन्नो बहुक्षीरघृतो बहुमाल्यफलो । कटुकबदरी शोभना बहुमाल्यफला बहुक्षीरघृता ॥

भाषार्थः—प्रत्यय के लुप होने पर उस लुबर्थ के जो [विशेषणानाम्] विशेषण उनमें [च] भी युक्तवत् = प्रकृत्यर्थ के समान ही लिङ्ग और सङ्ख्या हो जाते हैं, [आजातेः] जाति के प्रयोग से पूर्व ही, अर्थात् जातिवाची कोई शब्द विशेषणरूप में या विशेष्यरूप में प्रयुक्त हो, तो उसे तथा उसके पश्चात् प्रयुक्त होनेवाले विशेषणों में युक्तवद्भाव न हो ॥ पूर्व सूत्र से लुबर्थ में प्रकृत्यर्थस्य लिङ्ग-संख्या का अतिदेश किया गया । उसी से लुबर्थ विशेषणों में भी सिद्ध था । पुनः इस सूत्र का आरम्भ जाति तथा जातिद्वारक विशेषणों में युक्तवद्भाव के प्रतिषेधार्थ किया गया है ॥

उदा०—पञ्चालाः रमणीयाः बह्वन्ताः बहुमाल्यफलाः सम्पन्नपानीयाः (पञ्चाल बहुत सुन्दर, बहुत अन्न माल्य फलवाला, एवं खूब जलाशयोंवाला जनपद है) । गोदो रमणीयो बह्वन्नो बहुमाल्यफलो सम्पन्नपानीयो (गोद नाम का रमणीय बहुत अन्न माल्य फलवाला, एवं खूब जलाशयोंवाला ग्राम है) । कटुकबदरी शोभना बहुमाल्यफला ।

[अशिष्य-प्रकरणम्]

युक्तवत्

तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् ॥१।२।५३॥

तत् १।१॥ अशिष्यम् १।१॥ संज्ञाप्रमाणत्वात् ५।१॥ स०—शासितुं शक्यम्

शिष्यम्, न शिष्यमशिष्यम्, नञ्त्तत्पुरुषः । संज्ञायाः प्रमाणं संज्ञाप्रमाणम्, पष्ठीतत्पुरुषः । संज्ञाप्रमाणस्य भावः संज्ञाप्रमाणत्वम्, तस्मात् संज्ञाप्रमाणत्वात् । तस्य भावस्त्वतलौ (५।१।११८) इत्यनेन त्वप्रत्ययः ॥ संज्ञानं संज्ञा = लौकिकव्यवहारः । तदित्यनेन युक्तवद्भावः परिगृह्यते । अशिष्यमित्यनेन शासितुमशक्यमिति वेदितव्यं, न तु शासितुमयोग्यम् । कुतः ? 'शासु अनुशिष्टौ' इत्येतस्माद् घातोः एति-स्तुशास्वद्वजुषः क्यप् (१।१।१०६) इत्यनेन क्यप् प्रत्ययः, स च शक्यार्थे वेदितव्यः । तेनाशिष्यमित्यस्य पूर्णतया शासितुमशक्यमित्यर्थः ॥ अर्थः—तद् = युक्तवद्भावकपनम्, अशिष्यं = शासितुमशक्यम् । कुतः ? संज्ञाप्रमाणत्वात् = लौकिकव्यवहाराधीनत्वात् ॥ उदा०—पञ्चालाः, वरणाः जनपदादीनां संज्ञा एताः, तत्र लिङ्गं वचनञ्च स्वभाव-सिद्धमेव ॥

भाषार्थः—[तद्] उस उपर्युक्त युक्तवद्भाव का [अशिष्यम्] पूरा-पूरा शासन-विधान नहीं किया जा सकता, क्यों कि वह [संज्ञाप्रमाणत्वात्] लौकिक व्यवहार के अधीन है ॥

विशेष—जिस प्रकार 'दारा'शब्द स्त्रीवाची होते हुये भी पुल्लिङ्ग बहुवचनान्त लोक में प्रयुक्त होता है; 'आपः' शब्द भी नित्य बहुवचनान्त ही है, सो यह सब लोक से ही सिद्ध है । इसका विधान पूरा-पूरा नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो अव्यय-करण लोग "पञ्चालाः में निवास अर्थ में प्रत्यय होकर उसका लुप् होने से युक्तवद्भाव हुआ है", यह नहीं जानते, वह भी तो 'पञ्चालाः' का बहुवचन में ठीक प्रयोग करते ही हैं । सो लिङ्ग वचन लोकाधीन ही है, इसमें लौकिक प्रयोग ही प्रमाण है । इसी बात को महाभाष्यकार ने लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्य (महा० भा० ४।१।३) ऐसा कहकर प्रकट किया है ॥

यहां से 'अशिष्यम्' की अनुवृत्ति १।२।५७ तक जाती है ॥

लुप् - अशिष्य

लुब्धोगाप्रख्यानात् ॥१।२।५४॥

लुप् १।१॥ योगाप्रख्यानात् ५।१॥ स०—न प्रख्यानमप्रख्यानम्, नञ्त्तत्पुरुषः । योगस्थाप्रख्यानम् योगाप्रख्यानं, तस्मात् योगाप्रख्यानात्, पष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अशिष्यम् ॥ अर्थः—लुब्धिघायकं जनपदे लुप् इत्यादिकं सूत्रमप्यशिष्यं = शासितुमशक्यम् । कुतः ? योगस्य = सम्बन्धस्य, अप्रख्यानात् = अप्रतीतत्वादित्यर्थः ॥ पञ्चालाः, वरणा इति देशविशेषस्य संज्ञाः, नहि निवाससम्बन्धादेव पञ्चालाः, वृक्ष-योगादेव वरणा इति व्यवहियन्ते, तत्राशक्यं लुब्धिघानम् । अनन्तरसूत्रमपीदमेव सूत्रं दहीकरोति ॥

भाषार्थः—[लप्] लुप् विधायक सूत्र (जनपदे लुप्; वरणादिभ्यश्च इत्यादि)

भी अशिष्य हैं—नहीं कहे जा सकते [योगप्रख्यानात्] निवासादि सम्बन्ध के अप्रतीत होने से ॥ क्योंकि जो व्याकरण नहीं जानते, वे भी तो लुब्ध शब्दों का प्रयोग करते ही हैं। पञ्चालाः वरणाः तो जनपदादि की संज्ञाविशेष हैं, न कि निवास के गोग से ही पञ्चाल, एवं वृक्ष के योग से ही वरण कहा जाता है। अगला सूत्र इसी कथन को और भी पुष्ट करता है ॥

अशिष्य

अदर्शन

योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् ॥१२॥५५॥

योगप्रमाणे ७।१॥ च अ० ॥ तदभावे ७।१॥ अदर्शनम् १।१॥ स्यात् तिङन्त-पदम् ॥ स०—योगस्य प्रमाणं योगप्रमाणं, तस्मिन् योगप्रमाणे, षष्ठीतत्पुरुषः । न भावः अभावः, नञ्तत्पुरुषः । तस्य अभावस्तदभावः, तस्मिन् तदभावे, षष्ठीतत्पुरुषः । न दर्शनमदर्शनम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अशिष्यम् ॥ अर्थः—यदि पञ्चालादि-शब्दा निवासाद्यर्थस्य वाचकाः स्युस्तदा निवासादिसम्बन्धाभावे पञ्चालादीनाम-दर्शनमप्रयोगः स्यात्, न चैवं भवति, तेन ज्ञायते नैते योगनिमित्तकाः, परं संज्ञा एताः देशविशेषस्य ॥ पूर्वसूत्रार्थमेव दृढीकरोति ॥

भाषार्थः—[योगप्रमाणे] सम्बन्ध को प्रमाण—वाचक मानकर यदि संज्ञा (पञ्चालादि) हो, तो [च] भी [तदभावे] उस सम्बन्ध के हट जाने पर उस संज्ञा का [अदर्शनम् स्यात्] अदर्शन होना चाहिये, पर वह होता नहीं है। इससे पता लगता है कि पञ्चालादि जनपदविशेष की संज्ञायें हैं, योगनिमित्तक इन्हें कहना अशक्य है ॥ पूर्व सूत्र के कथन को ही यह सूत्र हेतु देकर स्पष्ट करता है ॥

स्पष्टार्थ व्याख्या—यदि पञ्चालादि शब्द पञ्चालों के निवास करने के कारण ही जनपदविशेष की संज्ञाएं पड़ी होतीं, तो यदि वहाँ से पञ्चाल क्षत्रिय किसी कारण से सर्वथा चले जावें, तो उस जनपद की पञ्चाल संज्ञा नहीं रहनी चाहिये, क्योंकि जिस कारण से—सम्बन्ध से जनपद की पञ्चाल संज्ञा पड़ी थी, वह सम्बन्ध तो रहा नहीं, फिर भी पञ्चाल का व्यवहार उस जनपद के लिये होता है। इससे पता लगता है कि ये संज्ञायें योगनिमित्तक—निवासादि अर्थनिमित्तक नहीं हैं, परन्तु संज्ञाविशेष ही हैं ॥

अशिष्य

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् ॥१२॥५६॥

प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् १।१॥ अर्थस्य ६।१॥ अन्यप्रमाणत्वात् ५।१॥ स०—प्रधानं च प्रत्ययश्च प्रधानप्रत्ययो, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अर्थस्य वचनम् अर्थवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रधानप्रत्यययोरर्थवचनं प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः । अन्यस्य प्रमाणमन्यप्रमाणम् षष्ठीतत्पुरुषः । अन्यप्रमाणस्य भावः अन्यप्रमाणत्वम्,

तस्मादन्यप्रमाणत्वात् ॥ अनु०—अशिष्यम् ॥ अर्थः—प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचन-
मप्यशिष्यं शासितुमशक्यम् । कुतः ? अर्थस्य अन्यप्रमाणत्वात् = लोकप्रमाणत्वात् ॥
शास्त्रापेक्षयाऽन्यो लोकः ॥ केषाञ्चिदाचार्याणामिदं मतमभूत्—“प्रधानोपसर्जने प्रधान-
नार्थं सह ब्रूतः, प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः”, तदेतत् पाणिन्याचार्यः प्रत्याचष्टे ।
अर्थात् ये व्याकरणं न जानन्ति, तेऽपि प्रधानार्थं प्रत्ययार्थमेव प्रयुञ्जते । तस्मात्
लोकाधीनमेवैतद्, अस्य लक्षणं कर्तुं मशक्यम् ॥

भाषार्थः—[प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्] प्रधानार्थवचन तथा प्रत्ययार्थवचन, अर्थात्
यह पद प्रधान है, तथा यह पद अप्रधान है, एवं यह प्रत्यय इस अर्थ में आता है, यह
पूरा-पूरा नहीं कहा जा सकता, [अर्थस्य] अर्थ के [अन्यप्रमाणत्वात्] अन्य = लोक के
अधीन होने से ॥ शास्त्र की अपेक्षा से यहां ‘अन्य’ शब्द लोक को कहता है । कुछ
आचार्यों ने “प्रधानोपसर्जने प्रधानार्थं सह ब्रूतः, प्रकृतिप्रत्ययौ सहायं ब्रूतः” आदि
लक्षण किये थे, सो पाणिनि मुनि उनका प्रत्याख्यान करते हैं । क्योंकि जिन्होंने
व्याकरण नहीं पढ़ा, वे भी प्रधानार्थ एवं प्रत्ययार्थ को जानते ही हैं । यथा “राजपुरुष-
मानय” ऐसा कहने पर न राजा को लाते हैं न पुरुषमात्र को, प्रत्युत राजविशिष्ट
पुरुष को ही लाते हैं, अर्थात् प्रधानार्थता को वे जानते हैं । तथा प्रत्ययार्थ के विषय में
भी ‘अपगवमानय’ ऐसा कहने पर उपगुविशिष्ट अपत्य को लाते हैं, न उपगु को
लाते हैं न केवल अपत्य को, अर्थात् प्रत्ययार्थता (अपत्यार्थता) को वे समझते हैं ।
सो यह सब लोकव्यवहाराधीन ही समझना चाहिये । इसके लिये पूरा लक्षण बनाना
अशक्य है ॥

अशिष्य

कालोपसर्जने च तुल्यम् ॥ ११२॥ ५७॥

कालोपसर्जने ११२॥ च अ० ॥ तुल्यम् ११२॥ स०—कालश्च उपसर्जनञ्च
कालोपसर्जने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अशिष्यम् ॥ कालः परोक्षादिः ॥ अर्थः—
कालः उपसर्जनञ्चाशिष्यं शासितुमशक्यम् । कुतः ? तुल्यहेतुत्वात्, अर्थात् लोकप्रमाण-
त्वात् ॥ तुल्यशब्दः पूर्वसूत्रोक्तस्य हेतोरनुकर्षणार्थः ॥

भाषार्थः—[कालोपसर्जने] काल तथा उपसर्जन = गौण की परिभाषा [च]
भी पूरी-पूरी नहीं की जा सकती, [तुल्यम्] तुल्य हेतु होने से, अर्थात् पूर्व सूत्र में कहे
हेतु के कारण ही ॥

कुछ आचार्य प्रातःकाल से लेकर १२ बजे रात्रि तक अद्यतन काल मानते हैं,
तथा कुछ आचार्य १२ बजे रात से अगले १२ बजे रात तक अद्यतन काल मानते हैं ।
इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने उपसर्जन की भी परिभाषा की है—“अप्रधानमुपसर्जनम्” ।

तो यह सब अशिष्य है, लोकव्यवहाराधीन होने से, क्योंकि जिन्होंने व्याकरण नहीं पढ़ा, वे भी 'यह मैंने आज किया, यह कल किया, तथा यह उपसर्जन—गौण है, यह मुख्य है' ऐसा प्रयोग करते ही हैं, सो लोक से ही इनकी प्रतीति हो जावेगी ॥

जाति बहुवचन विकल्प
जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ॥१२।५८॥

जात्याख्यायाम् ७।१॥ एकस्मिन् ७।१॥ बहुवचनम् १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—जातेः आख्या जात्याख्या, तस्याम्... षष्ठीतत्पुरुषः । बहूनां वचनं बहुवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—जात्याख्यायामेकस्मिन्नर्थे बहुवचनं (बहुत्वं) विकल्पेन भवति ॥ जातिर्नामायमेकोऽर्थः, तेनैकवचने प्राप्ते बहुवचनं पक्षे विधीयते ॥ उदा०—सम्पन्नाः यवाः, सम्पन्नाः ग्रीहयः (अत्र बहुत्वम्), सम्पन्नो यवः, सम्पन्नो ग्रीहिः (अत्रैकत्वम्) ॥ जात्यर्थस्य एकत्वे बहुत्वे च सति द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) इति, बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१) इति च यथायोगम् एकवचनबहुवचने भवतः ॥

भाषार्थः—[जात्याख्यायाम्] जाति को कहने में [एकस्मिन्] एकत्व अर्थ में [बहुवचनम्] बहुत्व [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके हो जाता है ॥

जाति एक होती है, अतः जाति को कहने में एकत्व ही नित्य प्राप्त था, सो यहां पक्ष में बहुत्व विधान किया है ॥

यहां से 'एकस्मिन्' की अनुवृत्ति १।२।५६ तक, तथा 'बहुवचनम्' की अनुवृत्ति १।२।६० तक, एवं 'अन्यतरस्याम्' की १।२।६२ तक जाती है ॥

अस्मदो द्वयोश्च ॥१२।५९॥ अस्मद् - बहुत्व

अस्मदः ६।१॥ द्वयोः ७।२॥ च अ० ॥ अनु०—एकस्मिन् बहुवचनम् अन्यतरस्याम् ॥ अर्थः—अस्मदो योऽर्थस्तस्यैकत्वे द्वित्वे च बहुत्वं विकल्पेन भवति ॥ उदा०—'अहं ब्रवीमि' इत्यस्य स्थाने वक्ता 'वयं ब्रूमः' इत्यपि वक्तुं शक्नोति, यद्यपि वक्ता एक एव । एवं 'आवां ब्रूवः' इत्यस्य स्थाने 'वयं ब्रूमः' इत्यपि भवति, यद्यपि द्वौ वक्तारी स्तः ॥

भाषार्थः—[अस्मदः] अस्मद् का जो अर्थ, उस के एकत्व [च] और [द्वयोः] द्वित्व अर्थ में बहुवचन विकल्प करके होता है ॥

एकत्व में एकवचन एवं द्वित्व में द्विवचन ही प्राप्त था, बहुवचन का पक्ष में विधान कर दिया । अहं ब्रवीमि (मैं बोलता हूँ) यहां बोलनेवाला यद्यपि एक है,

तो भी वह 'वयं ब्रूमः' ऐसा बहुवचन में भी बोल सकता है। इसी प्रकार द्विवचन में 'आवां ब्रूवः' के स्थान में 'वयं ब्रूमः' भी कह सकते हैं ॥

यहां से 'द्वयोः' की अनुवृत्ति १२।६१ तक जाती है ॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे ॥१२।६०॥

विकल्प ९

फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम् ६।३॥ च अ०॥ नक्षत्रे ७।१॥ स०— फल्गुन्यौ च प्रोष्ठपदे च फल्गुनीप्रोष्ठपदाः, तानाम् इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—द्वयोः, बहुवचनम् अन्यतरस्याम् ॥ अर्थः— फल्गुन्योः द्वयोः प्रोष्ठपदयोश्च द्वयोः नक्षत्रयोः बहुवचनं विकल्पेन भवति ॥ फल्गुन्यौ द्वे नक्षत्रे, प्रोष्ठपदे अपि द्वे, तेन द्वयोर्द्विवचनं प्राप्तम्, बहुवचनमन्यतरस्यां विधीयते ॥ उदा०—उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः (अत्र बहुवचनम्) उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ (अत्र द्विवचनम्)। उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः, उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे ॥

भाषार्थः—[फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम्] फल्गुनी और प्रोष्ठपद [नक्षत्रे] नक्षत्रों के द्वित्व अर्थ में [च] भी बहुत्व अर्थ विकल्प करके होता है ॥

फल्गुनी नाम के दो नक्षत्र हैं, तथा प्रोष्ठपद नाम के भी दो नक्षत्र हैं, सो दो में द्विवचन ही प्राप्त था, पक्ष में बहुवचन भी विधान कर दिया है ॥ उदा०—उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः (पूर्व फल्गुनी नक्षत्र का उदय हुआ), उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ। उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः (पूर्व प्रोष्ठपदा नक्षत्र का उदय हुआ), उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे ॥

यहां से 'नक्षत्रे' की अनुवृत्ति १२।६२ तक जाती है ॥

विकल्प २

छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् ॥१२।६१॥

छन्दसि ७।१॥ पुनर्वस्वोः ६।२॥ एकवचनम् १।१॥ अनु०—नक्षत्रे, द्वयोः, अन्यतरस्याम् ॥ अर्थः—छन्दसि त्रिपद्ये पुनर्वस्वोः नक्षत्रयोः द्वित्वे विकल्पेनैकवचनं भवति। पुनर्वसू द्वे नक्षत्रे, तेन द्वयोर्द्विवचने प्राप्ते पक्ष एकवचनं विधीयते ॥ उदा०—पुनर्वसुर्नक्षत्रम् (अत्रैकवचनम्), पुनर्वसू नक्षत्रे (अत्र द्विवचनम्) ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [पुनर्वस्वोः] पुनर्वसु नक्षत्र के द्वित्व अर्थ में विकल्प से [एकवचनम्] एकत्व होता है ॥ पुनर्वसु नाम के दो नक्षत्र हैं, सो द्विवचन ही प्राप्त था। पक्ष में एकत्व अर्थ का भी विधान कर दिया ॥ उदा०—पुनर्वसुर्नक्षत्रम् (पुनर्वसु नाम के दो नक्षत्र), पुनर्वसू नक्षत्रे ॥

यहां से "छन्दसि एकवचनम्" की अनुवृत्ति १२।६२ तक जाती है ॥

विकल्प २

विशाखयोश्च ॥१२।६२॥

विशाखयोः ६।२॥ च य० ॥ अनु०—छन्दसि, एकवचनम्, नक्षत्रे, अन्यतर-

स्याम् ॥ अर्थः—छन्दसि विषये विशाखयोर्नक्षत्रयोर्द्वित्वे, एकवचनं विकल्पेन भवति । द्वयोर्द्विवचने प्राप्ते, पक्षे एकवचनं विधीयते ॥ उदा०—विशाखा नक्षत्रम्, विशाखे नक्षत्रे ॥

भाषार्थः—[विशाखयोः] विशाखा नक्षत्र के द्वित्व अर्थ में [च] भी एकवचन विकल्प करके होता है, छन्द विषय में ॥

विशाखा नक्षत्र भी दो हैं सो दो में द्विवचन प्राप्त था, पक्ष में एकत्व विधान कर दिया ॥

नित्यं द्विवचनम्

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् ॥१२।६३॥

तिष्यपुनर्वस्वोः ६।२॥ नक्षत्रद्वन्द्वे ७।१॥ बहुवचनस्य ६।१॥ द्विवचनम् १।१॥ नित्यम् १।१॥ स०—तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसू तयोस्तिष्यपुनर्वस्वोः, इतरेतर-योगद्वन्द्वः । नक्षत्राणां द्वन्द्वः, नक्षत्रद्वन्द्वः, तस्मिन् नक्षत्रद्वन्द्वे, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—तिष्यपुनर्वस्वोः नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य नित्यं द्विवचनं भवति ॥ तिष्य एकः, पुनर्वसू द्वौ, एतेषां द्वन्द्वे बहुत्वं प्राप्तं द्विवचनं नित्यं विधीयते ॥ उदा०—उदितौ तिष्य-पुनर्वसू दृश्येते ॥

भाषार्थः—[तिष्यपुनर्वस्वोः] तिष्य तथा पुनर्वसु शब्दों के [नक्षत्र द्वन्द्वे] नक्षत्र-विषयक द्वन्द्वसमास में [बहुवचनस्य] बहुवचन के स्थान में [नित्यम्] नित्य ही [द्विवचनम्] द्विवचन हो जाता है ॥

तिष्य नक्षत्र एक है, तथा पुनर्वसु दो हैं, सो इनके द्वन्द्वसमास में बहुवचन ही प्राप्त था, नित्य ही द्विवचन विधान कर दिया ॥

उदा०—उदितौ तिष्यपुनर्वसू दृश्येते (उदित हुये तिष्य और पुनर्वसू नक्षत्र दिखाई दे रहे हैं) ॥

[एकशेष-प्रकरणम्]

एकशेष

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥१२।६४॥

सरूपाणाम् ६।३॥ एकशेषः १।१॥ एकविभक्तौ ७।१॥ स०—समानं रूपं येषां ते सरूपास्तेषां सरूपाणां, बहुव्रीहिः । ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप० (६।३।८३) इत्यनेन समानस्य सादेशः । एका चासौ विभक्तिश्च, एकविभक्तिः, तस्यामेकविभक्तौ, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । शिष्यते यः स शेषः, एकश्चासौ शेषश्च, एक

शेषः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—सरूपाणां शब्दानामेकविभक्तौ परत एकशेषो भवति, अथदिकः शिष्यते, इतरे निवर्तन्ते ॥ उदा०—वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षी । वृक्ष-श्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः ॥

भाषार्थः—[सरूपाणाम्] समान रूपवाले शब्दों में से [एकशेषः] एक शेष रह जाता है, अन्य हट जाते हैं, [एकविभक्तौ] एक (समान) विभक्ति के परे रहते ॥

वृक्षश्च, वृक्षश्च यहाँ दोनों वृक्ष शब्द समान रूपवाले हैं, तथा एक ही प्रथमा विभक्ति परे हैं, सो एक शेष रह गया, तथा दूसरा हट गया। दो वृक्षों का बोध कराना है अतः द्विवचन 'वृक्षौ' में हो ही जायेगा। इसी प्रकार वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः में भी दो हट गये, एक शेष रह गया, आगे ४-५ वृक्षों के होने पर भी ऐसा ही जानें। अभिप्राय यह है कि जहाँ कई वस्तुओं का बोध कराना हो, जैसे "यह वृक्ष है, यह वृक्ष है" तो वहाँ कई बार सरूप शब्दों का प्रयोग न करके एक बार ही उस शब्द का प्रयोग करके उन सारी वस्तुओं का बोध हो जाता है। नहीं तो जितनी वस्तुएं होतीं उतनी बार उस शब्द का प्रयोग करना पड़ता अतः यह सूत्र बनाया ॥

यहाँ से 'शेषः' की अनुवृत्ति १।२।७३ तक जाती है ॥

२५५ शीघ्र

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः ॥ १।२।६५ ॥

वृद्धः १।१॥ यूना ३।१॥ तल्लक्षणः १।१॥ चेत् अ० ॥ एव अ० ॥ विशेषः १।१॥ स०—सः गोत्रप्रत्ययो युवप्रत्ययश्च लक्षणं निमित्तमस्य स तल्लक्षणः, बहु-व्रीहिः ॥ अनु०—शेषः ॥ अर्थः—वृद्धशब्देनात्र गोत्रमुच्यते । विशेषः=वैरूप्यम् । गोत्रप्रत्ययान्तशब्दः, यूना सह युवप्रत्ययान्तेन सह शिष्यते युवा निवर्तते तल्लक्षण-श्चेत्=वृद्धयुवनिमित्तकमेव चेत् विशेषो भवेत् अर्थात् समानायामाकृतौ वृद्धयुव-प्रत्ययनिमित्तकमेव चेद् वैरूप्यं=भेदो भवेदन्यत् सर्वं समानं स्यात् ॥ अपत्यं पौत्र-प्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२) इत्यनेन पौत्रप्रभृत्यपत्यं गोत्रसंज्ञं भवति, तद्गोत्रमत्र वृद्धशब्देनोच्यते, पूर्वाचार्यस्य संज्ञा । जीवति तु वंश्ये युवा (४।१।१६३) इत्यादि-भिश्च युवसंज्ञा विहिता ॥ उदा०—गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ, वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ ॥

भाषार्थः—[वृद्धः] वृद्ध (गोत्र) प्रत्ययान्त शब्द [यूना] युवा प्रत्ययान्त शब्द के साथ शेष रह जाता है [चेत्] यदि [तल्लक्षणः] वृद्धयुवप्रत्यय निमित्तक [एव] ही [विशेषः] भेद हो, अर्थात् अन्य सब प्रकृति आदि समान हों ॥ वृद्ध शब्द से यहाँ गोत्र लिया गया है, पूर्वाचार्यों की यह गोत्र के लिये संज्ञा है ॥

गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च यहाँ गर्ग शब्द से गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से

गोत्र अर्थ में यञ् प्रत्यय आकर तद्धिते० (७।२।११७) से आदि अच् को वृद्धि एवं यस्येति च (६।४।१४८) से अकार का लोप होकर, वृद्धप्रत्यान्त गार्ग्य शब्द बना है, तथा उसी गार्ग्य शब्द से यञिञोश्च (४।१।१०१) से युवा प्रत्यय फक् होकर, फक् को आयेनेयीनीयियः० (७।१।२) से 'आयन्' होकर गार्ग्यायण बना है, सो गार्ग्य तथा गार्ग्यायण इन दोनों शब्दों में, एक में गोत्र प्रत्यय 'यञ्' है तथा दूसरे में यञ् के पश्चात् युवप्रत्यय फक् है, ये वृद्ध युवा प्रत्यय ही भिन्न हैं, शेष इन दोनों की प्रकृति समान ही है, अतः समान आकृति (प्रकृति) वाले ये दोनों शब्द हैं, केवल तल्लक्षण ही विशेष है। सो प्रकृत सूत्र से वृद्धप्रत्यान्त 'गार्ग्य' शेष रह गया, गार्ग्यायण हट गया तो 'गार्ग्यौ' बना। गार्ग्यौ कहने से 'गार्ग्य' (गर्ग का पौत्र) एवं गार्ग्यायण (गर्ग का प्रपौत्र) दोनों की प्रतीति होगी। इसी प्रकार वात्स्यौ (वत्स के पौत्र तथा प्रपौत्र) में भी समर्थे ॥

यहां से 'वृद्धौ यूना' की अनुवृत्ति १।२।६६ तक तथा "तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः" की १।२।६६ तक जाती है ॥

स्त्री पुं वच्च ॥१।२।६६॥

एकशेष

स्त्री १।१॥ पुं वत् अ० ॥ च अ० ॥ अनु० — वृद्धौ यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः ॥ अर्थः—वृद्धा = गोत्रप्रत्ययान्ता स्त्री यूना सह शिष्यते, युवा निवर्तते, सा च स्त्री पुं वद् भवति, वृद्धयुवनिमित्तकमेव चेत् वैरूप्यं स्यात् ॥ उदा०—गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ, वात्सी च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ ॥

भाषार्थः—गोत्रप्रत्यान्त जो [स्त्री] स्त्रीलिंग शब्द हो, वह युवप्रत्यान्त शब्द के साथ शेष रह जाता है, और उस स्त्रीलिंग गोत्रप्रत्यान्त शब्द को [पुं वत्] पुं वत् कार्य [च] भी हो जाता है, यदि उन दोनों शब्दों में वृद्धयुवप्रत्यय निमित्तक ही वैरूप्य हो और सब समान हों ॥ गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ, यहां गार्ग्य गोत्रप्रत्ययान्त शब्द से यञश्च (४।१।१६) से डीप् प्रत्यय होकर 'गार्ग्य डीप्' रहा। यस्येति च (६।४।१४८) से अकार लोप, एवं हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) से यकार लोप होकर गार्ग्यै = गार्गी गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीलिंगवाची शब्द बना है सो प्रकृत सूत्र से गार्गी शेष रह गया, गार्ग्यायण युवाप्रत्ययान्त हट गया, तथा प्रकृत सूत्र से ही गार्गी को पुं वद्-भाव हो जाने से, गार्गी का डीप् हटकर पुलिङ्ग के समान 'गार्ग्य' रूप रह गया, तो गार्ग्यौ बन गया। गार्ग्यौ से गार्गी (गर्ग की पौत्री) एवं गार्ग्यायण (गर्ग के प्रपौत्र) दोनों का ही बोध हुआ करेगा ॥

पुमान् स्त्रिया ॥१।२।६७॥

एकशेष

पुमान् १।१॥ स्त्रिया ३।१॥ अनु० — तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः ॥ अर्थः—

पुमान् स्त्रिया सह शिष्यते स्त्री निवर्त्तते तल्लक्षण एव चेत् विशेषो भवेत्, लिङ्गभेद एव चेत् स्यादन्यत् प्रकृत्यादिकं सर्वं समानं भवेदित्यर्थः ॥ उदा०—ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणी, कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटी ॥

भाषार्थः—[पुमान्] पुल्लिङ्ग शब्द [स्त्रिया] स्त्रीलिङ्ग शब्द के साथ शेष रह जाता है, स्त्रीलिङ्ग शब्द हट जाता है, यदि उन शब्दों में स्त्रीत्व पुंस्त्व कृत ही विशेष हो, अन्य प्रकृति आदि सब समान ही हों ॥ 'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च' में प्रकृति दोनों की एक है, एक पुल्लिङ्ग है, दूसरा स्त्रीलिङ्ग है । सो पुल्लिङ्ग 'ब्राह्मण' शब्द शेष रह गया, तो (ब्राह्मणी ब्राह्मण और ब्राह्मणी) बना । इसी प्रकार कुक्कुटी (मुर्गा और मुर्गी) में भी जानें ॥

२०६१४

भ्रातृपुत्रो स्वसृदुहितृभ्याम् ॥१२॥६८॥

भ्रातृपुत्रो १२॥ स्वसृदुहितृभ्याम् ३२॥ स०—भ्राता च पुत्रश्च, भ्रातृपुत्रो, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । स्वसा च दुहिता च स्वसृदुहितरी ताम्यां स्वसृदुहितृभ्याम्, इतरेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—शेषः ॥ अर्थः—भ्रातृपुत्रो शब्दो यथाक्रमं स्वसृदुहितृभ्यां शब्दाभ्यां सह शिष्यते स्वसृदुहितरी निवर्त्तते ॥ उदा०—भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ ॥

भाषार्थः—[भ्रातृपुत्रो] भ्रातृ और पुत्र शब्द यथाक्रम [स्वसृदुहितृभ्याम्] स्वसृ और दुहितृ शब्दों के साथ शेष रह जाते हैं, अर्थात् भ्रातृ और स्वसृ में से भ्रातृ तथा पुत्र और दुहितृ में से पुत्र शेष रह जाता है, शेष स्वसृ दुहितृ शब्द हट जाते हैं ॥

यहां भ्रातरौ का अर्थ भाई और बहिन, तथा पुत्रौ का अर्थ पुत्र और पुत्री होगा, न कि दो भाई एवं दो पुत्र होगा ॥

२०६१५ विकल्प नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् ॥१२॥६९॥

नपुंसकम् ११॥ अनपुंसकेन ३१॥ एकवत् अ० ॥ च अ० ॥ अस्य ६१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—न नपुंसकम् अनपुंसकम् तेनानपुंसकेन, नञ्त्त्पुरुषः ॥ अनु०—तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः ॥ अर्थः—नपुंसकगुणविशिष्टशब्दोऽनपुंसकेन = स्त्रीपुंल्लिङ्गगुणविशिष्टेन शब्देन सह शिष्यते, स्त्रीपुंल्लिङ्गगुणविशिष्टौ शब्दौ निवर्त्तते, अस्य नपुंसकलिङ्गशब्दस्य च विकल्पेनैकवत् कार्यं भवति नपुंसकानपुंसकगुणस्यैव चेद् वैरूप्यं स्यात् ॥ उदा०—शुक्लश्च कम्बलः, शुक्ला च शाटिका, शुक्लं च वस्त्रम् तदिदं शुक्लम् । पक्षे—तानीमानि शुक्लानि, (बहुवचनमभूत्) ॥

भाषार्थः—[नपुंसकम्] नपुंसकलिङ्ग शब्द [अनपुंसकेन] नपुंसकलिङ्ग भिन्न शब्दों के साथ, अर्थात् स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग शब्दों के साथ शेष रह जाता है, तथा स्त्रीलिङ्ग

पुंलिंग शब्द हट जाते हैं, एवं [अस्य] उस नपुंसकलिंग शब्द को [एकवत्] एकवत् कार्य [च] भी [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके हो जाता, यदि उन शब्दों में नपुंसक गुण एवं अनपुंसकगुण का ही वैशिष्ट्य हो, शेष प्रकृति आदि समान ही हों ॥

“शुक्लः कम्बलः” यह पुंलिंग है, “शुक्ला शाटिका” यह स्त्रीलिंग है, “शुक्लं वस्त्रम्” यह नपुंसकलिंग है तथा शुक्लः, शुक्ला, शुक्लम् में नपुंसकत्व अनपुंसकत्व गुण का ही वैशिष्ट्य है, प्रकृति तो समान ही है, सो इस सूत्र से नपुंसकलिंग वाला “शुक्लम्” ही शेष रहा, शेष हट गये, इसी प्रकार इस ‘शुक्लम्’ से कम्बल, शाटिका, वस्त्र तीनों का बोध कराना है, सो बहुवचन ही होना चाहिये था पर इसी सूत्र से पक्ष में ‘एकवत्’ का विधान किया है सो एकवचन हो कर ‘तद्विवं शुक्लम्’ (ये सब सफेद हैं) बना । पक्ष में ‘तानीमानि शुक्लानि’ भी बन गया है ॥

यहां से “अन्यतरस्याम्” की अनुवृत्ति १।२।७१ तक जाती है ॥

पिता मात्रा ॥१।२।७०॥

एकशेष विकल्प

पिता १।१॥ मात्रा ३।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, शेषः ॥ अर्थः—मातृशब्देन सहवचने पितृशब्दः शिष्यते विकल्पेन, मातृशब्दो निवर्तते ॥ उदा०—माता च पिता च पितरौ । पक्षे—मातापितरौ ॥

भाषार्थः—[मात्रा] मातृ शब्द के साथ [पिता] पितृ शब्द विकल्प से शेष रह जाता है, मातृ शब्द हट जाता है ।

माता च पिता च पितरौ (माता और पिता) में माता हट गया है, पक्ष में मातापितरौ भी प्रयोग होगा ॥

श्वशुरः श्वश्र्वा ॥१।२।७१॥

एकशेष विकल्प

श्वशुरः १।१॥ श्वश्र्वा ३।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम् । शेषः ॥ अर्थः—श्वश्रूशब्देन सहवचने श्वशुरः शिष्यते विकल्पेन, श्वश्रूः निवर्तते ॥ उदा०—श्वशुरश्च श्वश्रूश्च श्वशुरौ । पक्षे—श्वश्रूश्च श्वशुरौ ।

भाषार्थः—[श्वश्र्वा] श्वश्रू शब्द के साथ [श्वशुरः] श्वशुर शब्द विकल्प से शेष रह जाता है श्वश्रू हट जाता है । पक्ष में वह भी रहेगा ॥ उदा०—श्वशुरौ (सास और श्वशुर), श्वश्रूश्च श्वशुरौ ॥

त्यदादीनि सर्वनित्यम् ॥ १।२।७२॥

एकशेष

त्यदादीनि १।३॥ सर्वौः ३।३॥ नित्यम् १।१॥ स०—त्यद आदि येषां तानि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शेषः ॥ अर्थः—त्यदादीनि शब्दरूपाणि सर्वैः सहवचने नित्यं

शिष्यन्ते, अन्यानि निवर्तन्ते ॥ उदा०—स च देवदत्तश्च तो, यश्च यज्ञदत्तश्च यो,
स च यश्च यो ॥

भाषार्थः—[त्यदादीनि] त्यदादि शब्द रूप [सर्वैः] सबके साथ अर्थात् त्यदा-
दियों के साथ या त्यदादि से अन्यो के साथ भी [नित्यम्] नित्य ही शेष रह जाते
हैं, अन्य हट जाते हैं ॥ त्यदादि गण सर्वादि गण के अन्तर्गत ही पड़ा है ॥ स च यज्ञ
दत्तश्च में 'स' त्यदादि है एवं यज्ञदत्त त्यदादि से भिन्न है, सो 'स' शेष रह गया,
यज्ञदत्त हट गया है । स च यश्च में दोनों त्यदादि हैं सो कौन शेष रहे कौन हटे ?
इस बात को त्यदादीनां मिथो यद्यत्परं तत् तच्छिष्यते (वा० १।२।७२) वार्तिक ने
बताया कि त्यदादियों में क्रम से जो परे परे के हैं वे शेष रह जाते हैं, अगले हट
जाते हैं सो 'स च यश्च' में परला ही शेष रहा, तो 'यो' (वह और जो) बना ॥

एकशेष

ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री ॥१।२।७३॥

ग्राम्यपशुसङ्घेषु७।३॥ अतरुणेषु१।१॥ स्त्री१।१॥ ग्रामे भवा ग्राम्याः, ग्रामाद्यस्त्रजौ
(४।२।६३) इत्यनेन यत् प्रत्ययः ॥ स०—ग्राम्याश्च ते पशवश्च, ग्राम्यपशवः, कर्म-
धारयस्तत्पुरुषः । ग्राम्यपशूनां सङ्घाः=समूहाः, ग्राम्यपशुसङ्घास्तेषु ग्राम्यपशुसङ्घेषु
षष्ठीतत्पुरुषः न विद्यन्ते तरुणा येषु सङ्घेषु तेऽतरुणास्तेषु, अतरुणेषु बहुव्रीहिः ॥
अनु०—शेषः । अर्थः—अतरुणेषु ग्राम्यपशुसङ्घेषु स्त्री शिष्यते पुमान् निवर्तते ॥
पुमान् स्त्रिया (१।२।६७) इत्यनेन पुंसः शेषे प्राप्ते स्त्रीशेषो विधीयते ॥ उदा०—
गावश्च वृषभाश्च=गाव इमाश्चरन्ति, महिषाश्च महिष्यश्च महिष्य इमाश्चरन्ति ॥

भाषार्थः—[अतरुणेषु] तरुणों से रहित [ग्राम्यपशुसङ्घेषु] ग्रामीण पशुओं के
समूह में [स्त्री] स्त्री (स्त्री पशु) शेष रह जाता है, पुमान् (नर) हट जाते हैं ॥

यह सूत्र पुमान् स्त्रिया का अपवाद है । उससे पँलिंग शब्द का शेष प्राप्त था,
इसने ग्राम्य पशुओं के भ्रुण्ड को कहने में स्त्रीलिंग शब्द को शेष कर दिया, पँलिंग
शब्द हट गया ॥ गावश्च वृषभाश्च में यौ स्त्रीलिंग शब्द है, सो वह शेष रह गया,
वृषभ पँलिंग हट गया, तो गावः (गाय और बैल) बना । इसी प्रकार 'महिष्य
इमाः' में जानें ॥

गाय और बैलों का समूह साथ साथ चरता हो तो लोक में भी "ये गायें
चरती हैं" ऐसा कहा जाता है, न कि "ये गाय बैल चरते हैं" ऐसा कहा जाता है, सो
वही इस सूत्र ने विधान कर दिया ॥

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

भूवादयो धातवः ॥१३॥१॥

धातु

56

भूवादयः १३॥ धातवः १३॥ स०—भूश्च वाश्च भूवी, भूवी आदी येषां ते भूवादयः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—भू इत्येवमादयः वा इत्येवंप्रकारकाः क्रिया-वचनाः शब्दा धातुसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—भवति, पठति, वाति ॥

भाषार्थः—[भूवादयः] भू जिनके आदि में है तथा 'वा' (धातु) के समान जो क्रियावाची शब्द हैं उनकी [धातवः] धातु संज्ञा होती है ॥ यहां 'भू' के साथ जो आदि शब्द सम्बन्धित होगा वह व्यवस्था वाची है, "भू आदि में है जिनके, उनकी" तथा 'वा' के साथ जो आदि शब्द लगेंगे, वह प्रकारवाची है, "वा के प्रकारवाली (क्रियावाची)" यह अर्थ होता है, अतः 'भू' जो पृथिवी का वाचक है उसकी धातु संज्ञा नहीं होती, इसी प्रकार 'वा गतिगन्धनयोः' जो क्रियावाची है उसी 'वा' की धातु संज्ञा होती है, 'वा' जो विकल्पार्थक निपात है, उसकी नहीं होती, क्योंकि ये सब "वाप्रकारक"—क्रियावाची नहीं हैं। धातु संज्ञा होने से धातोः (३।१।६१) के अधिकार में कहे, तिबादि प्रत्यय आ जाते हैं ॥

[इत्संज्ञाप्रकरण]

इत्

उपदेशेऽनुनासिक इत् ॥१३॥२॥

उपदेशे ७।१॥ अच् १।१॥ अनुनासिकः १।१॥ इत् १।१॥ अर्थः—उपदेशे योऽनुनासिकोऽच् तस्य इत्संज्ञा भवति ॥ उदा०—पठं=पठति, वदं=वदति, एधं=एधते, सुं ॥

भाषार्थः—[उपदेशे] उपदेश में होनेवाला जो [अनुनासिकः] अनुनासिक (मुख और नासिका से बोला जानेवाला) [अच्] अच् उसकी [इत्] इत् संज्ञा होती है ॥

उपदेश यहां पाणिनि मुनि के बनाये ५ ग्रन्थों का नाम है—

(१) अष्टाध्यायी, (२) धातुपाठ, (३) उणादि सूत्र, (४) गणपाठ, (५) लिङ्गानुशासन, इनमें होनेवाले अनुनासिक अच् की इत् संज्ञा होती है ॥ पठ इत्यादियों में 'अ' अनुनासिक पाणिनि जी ने पढ़ा था, जो 'पठं' ऐसा था, पर अब ये

अनुनासिक चिह्न लगभग २००० वर्षों से लुप्त हो गये हैं, जो अब सर्वथा बताने ही पड़ते हैं ॥

इत् संज्ञा का प्रयोजन उस इत्संज्ञक का तस्य लोपः (१।३।८) से लोप करना है ॥

यहां से 'उपदेशे' की तथा 'इत्' की अनुवृत्ति १।३।८ तक जाती है ॥

इत्

हलन्त्यम् ॥१।३।३॥

हल् १।१॥ अन्त्यम् १।१॥ अन्ते भवमन्त्यं, दिगादित्वात् (४।३।५४) यत् प्रत्ययः ॥ स०—हस्य ल् हल्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ हल् च हल् च=हल् सरूपाणा-मित्यनेन (१।२।६४) एकशेषः, जातिविवक्षायामेकवचनञ्च, अनया रीत्या हल् प्रत्याहारो निष्पद्यते ॥ अनु०—उपदेशे, इत् ॥ अर्थः—उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्संज्ञकं भवति ॥ उदा०—अइउण् इति णकारस्य । ऋलृक् इति ककारस्य ॥

भाषार्थः—उपदेश में जो [अन्त्यम्] अन्तिम [हल्] हल् उसकी इत् संज्ञा होती है ॥

विशेषः—यहां यह बात विचार की है, कि प्रथम प्रत्याहार सूत्र 'हल्' के 'ल्' की इत् संज्ञा हो, तो हल् प्रत्याहार बने, तब हलन्त्यम् सूत्र बने, पर जब तक हलन्त्यम् सूत्र नहीं बनता, तब तक 'हल्' के 'ल्' की इत् संज्ञा हो ही नहीं सकती, सो इतरेतराश्रय दोष आता है, उस दोष को हटाने के लिये 'हस्य ल्' ऐसा समास किया गया है, पुनः हल् च हल् का एकशेष किया है अर्थात् प्रत्याहार वाले हल् सूत्र के "ह के समीप जो 'ल्' उसकी इत् संज्ञा होती है" ऐसा कहने से 'हल्' प्रत्याहार बन गया । पश्चात् हल् का एकशेष करने पर "अन्तिम हल् की इत् संज्ञा होती है" यह अर्थ हो जाता है, सो दोष नहीं रहता । वस्तुतः यह द्वितीयावृत्ति का विषय है, पर समास की उपयोगिता दिखाने के लिये यह सब लिख दिया है ॥ यहां से 'हलन्त्यम्' की अनुवृत्ति १।३।४ तक जायगी ।

इत्-निषेध

न विभक्तौ तुस्माः ॥१।३।४॥

न अ० ॥ विभक्तौ ७।१॥ तुस्माः १।३॥ स०—तुश्च सश्च मश्च तुस्माः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपदेशे हलन्त्यम् इत् ॥ अर्थः—विभक्तौ वर्तमानानामन्त्यानां तवर्गसकारमकाराणामित्संज्ञा न भवति ॥ पूर्वोणान्त्यं हल् इत्संज्ञकं प्राप्तमनेन प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—रामात् वृक्षात्, इति तकारस्य । सकारः—जस्, शस्, भिस्, डस्, ओस् । मकारः—अम्, आम् ॥

भाषार्थः—[विभक्तौ] विभक्ति में वर्तमान जो [तुस्माः] तवर्ग सकार और मकार, वे अन्तिम हल् होते हुये भी इत्संज्ञक [न] नहीं होते ॥ यह पूर्व सूत्र का अपवाद है ॥

रामात् में जो इस के स्थान में टाडसिडसामिनात्स्याः (७।१।१२) से 'आत्' हुआ था, वह स्थानिवत् होकर विभक्ति का तकार था। सो पूर्व सूत्र से इत् संज्ञा प्राप्त थी, इस सूत्र से निषेध हो गया। इसी प्रकार जस् डस् अस् इत्यादि के अन्तिम सकार मकार की इत् संज्ञा पूर्व सूत्र से होनी चाहिये थी, पर वह इनके विभक्ति में वर्तमान होने से नहीं होती ॥

इत्

आदित्रिटुडवः ॥१३।५॥

आदिः १।१॥ त्रिटुडवः १।३॥ स०—त्रिश्च टुश्च डुश्च त्रिटुडवः, इतरेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे आदौ वर्तमानानां त्रि, टु, डु इत्येतेषामित्संज्ञा भवति ॥ उदा०—त्रिमिदा=मित्रः । त्रिधूषा=घृष्टः । त्रिद्विवा=द्विषणः । त्रिदन्धी=द्विदः । टुवेपृ=वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते । टुओरिव=स्वयथुः । डुपचष्=पक्त्रिमम् । डुवप्=उक्त्रिमम् । डुकृञ्=कृत्रिमम् ॥

भाषार्थः—उपदेश में [आदिः] आदि में वर्तमान जो [त्रिटुडवः] त्रि टु और डु उनकी इत् संज्ञा होती है ॥

यहां से 'आदि' की अनुवृत्ति १।३।५ तक जाती है ॥

इत्

षः प्रत्ययस्य ॥१३।६॥

षः १।१॥ प्रत्ययस्य ६।१॥ अनु०—आदिः, उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे प्रत्ययस्य आदिः षकार इत्संज्ञको भवति ॥ उदा०—नर्त्तकी, रजकी ॥

भाषार्थः—उपदेश में [प्रत्ययस्य] प्रत्यय के आदि में जो [षः] षकार उसकी इत् संज्ञा होती है ॥

यहां से 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति १।३।६ तक जाती है ॥

इत्

चुटू ॥१३।७॥

चुटू १।२॥ स०—चुश्च टुश्च चुटू, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रत्ययस्य, आदिः, उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे प्रत्ययस्य आदी चवर्गटवर्गौ इत्संज्ञकौ भवतः ॥ उदा०—कौञ्जायन्यः । ब्राह्मणाः । शाण्डिक्यः । टवर्गः—वाचा । कुरुचरी, मद्रचरी । उपसरजः, मन्दुरजः । आस्रः ॥

भाषार्थः—उपदेश में प्रत्यय के आदि के जो [चुटू] चवर्ग और टवर्ग उनकी इत् संज्ञा हो जाती है ॥

इत्

लशक्वतद्धिते ॥१।३।८॥

लशकु १।१॥ अतद्धिते ७।१॥ स०—लश्च शश्च कुश्च लशकु, समाहारद्वन्द्वः । न तद्धितः अतद्धितः, तस्मिन् अतद्धिते, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—प्रत्ययस्य, आदिः, उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे प्रत्ययस्यादयः लकारशकारकवर्गाः इत्संज्ञका भवन्ति, तद्धितं वर्जयित्वा ॥ उदा०—लकारः—चयनम्, जयनम् । शकारः—भवति, पचति । कवर्गः—भुक्तः, भुक्तवान् । प्रियंवदः, दशंवदः । ग्लास्तुः जिष्णुः भूष्णुः । भङ्गु-रम् । वाचः ॥

भाषार्थः—उपदेश में प्रत्यय के आदि में वर्त्तमान जो [लशकु] लकार शकार और कवर्ग उनकी इत् संज्ञा होती है, [अतद्धिते] तद्धित को छोड़कर ॥

इत्

तस्य लोपः ॥१।३।९॥

तस्य ६।१॥ लोपः १।१॥ अर्थः—तस्येत्संज्ञकस्य लोपो भवति ॥ उदाहरणानि पूर्वसूत्रेष्वेव द्रष्टव्यानि ॥

भाषार्थः—[तस्य] जिसकी इत् संज्ञा होती है, उसका (सारे का) [लोपः] लोप हो जाता है ॥

यथासङ्ख्य

यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ॥१।३।१०॥

यथासङ्ख्यम् अ० ॥ अनुदेशः १।१॥ समानाम् ६।३॥ स०—सङ्ख्यामनतिक्रम्य यथासङ्ख्यम्, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—समानाम्=समसङ्ख्यानामनुदेशः=पश्चात् कथनम्, यथासङ्ख्यं=सङ्ख्याक्रमेण भवति ॥ उदा०—इको यणचि, तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराडङ्कछण्डब् यकः (४।३।९४) । तूदीशब्दात् ढक् प्रत्ययः=तौदेयः । शलातुरात् छण्=शालातुरीयः । वर्मतीशब्दात् ढब्=वर्मतेयः । कूचवारात् यक्=कौचवार्यः, अत्र क्रमेणानुदेशा भवन्ति ॥

भाषार्थः—[समानाम्] सम सङ्ख्यावाले शब्दों के स्थान में [अनुदेशः] पीछे आनेवाले शब्द [यथासङ्ख्यम्] यथाक्रम, अर्थात् पहले स्थान में पहला, दूसरे के स्थान में दूसरा इत्यादि होते हैं ॥

उदा०—इको यणचि । तूदीशला० (४।३।९४) तौदेयः (तूदी प्रदेश का रहनेवाला) । शालातुरीयः (शलातुर ग्राम का रहनेवाला) वार्मतेयः (वर्मती नगर का रहनेवाला) । कौचवार्यः (कूचवार प्रदेश का रहनेवाला) ॥

१. शलातुर ग्राम पंजाब का एक ऐतिहासिक ग्राम था । कहा जाता है कि यहीं पाणिनि जी का जन्म हुआ था ।

उदाहरणों में पहले को पहला, दूसरे को दूसरा, तीसरे को तीसरा अनुदेश हुआ है। इको यणचि में क्रम से इक्=इ, उ, ऋ, लृ को यण्=य, व, र्, लृ होते हैं। इसी प्रकार तूदी शब्द से ढक्, शलातुर से छण् आदि क्रम से ही हुये हैं ॥ सिद्धियों में पूर्ववत् ही आदि अच् को वृद्धि (७।२।११७), तथा आयनेयीनीयियः० (७।१।२) से 'ढ' को एय्, 'छ' को 'ईय्' आदि हुए हैं, ऐसा जानें। और कुछ विशेष नहीं है ॥

स्वरित से अधिकार स्वरितेनाधिकारः ॥१।३।११॥^१

स्वरितेन ३।१॥ अधिकारः १।१॥ अर्थः—स्वरितेन चिह्नेनाधिकारो वेदितव्यः ॥

उदा०—प्रत्ययः, परश्च (३।१।१, २), धातोः (३।१।६१), अङ्गस्य (६।४।१) ॥

भाषार्थः—[स्वरितेन] जहां स्वरित का चिह्न (ऊपर खड़ी ऊर्ध्व रेखा) हो, उसे [अधिकारः] अधिकार सूत्र जानना चाहिये ॥

[आत्मनेपद-प्रकरणम्]

आत्मनेपद

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ॥१।३।१२॥

अनुदात्तङितः ५।१॥ आत्मनेपदम् १।१॥ स०—अनुदात्तश्च ङश्च अनुदात्तङो, अनुदात्तङो इतो यस्य, स अनुदात्तङितः, तस्मात् अनुदात्तङितः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—अनुदात्तेतो ङितश्च धातोः^१ आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—आस—आस्ते । वस—वस्ते । एघ—एघते । षूङ्—सूते । शीङ्—शेते ॥

भाषार्थः—[अनुदात्तङितः] अनुदात्त जिसका इत्संज्ञक हो उस धातु से, तथा ङकार जिसका इत्संज्ञक हो उस धातु से भी [आत्मनेपदम्] आत्मनेपद होता है ॥

यहां से 'आत्मनेपदम्' का अधिकार १।३।७७ तक जाता है ॥

भावकर्मणोः ॥१।३।१३॥

आत्मनेपद

भावकर्मणोः ७।२॥ स०—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोः भावकर्मणोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—भावे कर्मणि चार्थे धातोरात्मनेपद

१ यह स्वरित का चिह्न पुराकाल में पाणिनि मुनि ने अधिकारसूत्रों पर लगाया था । इस समय वे विलुप्त हो गये हैं, सो अधिकारसूत्र कौन-कौनसे हैं, अब यह अध्यापक को ही बताना पड़ता है, क्योंकि स्वरित चिह्न का क्रम तो रहा नहीं ।

२ यहां 'धातु' शब्द सामर्थ्य से आ जाता है, क्योंकि आत्मनेपद और परस्मैपद धातु से ही होते हैं ॥

भवति ॥ उदा०—भावे—आस्यते देवदत्तेन, ग्लायते भवता, सुप्यते भवता ।
कर्मणि—देवदत्तेन वेदः पठ्यते, देवदत्तेन फलं खाद्यते, क्रियते कटस्त्वया, ह्रियते
भारो मया ॥

भाषार्थः—[भावकर्मणोः] भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में (धातु से) आत्मनेपद
होता है ॥

विशेषः—यहां यह समझ लेने का विषय है कि भाववाच्य कर्मवाच्य और
कर्तृवाच्य क्या होता है, तथा किन-किन धातुओं से होता है । हम यहाँ संक्षेप से ही
उसका निरूपण करते हैं—

अकर्मक धातुओं से भाव तथा कर्त्ता में लकार एवं प्रत्यय आते हैं, तथा सकर्मक
धातुओं से लकार एवं प्रत्यय कर्म तथा कर्त्ता में होते हैं, देखो सूत्र (३।४।६६, ६७,
७०) । जब क्रिया के साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं होता या नहीं हो सकता, तब वह
क्रिया अकर्मक होती है । जैसे—देवदत्त आस्ते, देवदत्तः स्वपिति, यहां 'आस' धातु
के साथ न कर्म का सम्बन्ध है न हो सकता है, तथा स्वप के साथ भी कर्म का
सम्बन्ध नहीं है, अतः आस्ते तथा स्वपिति में कर्तृवाच्य में लकार आये हैं । भाववाच्य
में इन्हीं का आस्यते देवदत्तेन, सुप्यते देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा बैठा जाता है, सोया
जाता है) बनेगा । अकर्मक होने से उपर्युक्त लिखे अनुसार इनका कर्म नहीं हो
सकता ।

सामान्यतया व्याकरणों ने भाव का लक्षण किया है—“अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो
धात्वर्थो भावः” अर्थात् जिसमें हिलना-जुलना आदि न पाया जाये, ऐसे साधन से
सिद्ध किया हुआ धातु का अर्थ भाव कहलाता है । उपर्युक्त उदाहरण में देवदत्त
बैठा है, सो रहा है, उसमें हिलना-जुलना आदि नहीं हो रहा है । अतः ये धातु
अकर्मक हैं । जब धातु के साथ कर्म का सम्बन्ध होता है या हो सकता है, तब वह
धातु 'सकर्मक' होती है । ऊपर लिखे अनुसार सकर्मक धातुओं से लकार कर्म तथा
कर्त्ता में आयेंगे, भाव में नहीं आयेंगे ॥

देवदत्तः वेदं पठति, देवदत्तः फलं खादति, यहां पठ तथा खाद धातु का कर्त्ता
(देवदत्त) के साथ सम्बन्ध है, सो यहां पठति खादति में कर्त्ता में लकार आए हैं ।
कर्मवाच्य में इन्हीं का पठ्यते वेदः देवदत्तेन, खाद्यते फलं देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा
वेद पढ़ा जाता है, फल खाया जाता है) बनता है ॥

जब क्रिया और कर्त्ता का अधिकरण—आश्रय परस्पर समान होता है, तब
कर्तृवाच्य क्रिया बनती है । कर्तृवाच्य में क्रिया कर्त्ता को कहती है ॥

जब क्रिया और कर्म का अधिकरण एक होता है, तो कर्मवाच्य क्रिया बनती है । कर्मवाच्य में क्रिया कर्म को कहती है ॥

भाववाच्य क्रिया में भाव अर्थात् धात्वर्थमात्र कहा जाता है । सो आस्यते इस भाववाच्य क्रिया से 'बैठनामात्र' अभिप्रेत है ॥ कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में कर्ता में तृतीया विभक्ति अनभिहिते (२।३।१) अधिकार में वर्तमान कर्त्तृकरणोस्तृतीया (२।३।१८) सूत्र से हुई है । विभक्ति-वचन की व्यवस्था वहीं अनभिहिते (२।३।१) सूत्र पर ही देखें ॥

भाव तथा कर्म में चार बातें कर्त्तृवाच्य से विशेष होती हैं—

(१) आत्मनेपद—जो इसी (१।३।१३) सूत्र से होता है । (२) यक्—सार्व-धातुके यक् (३।१।६७) से होता है । (३) चिण्—चिण् भावकर्मणोः (३।१।६६) से होता है । (४) चिण्वद्भाव—स्यसिच् चिण्वदिट् च (६।४।६२) से होता है । इस सम्बन्ध में तत्तत्सूत्र देख लेना चाहिये ॥

कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे ॥ १।३।१४ ॥

आत्मनेपद

कर्त्तरि ७।१॥ कर्मव्यतिहारे ७।१॥ स०—कर्मणः व्यतिहारः कर्मव्यतिहारः, तस्मिन्... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ कर्मशब्दः क्रियावाची, न तु कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४६) इति । व्यतिहारः=विनिमयः परस्परक्रिया-करणम् ॥ अर्थः—क्रियायाः व्यतिहारे=विनिमये कर्त्तृवाच्ये धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—व्यतिलुनते क्षेत्रम्, व्यतिपुनते वस्त्रम् ॥

भाषार्थः—[कर्मव्यतिहारे] क्रिया के व्यतिहार अर्थात् अदल-बदल करने अर्थ में [कर्त्तरि] कर्त्तृवाच्य में धातु से आत्मनेपद होता है ॥

यहां से 'कर्मव्यतिहारे' की अनुवृत्ति १।३।१६ तक जाती है ॥

न गतिहिसार्थेभ्यः ॥ १।३।१५ ॥

आत्मनेपद निषेध

न अ० ॥ गतिहिसार्थेभ्यः ५।१॥ स०—गतिश्च हिंसा च गतिहिंसे, गतिहिंसे अर्थौ येषां ते गतिहिसार्थाः, तेभ्यः... द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्मव्यतिहारे, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यः हिंसार्थेभ्यश्च कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न भवति ॥ पूर्वण प्रप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—गत्यर्थेभ्यः—व्यतिगच्छन्ति, व्यतिसर्पन्ति । हिंसार्थेभ्यः—व्यतिहिंसन्ति, व्यतिघ्नन्ति ॥

भाषार्थः—[गतिहिसार्थेभ्यः] गत्यर्थक तथा हिंसार्थक धातुओं से कर्मव्यतिहार

अर्थ में आत्मनेपद [न] नहीं होता है ॥ पूर्वसूत्र से कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया है ॥

यहां से 'न' की अनुवृत्ति १।३।१६ तक जाती है ॥

आत्मनेपद निषेध इतरेतरान्योन्योपपदाच्च ॥१।३।१६॥

इतरेतरान्योन्योपपदात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—इतरेतरश्च अन्योन्यश्च इतरेतरान्योन्यौ, तावूपपदे यस्य स इतरेतरान्योन्योपपदः, तस्मात्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, कर्मव्यतिहारे, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—इतरेतरान्योन्योपपदात् धातोः आत्मनेपदं न भवति कर्मव्यतिहारेऽर्थे ॥ उदा०—इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति, अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति ॥

भाषार्थः—[इतरे . दात्] इतरेतर तथा अन्योन्य शब्द यदि उपपद (समीप में श्रूयमाण) हों, तो [च] भी धातु से कर्मव्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता है ॥ यह सूत्र भी (१।३।१४) का अपवाद है ॥

उदा०—इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति (एक-दूसरे का काटते हैं), अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति (एक-दूसरे का काटते हैं) ॥ सिद्धि परि० १।३।१४ के समान है ॥

आत्मनेपद

नेविशः ॥१।३।१७॥

नेः ५।१॥ विशः ५।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—निपूर्वात् विश (तुदा० पर०) धातोः आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—निविशते, निविशेते, निविशन्ते ॥

भाषार्थः—[नेः] नि उपसर्गपूर्वक [विशः] विश धातु से आत्मनेपद होता है ॥ विश धातु धातुपाठ में परस्मैपदी पड़ी है । सो इसे आत्मनेपद नहीं प्राप्त था, अतः कह दिया ॥

उदा०—निविशते (प्रवेश करता है), निविशेते, निविशन्ते ॥ सिद्धियां पूर्ववत् ही हैं । निविशेते की सिद्धि परि० १।१।११ के पच्चेते के समान जाने ॥

विशेषः—धातुपाठ में धातुएँ आत्मनेपदी परस्मैपदी पृथक्-पृथक् पड़ी ही हैं, सो उन्हीं से कौन आत्मनेपदी हैं कौन परस्मैपदी हैं, इसका परिज्ञान हो ही जायगा, पुनः इस प्रकरण का विधान इसलिये किया है कि जो परस्मैपदी धातु थीं, उनसे आत्मनेपद कब हो जाता है, और जो आत्मनेपदी धातु थीं उनसे परस्मैपद कब हो जाता है, यह बात दर्शा दी जाय । धातुपाठ की सूची, तथा इस प्रकरण से आत्मनेपद और परस्मैपद का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है । सो पाद के अन्त तक यही विधान समझना चाहिये ॥

परिव्यवेभ्यः क्रियः ॥१३१८॥

आत्मनेपद

परिव्यवेभ्यः ५१३॥ क्रियः ५११॥ स०—परिश्च विश्च अवश्च परिव्यवाः, तेभ्यः..... इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—परि वि अव इत्येवं पूर्वात् डुक्तीञ् घातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—परिक्रीणीते, विक्रीणीते, अवक्रीणीते ॥

भाषार्थः—[परिव्यवेभ्यः] परि वि तथा अव उपसर्ग पूर्वक [क्रियः] डुक्तीञ् घातु से आत्मनेपद होता है ॥ जित् होने से स्वरित्तजितः० (१३१७२) से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद प्राप्त था । अकर्त्रभिप्राय क्रियाफल (जब क्रिया का फल कर्ता के अभिप्राय को सिद्ध न कर रहा हो) में भी आत्मनेपद हो जाये, इसलिये यह वचन है ॥

विपराभ्यां जेः ॥१३१९॥

आत्मनेपद

विपराभ्याम् ५१२॥ जेः ५११॥ स०—विश्च पराश्च विपरी, ताभ्याम्, इतरेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—वि, परा इत्येवं पूर्वाद् जिघातोरात्मने-पदं भवति ॥ उदा०—विजयते, पराजयते ॥

भाषार्थः—[विपराभ्याम्] वि, परा पूर्वक [जेः] 'जि' घातु से आत्मनेपद होता है ॥ 'वि जि शप् त' इस स्थिति में 'जि' अङ्ग को गुण, तथा ६११७५ से अयादेश होकर विजयते (विजय को प्राप्त होता है), पराजयते (हराता है, अथवा हारता है) बना है ॥

आडो दोऽनास्यविहरणे ॥१३१२०॥

आत्मनेपद

आडः ५११॥ दः ५११॥ अनास्यविहरणे ७१॥ स०—आस्यस्य विहरणम्, आस्यविहरणम्, षष्ठीतत्पुरुषः । न आस्यविहरणमनास्यविहरणं, तस्मिन्... नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनास्यविहरणार्थे वर्तमानाद् आड् पूर्वात् डुदाञ् घातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—विद्याम् आदत्ते ॥

भाषार्थः—[आडः] आड्पूर्वक [दः] डुदाञ् घातु से आत्मनेपद होता है, यदि वह [अनास्यविहरणे] मुख को खोलने अर्थ में वर्तमान न हो तो ॥

यहां से 'आडः' की अनुवृत्ति १३१२१ तक जाती है ॥

क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च ॥१३१२१॥

आत्मनेपद

क्रीडः ५११॥ अनुसंपरिभ्यः ५१३॥ च अ० ॥ स०—अनुश्च सम् च परिश्च अनुसंपरयः, तेभ्यः..... इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आडः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—

अनु, सम्, परि, इत्येवंपूर्वाद् आङ्पूर्वाच्च क्रीडधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—
अनुक्रीडते, संक्रीडते, परिक्रीडते, आक्रीडते ॥

भाषार्थः—[अनुसंपरिभ्यः] अनु, सम्, परि [च] और आङ्पूर्वक [क्रीडः]
क्रीड धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—अनुक्रीडते (साथ में खेलता है) । संक्रीडते (मस्त होकर खेलता है)
परिक्रीडते (खूब खेलता है) । आक्रीडते (खेलता है) ॥

आत्मनेपद

समवप्रविभ्यः स्थः ॥१३१२२॥

समवप्रविभ्यः ५।३॥ स्थः ५।१॥ स०—सम् च अवश्च प्रश्च विश्च समवप्रवयः,
तेभ्यः.....इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्, अव, प्र,
वि इत्येवंपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते,
प्रतिष्ठते, वितिष्ठते ॥

भाषार्थः—[समवप्रविभ्यः] सम्, अव, प्र तथा वि पूर्वक [स्थः] स्था धातु से
आत्मनेपद होता है ॥

शब्द परे रहते स्था को 'तिष्ठ' आदेश पात्राध्मास्थाप्ता० (७।३।७८) से हो
गया है। शेष सिद्धि पूर्ववत् ही है ॥

उदा०—सन्तिष्ठते (सम्यक् स्थित होता है) । अवतिष्ठते (अवस्थित होता है) ।
प्रतिष्ठते (प्रस्थान करता है) । वितिष्ठते (विशेष रूप से स्थित होता है) ॥

यहां से 'स्थः' की अनुवृत्ति १।३।२६ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

प्रकाशनस्थेयाख्यायोश्च ॥१३।२३॥

प्रकाशनस्थेयाख्यायोः ७।२॥ च अ० ॥ तिष्ठन्ति अस्मिन्निति स्थेयः । स०—
स्थेयस्याख्या स्थेयाख्या, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रकाशनञ्च स्थेयाख्या च प्रकाशनस्थे-
याख्ये, तयोः इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—
स्वाभिप्रायस्य प्रकाशने, स्थेयाख्ये=विवादपदनिर्णेतुराख्यायां च वर्तमानात् स्थाधातो-
रात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—विद्या तिष्ठते छात्राय । भार्या तिष्ठते पत्ये । स्थेया-
ख्यायाम्—त्वयि तिष्ठते, मयि तिष्ठते ॥

भाषार्थः—[प्रका.....योः] प्रकाशन=अपने भाव के प्रकाशन में, तथा
स्थेयाख्या=विवाद के निर्णय करनेवाले को कहने अर्थ में [च] भी स्था धातु से
आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—विद्या तिष्ठते छात्राय (विद्या छात्र को अपना स्वरूप प्रकाशित करती

है)। भार्या तिष्ठते पत्ये (पतिव्रता स्त्री अपने पति को अपना स्वरूप दर्शाती है)। त्वयि तिष्ठते (निर्णायक के रूप में तुम्हारे ऊपर आश्रित है), मयि तिष्ठते ॥

उदोऽनूर्ध्वकर्मणि ॥१३॥२४॥ आत्मनेपद

उदः ५।१॥ अनूर्ध्वकर्मणि ७।१॥ स०—ऊर्ध्वं चादः कर्म च ऊर्ध्वकर्म, कर्म-धारयः। न ऊर्ध्वकर्म अनूर्ध्वकर्म, तस्मिन् न वृत्तपुरुषः ॥ अनु०—स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनूर्ध्वकर्मण्यर्थे वर्त्तमानाद् उत्पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—गेहे उत्तिष्ठते, कुटुम्बे उत्तिष्ठते ॥

भाषार्थः—[अनूर्ध्वकर्मणि] अनूर्ध्वकर्म अर्थात् ऊपर उठने अर्थ में वर्त्तमान न हो, तो [उदः] उत् पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उत् उपसर्ग ऊपर उठने अर्थ में ही प्रायः आता है ॥ गेहे उत्तिष्ठते में ऊपर उठना अर्थ नहीं है, प्रत्युत “घर में उन्नति करता है” यह अर्थ है, सो आत्मनेपद हो गया ॥

उपामन्त्रकरणे ॥१३॥२५॥ आत्मनेपद

उपात् ५।१॥ मन्त्रकरणे ७।१॥ स०—मन्त्रः करणं यस्य (धात्वर्थस्य) स मन्त्रकरणः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—मन्त्रकरणेऽर्थे वर्त्तमानाद् उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते। आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते ॥

भाषार्थः—[मन्त्रकरणे] मन्त्र करण (=साधकतम) है जिसका, उस अर्थ में वर्त्तमान [उपात्] उपपूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते (इन्द्रदेवतावाली ऋचा को बोलकर गार्हपत्य अग्नि के समीप जाता है)। आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते (अग्निदेवतावाली ऋचा को बोलकर आग्नीध्र के पास जाता है) ॥

यहां से ‘उपात्’ की अनुवृत्ति १।३।२६ तक जाती है ॥

अकर्मकाच्च ॥१३॥२६॥ आत्मनेपद

अकर्मकात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—न विद्यते कर्म यस्य सोऽकर्मकः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपात्, स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अकर्मकाद् उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—यावद्भुक्तमुपतिष्ठते (भोजने भोजनं सन्निधीयते इत्यर्थः) ॥

भाषार्थः—उपपूर्वक [अकर्मकात्] अकर्मक स्था धातु से [च] भी आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—यावद्भुक्तमुपतिष्ठते (भोजन के समय आ खड़ा होता है) ॥ उदाहरण में स्था धातु अकर्मक है, सो आत्मनेपद हुआ ॥

यहां से 'अकर्मकात्' की अनुवृत्ति १।३।२६ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

उद्विभ्यां तपः ॥१।३।२७॥

उद्विभ्याम् ५।२॥ तपः ५।१॥ स०—उत् च विद् च उद्वी, ताभ्याम्... इतरेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्मकात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उद् वि इत्येवंपूर्वादिकर्मकात् तपधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—उत्तपते। वितपते ॥

भाषार्थः—[उद्विभ्याम्] उत् वि पूर्वक अकर्मक [तपः] तप धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—उत्तपते (खूब गरम होता है)। वितपते (विशेष रूप से गरम होता है) ॥

आत्मनेपद

आडो यमहनः ॥१।३।२८॥

आडः ५।१॥ यमहनः ५।१॥ स०—यमश्च हन् च यमहन्, तस्मात्... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्मकात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—आड्पूर्वाभ्यामकर्मकाभ्यां यम हन इत्येताभ्यां धातुभ्यामात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—आयच्छते, आयच्छते। आहते, आघ्नाते ॥

भाषार्थः—[आडः] आड् पूर्वक अकर्मक [यमहनः] यम् और हन् धातुओं से आत्मनेपद होता है ॥

आत्मनेपद

समो गम्यृच्छिभ्याम् ॥१।३।२९॥

समः ५।१॥ गम्यृच्छिभ्याम् ५।२॥ स०—गमिश्च ऋच्छिश्च गम्यृच्छी, ताभ्याम्... इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्मकात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वाभ्यामकर्मकाभ्यां गम् ऋच्छ इत्येताभ्यां धातुभ्यामात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सङ्गच्छते। समृच्छते ॥

भाषार्थः—[समः] सम्पूर्वक अकर्मक [गम्यृच्छिभ्याम्] गम् तथा ऋच्छ धातुओं से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—सङ्गच्छते (साथ-साथ चलता है)। समृच्छते (प्राप्त होता है) ॥ सङ्गच्छते की सिद्धि परि० १।३।२८ के आयच्छते के समान जानें। केवल यहां सम्

के मकार को मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार, तथा वा पदान्तस्य (८।४।५८) से अनुस्वार को परसवर्ण 'ङ्' हो गया है, यही विशेष है ॥

निसमुपविभ्यो ह्रः ॥१।३।३०॥

आत्मनेपद

निसमुपविभ्यः ५।३॥ ह्रः ५।१॥ स०—निश्च सम् च उपश्च विश्च निस-
मुपवयः, तेभ्यः—इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—नि सम्
उप वि इत्येवंपूर्वाद् ह्रैर्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—निह्वयते । संह्वयते ।
उपह्वयते । विह्वयते ॥

भाषार्थः—[निसमुपविभ्यः] नि, सम्, उप तथा विपूर्वक [ह्रः] ह्रैर्धातु से
आत्मनेपद होता है ॥

ह्रैर् के जित होने से कर्त्रभिप्राय विषय में आत्मनेपद प्राप्त था, यहां कर्त्रभि-
प्रायविषय में भी आत्मनेपद हो जाये, इसलिये यह सूत्र है । जित् धातुओं में आगे
भी यही प्रयोजन समझते जाना चाहिये ॥

उदा०—निह्वयते (निश्चयरूप से बुलाता है) । संह्वयते (अच्छी प्रकार
बुलाता है) । उपह्वयते (समीप बुलाता है) । विह्वयते (विशेषरूप से
बुलाता है) ॥

'निह्वे अ ते' इस अवस्था में एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर
निह्वयते आदि बन गये हैं । कुछ भी विशेष नहीं है ॥

यहाँ से 'ह्रः' की अनुवृत्ति १।३।३१ तक जाती है ॥

स्पर्धायामाङः ॥१।३।३१॥

आत्मनेपद

स्पर्धायाम् ७।१॥ आङः ५।१॥ अनु०—ह्रः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—स्पर्धायां
विषये आङ्पूर्वाद् ह्रैर्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—मल्लो मल्लमाह्वयते ।
छात्रश्छात्रमाह्वयते ॥

भाषार्थः—[स्पर्धायाम्] स्पर्धा-विषय में [आङः] आङ्पूर्वक ह्रैर्धातु से
आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—मल्लो मल्लमाह्वयते (एक मल्ल=पहलवान दूसरे मल्ल को कुश्ती के
लिये ललकारता है, अर्थात् स्पर्धा करता है) । छात्रश्छात्रमाह्वयते (एक छात्र दूसरे
को स्पर्धा से ललकारता है) ॥

आत्मनेपद

गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिकयप्रतियत्नप्रकथनयोगेषु कृजः ॥१।३।३२॥

गन्धना...योगेषु ७।३॥ कृजः ५।१॥ स०—गन्धनञ्च अवक्षेपणञ्च सेवनञ्च

साहसिक्यञ्च प्रतियत्नश्च प्रकथनञ्च उपयोगश्च गन्धना...योगाः, तेषु...इतरेतर-
योगद्वन्द्वः ॥ अनु० — आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—गन्धनम् = सूचनम्, अवक्षेपणं = भर्त्स-
नम्, सेवनं = सेवा, साहसिक्यं = साहसिकं कर्म, प्रतियत्नः = गुणान्तराधानम्, प्रकथनं
= प्रक्षेपणं कथनम्, उपयोगः = धर्मार्थो विनियोगः, इत्येतेष्वर्थेषु वर्त्तमानात् कृब्धातो-
रात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—गन्धने—उत्कुरुते, उदाकुरुते । अवक्षेपणे—इयेनो
वर्त्तिकामुदाकुरुते । सेवने—आचार्यमुपकुरुते शिष्यः । साहसिक्ये—परदारान्
प्रकुरुते । प्रतियत्ने—एधोदकस्योपस्कुरुते, काण्डं गुडस्योपस्कुरुते । प्रकथने—जना-
पवादान् प्रकुरुते, गाथाः प्रकुरुते । उपयोगे—शतं प्रकुरुते, सहस्रं प्रकुरुते ॥

भाषार्थः—[गन्धना...योगेषु] गन्धन = चुगली करना, अवक्षेपण = धमकाना,
सेवन = सेवा करना, साहसिक्य = जबरदस्ती करना, प्रतियत्न = किसी गुण को भिन्न
गुण में बदलना, प्रकथन = बढ़ा-चढ़ाकर कहना, तथा उपयोग = धर्मादिकार्य में लगाना,
इन अर्थों में वर्त्तमान [कृजः] कृज् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—उत्कुरुते,
उदाकुरुते (चुगली करता है) । इयेनो वर्त्तिकामुदाकुरुते (इयेन = बाज पक्षी बत्तख
को भर्त्सना करता है, अर्थात् उठाकर ले जाना चाहता है) । आचार्यमुपकुरुते शिष्यः
(शिष्य आचार्य की सेवा करता है) । परदारान् प्रकुरुते (पराई स्त्री पर दुस्साहस
करता है) । एधोदकस्योपस्कुरुते (ईं धन जल के गुण को बदलता है) । काण्डं गुडस्यो-
पस्कुरुते (सुकलाई = भिण्डी का पौधा गुड़ के गुण को बदलता है) । जनापवादान्
प्रकुरुते (लोगों की बुराई को अच्छी तरह बढ़ाचढ़ाकर कहता है), गाथाः प्रकुरुते
(कथायें अच्छी प्रकार करता है) । शतं प्रकुरुते (सौ रुपये धर्मकार्य में लगाता है),
सहस्रं प्रकुरुते ॥

यहां से 'कृजः' की अनुवृत्ति १।३।३५ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

अधेः प्रसहने ॥१।३।३३॥

अधेः ५।१॥ प्रसहने ७।१॥ अनु०—कृजः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—प्रसहनेऽर्थं
वर्त्तमानादधिपूर्वात् कृब्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शत्रुमधिकुरुते ॥

भाषार्थः—[प्रसहने] प्रसहन अर्थ में वर्त्तमान [अधेः] अधिपूर्वक कृज् धातु से
आत्मनेपद होता है ॥ प्रसहन किसी को दबा लेने वा हरा देने को कहते हैं ॥

उदा०—शत्रुमधिकुरुते (शत्रु को वश में करता है) ॥

१. भिण्डी के पौधे को गुड़ घनाते समय रस में डालकर गुड़ साफ किया जाता है ।

इतिहास

वेः शब्दकर्मणः ॥१३३४॥

आत्मनेपद

वेः ५।१॥ शब्दकर्मणः ५।१॥ स०—शब्दः कर्म यस्य स शब्दकर्म, तस्मात् शब्दकर्मणः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कृञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—विपूर्वात् शब्दकर्मणः कृञ्घातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—क्रोष्टा विकुरुते स्वरान् । ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान् ॥

भाषार्थः—[शब्दकर्मणः] शब्दकर्मवाले [वेः] विपूर्वक कृञ् घातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—क्रोष्टा विकुरुते स्वरान् (गीदड़ स्वरों को बिगाड़-बिगाड़ कर बोलता है) । ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान् (कौवा स्वरों को बिगाड़-बिगाड़ कर बोलता है) ॥ उदाहरणों में 'विकुरुते' का 'स्वर' शब्दकर्म है, सो आत्मनेपद हो गया है ॥

यहां से 'वेः' की अनुवृत्ति १।३।३५ तक जाती है ॥

अकर्मकाच्च ॥१३३५॥

आत्मनेपद

अकर्मकात् ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—वेः, कृञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—विपूर्वाद् अकर्मकात् कृञ्घातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—विकुर्वते सैन्धवाः । ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते ॥

भाषार्थः—विपूर्वक [अकर्मकात्] अकर्मक कृञ् घातु से [च] भी आत्मनेपद होता है ॥ वि+कुरु+भ, पूर्ववत् होकर भ को आत्मनेपदेऽवनतः (७।१।५) से अत् आदेश होकर, तथा इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर 'विकुर्वते' बना ॥

उदा०—विकुर्वते सैन्धवाः (अच्छी प्रकार सिखाये हुए घोड़े चौकड़ी मारते हैं) । ओदनस्य पूर्णाश्छात्राः विकुर्वते (भरपेट चावल खाकर छात्र व्यर्थ कूद-फांद करते हैं) ॥

सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियाः ॥१३३६॥

आत्मनेपद

सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु ७।३॥ नियाः ५।१॥ स०—सम्माननञ्च उत्सञ्जनं च आचार्यकरणं च ज्ञानं च भृतिश्च विगणनं च व्ययश्च सम्माननोत्सञ्जनं व्ययाः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्माननं=पूजनम्, उत्सञ्जनम्=उत्क्षेपणम्, आचार्यकरणम्=आचार्यक्रिया, ज्ञानं=तत्त्वनिश्चयः, भृतिः=वेतनम्, विगणनं=ऋणादेर्निर्यातनम्, व्ययः=धर्मादिषु विनियोगः, इत्येतेष्वर्थेषु वर्तमानाद् णीञ् प्रापणे घातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सम्माननम्—मातरं सन्नयते, नयते आचार्यो वेदेषु । उत्सञ्जनम्—दण्डमुन्नयते, माणवकमुदानयते । आचार्यकरणम्—माणवकमुपनयते । ज्ञानम्—नयते बुद्धिः वेदेषु । भृतिः—कर्मकरान् उपनयते । विगणनम्—मद्राः करं विनयन्ते । व्ययः—शतं विनयते, सहस्रं विनयते ॥

भाषार्थः—[सम्मानन...व्ययेषु] सम्मानन=पूजा, उत्सञ्जन=उछालना, आचार्यकरण=आचार्यक्रिया, ज्ञान=तत्त्वनिश्चय, विगणन=ऋणादि का चुकाना, व्यय=धर्मादि-कार्यों में व्यय करना, इन अर्थों में वर्तमान [नियः] णीञ् घातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—सम्मानन—मातरं सन्नयते (माता की पूजा करता है), नयते आचार्यों वेदेषु (आचार्य शिष्य की बुद्धि को वेदों में प्रवृत्त कराता है, वह उसमें प्रवृत्त होकर सम्मान को प्राप्त होता है) । उत्सञ्जन—दण्डमुन्नयते (दण्ड को उछालता है), माणवकमुदानयते (बच्चे को उछालता है) । आचार्यकरण—माणवकमुपनयते (बच्चे का उपनयन करता है) । ज्ञान—नयते बुद्धिः वेदेषु (वेदविषय में बुद्धि चलती है) । भूति—कर्मकरानुपनयते (नौकरों को वेतन देकर अपने अनुकूल करता है) । विगणन—मद्राः करं विनयन्ते (मद्र देशवासी कर देते हैं) । व्यय—शतं विनयते, सहस्रं विनयते (धर्मकार्य में सौ रुपये देता, वा सहस्र रुपये देता है) ।

यहां से 'नियः' की अनुवृत्ति १।३।३७ तक जायेगी ॥

आत्मनेपद

कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि ॥१।३।३७॥

कर्तृस्थे ७।१॥ च अ०॥ अशरीरे ७।१॥ कर्मणि ७।१॥ स०—कर्तरि तिष्ठतीति कर्तृस्थः, तत्पुरुषः । न शरीरम्, इति अशरीरम्, तस्मिन्नशरीरे, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नियः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—कर्तृस्थेऽशरीरे कर्मणि च सति णीञ्घातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—क्रोधं विनयते, मन्युं विनयते ॥

भाषार्थः—[कर्तृस्थे] कर्ता में स्थित [अशरीरे] शरीर-भिन्न [कर्मणि] कर्म होने पर [च] भी णीञ् घातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—क्रोधं विनयते, मन्युं विनयते (क्रोध की दूर करता है, मन्यु को दूर करता है) ॥ यहां पर क्रोध और मन्यु णीञ् घातु के शरीर-भिन्न कर्म हैं, तथा कर्ता में स्थित भी हैं । अतः णीञ् घातु से आत्मनेपद हो गया ॥

आत्मनेपद

वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः ॥१।३।३८॥

वृत्तिसर्गतायनेषु ७।३॥ क्रमः ५।१॥ स०—वृत्तिश्च सर्गश्च तायनञ्च वृत्ति-सर्गताऽव्ययनि, तेषु वृत्तिसर्गतायनेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—वृत्तिः=अप्रतिबन्धः, सर्गः=उत्साहः, तायनं=विस्तारः, इत्येतेष्वर्थेषु वर्तमानात् क्रमघातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—वृत्तिः—मन्त्रेषु अस्य क्रमते बुद्धिः । सर्गः—व्याकरणाध्ययनाय क्रमते । तायनम्—अस्मिन् शास्त्राणि क्रमन्ते ॥

भाषार्थः—[वृत्तिसर्गतायनेषु] वृत्ति=अनिरोध (बिना रुकावट के चलना),

सर्ग=उत्साह, तायन=विस्तार, इन अर्थों में वर्तमान [क्रमः] क्रम धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—वृत्ति-मन्त्रेषु अस्य क्रमते बुद्धिः (मन्त्रों में इसकी बुद्धि खूब चलती है, रुकती नहीं है) । सर्ग-व्याकरणाध्ययनाय क्रमते (व्याकरण पढ़ने में उत्साहित होता है) । तायन-अस्मिन् शास्त्राणि क्रमन्ते (इसमें शास्त्र समूह होते हैं) ॥ सिद्धि पूर्ववत् ही है ॥

यहाँ से 'क्रमः' की अनुवृत्ति १।३।४३ तक जायेगी, तथा 'वृत्तिसर्गतायनेषु' की अनुवृत्ति १।३।३६ तक जायेगी ॥

उपपराभ्याम् ॥१।३।३६॥ आत्मनेपद

उपपराभ्याम् १।२॥ स०—उपश्च पराश्च उपपरी, ताभ्यामुपपराभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उपपरापूर्वाद् वृत्तिसर्गतायनेष्वर्थेषु वर्तमानात् क्रमधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—उपक्रमते । पराक्रमते ॥

भाषार्थः—[उपपराभ्याम्] उप परा पूर्वक क्रम धातु से वृत्ति सर्ग तथा तायन अर्थों में आत्मनेपद होता है (अन्य कोई उपसर्ग पूर्व में हो तो नहीं होता है) ॥

उदा०—उपक्रमते (उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ करता है) । पराक्रमते (पराक्रम अर्थात् पुरुषार्थ करता है) ॥

आङ् उद्गमने ॥१।३।४०॥ आत्मनेपद

आङ् १।१॥ उद्गमने ७।१॥ अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—आङ्पूर्वात् क्रमधातोरुद्गमनेऽर्थे वर्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—आदित्य आक्रमते । आक्रमते चन्द्रमाः । आक्रमन्ते ज्योतीषि ॥

भाषार्थः—[आङ्ः] आङ्पूर्वक [उद्गमने] उद्गमन=उदय होने अर्थ में क्रम धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—आदित्य आक्रमते (सूर्य उदय होता है) । आक्रमते चन्द्रमाः (चन्द्रमा उदय होता है) । आक्रमन्ते ज्योतीषि (तारागण उदय होते हैं) ॥

वेः पादविहरणे ॥१।३।४१॥ आत्मनेपद

वेः १।१॥ पादविहरणे ७।१॥ स०—पादयोः विहरणं पादविहरणम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—विपूर्वात् क्रमधातोः पादविहरणेऽर्थे वर्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सुष्ठु विक्रमते वाजी, साधु विक्रमते वाजी ॥

भाषार्थः—[वेः] विपूर्वक [पादविहरणे] पादविहरण=पैर उठाने अर्थ में वर्तमान क्रम धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—सुष्टु विक्रमते वाजी, साधु विक्रमते वाजी (घोड़ा सुन्दर कदम उठाता है) ॥

आत्मनेपद

प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् ॥१३।४२॥

प्रोपाभ्याम् ५।२॥ समर्थाभ्याम् ५।२॥ स०—समः (समानः) अर्थो ययोः तौ समथौ, ताभ्याम्, बहुव्रीहिः । प्रोपाभ्यामित्यत्रेतरयोर्गद्वन्द्वः ॥ अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—प्र उप इत्येवंपूर्वात् क्रमधातोरात्मनेपदं भवति, यदि तौ 'प्र उप' उपसर्गौ समथौ=समानार्थौ=तुल्यार्थौ भवतः ॥ आदिकर्मण्यर्थेऽनयोस्तुल्यार्थता भवति ॥ उदा०—प्रक्रमते भोक्तुम् । उपक्रमते भोक्तुम् ॥

भाषार्थ—[प्रोपाभ्याम्] प्र उप पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है, यदि वे प्र उप उपसर्ग [समर्थाभ्याम्] समानार्थक=तुल्य अर्थवाले हों, अर्थात् दोनों का एक अर्थ हो तो ॥ आदिकर्म अर्थात् कार्य की प्रारम्भिक अवस्था को कहने में दोनों तुल्यार्थक होते हैं ॥ उदा०—प्रक्रमते भोक्तुम् (भोजन करना प्रारम्भ करता है) । उपक्रमते भोक्तुम् (भोजन करना आरम्भ करता है) ॥

आत्मनेपद विकल्प अनुपसर्गाद्वा ॥१३।४३॥

अनुपसर्गात् ५।१॥ वा अ० ॥ स०—न उपसर्गो यस्य सोऽनुपसर्गः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनुपसर्गात्=उपसर्गरहितात् क्रमधातोर्वाऽत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—क्रमते, क्रामति ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] उपसर्गरहित क्रम धातु से आत्मनेपद [वा] विकल्प करके होता है ॥ सिद्धि पूर्ववत् हैं, केवल परस्मैपद पक्ष में क्रमः परस्मैपदेषु (७।३।७६) से दीर्घ होकर 'क्रामति' बनता है ॥ उदा०—क्रमते, क्रामति (चलता है) ॥

आत्मनेपद

अपह्लवे जः ॥१३।४४॥

अपह्लवे ७।१॥ जः ५।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अपह्लवोऽपलापः, तस्मिन् वर्तमानात् ज्ञाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शतम् अपजानीते । सहस्रम् अपजानीते ॥

भाषार्थः—[अपह्लवे] अपह्लव अर्थात् मिथ्याभाषण अर्थ में वर्तमान [जः] ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—शतम् अपजानीते (सौ रुपये के लिये झूठ बोलता है) । सहस्रम् अपजानीते (हजार रुपये के लिए झूठ बोलता है) ॥

यहां से "जः" की अनुवृत्ति १।३।४६ तक जायेगी ॥

अकर्मकाच्च ॥१३४५॥

आत्मनेपद

अकर्मकात् ५११॥ च अ० ॥ अनु०—जः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अकर्मकात् ज्ञा-घातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सर्पिषो जानीते, मधुनो जानीते ॥

भाषार्थः—[अकर्मकात्] अकर्मक ज्ञा घातु से [च] भी आत्मनेपद होता है ॥ सिद्धि पूर्ववत् है । सर्पिषः, मधुनः में करण में षष्ठी जोऽविदर्थस्य करणे (२।३।५१) से हुई है ॥ उदा०—सर्पिषो जानीते (घी समझकर प्रवृत्त होता है) । मधुनो जानीते (शहद समझकर प्रवृत्त होता है) ॥

संप्रतिभ्यामनाध्याने ॥१३४६॥

आत्मनेपद

संप्रतिभ्याम् ५१२॥ अनाध्याने ७।१॥ स०—सम् च प्रतिश्च सम्प्रती, ताभ्याम् सम्प्रतिभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न आध्यानम् अनाध्यानम्, तस्मिन् अनाध्याने, नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—जः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम् प्रति इत्येवं पूर्वाद् अनाध्यानेऽर्थे वर्तमानाद् ज्ञा-घातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शतं संजानीते, सहस्रं संजानीते । शतं प्रतिजानीते, सहस्रं प्रतिजानीते ॥

भाषार्थः—[सम्प्रतिभ्याम्] सम् प्रति पूर्वक ज्ञा घातु से [अनाध्याने] अनाध्यान अर्थात् उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ में वर्तमान न हो, तो आत्मनेपद होता है ॥ पूर्वसूत्र में अकर्मक से आत्मनेपद का विधान किया था । यहाँ पर सम् प्रति पूर्वक सकर्मक से भी हो जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥ उदा०—शतं संजानीते, सहस्रं संजानीते (सौ वा हजार की प्रतिज्ञा करता है) । शतं प्रतिजानीते, सहस्रं प्रतिजानीते (सौ वा हजार की प्रतिज्ञा करता है) ॥

आत्मनेपद

भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः ॥१३४७॥

भासनोप... मन्त्रणेषु ७।३॥ वदः ५।१॥ स०—भासनञ्च उपसंभाषा च ज्ञानञ्च यत्नश्च विमतिश्च उपमन्त्रणञ्च भासनोप... मन्त्रणानि, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—भासनं=दीप्तिः, उपसंभाषा=उपसान्त्वनम्, ज्ञानं=सम्यगवबोधः, यत्नः=उत्साहः, विमतिः=नानामतिः, उपमन्त्रणम्=एकान्ते भाषणम्, इत्येतेष्वर्थेषु वर्तमानाद् वदघातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—भासनम्—शास्त्रे वदते । उपसंभाषा—कर्मकरानुपवदते । ज्ञानम्—व्याकरणे वदते । यत्नः—क्षेत्रे वदते, गेहे वदते । विमतिः—क्षेत्रे विवदन्ते, गेहे विवदन्ते । उपमन्त्रणम्—राजानम् उपवदते मन्त्री ॥

भाषार्थः—[भासन—णेषु] भासन आदि अर्थों में वर्तमान [वदः] वद धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—भासन—शास्त्रे वदते (शास्त्र में उसकी बुद्धि प्रकाशित होती है) । उपसंभाषा—कर्मकरानुपवदते (नौकरों को सान्त्वना देता है) । ज्ञान—व्याकरणे वदते (व्याकरण का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करता है) यत्न—क्षेत्रे वदते, गेहे वदते (क्षेत्र में वा घर में पुरुषार्थ करता है) विमति—क्षेत्रे विवदन्ते, गेहे विवदन्ते (खेत में या घर में विवाद करते हैं) । उपमन्त्रण—राजानम् उपवदते मन्त्री (राजा से मन्त्री एकान्त में सलाह करता है) ॥

यहाँ से 'वदः' की अनुवृत्ति १।३।५० तक जायेगी ॥

व्यक्तवाचां समुच्चारणे ॥१।३।४८॥ आत्मनेपद

व्यक्तवाचां ६।३॥ समुच्चारणे ७।१॥ स०—व्यक्ता वाग् येषाम् ते व्यक्त-वाचः। तेषां व्यक्तवाचाम्, बहुव्रीहिः । समुच्चारणे इत्यत्र कृगतिप्रादयः (२।२।१८) इत्यनेन तत्पुरुषः ॥ अनु०—वदः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—व्यक्तवाचां=स्पष्टवाचां समुच्चारणे=सहोच्चारणेऽर्थे वर्तमानाद् वदधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—संप्र-वदन्ते ब्राह्मणाः । संप्रवदन्ते क्षत्रियाः ॥

भाषार्थः—[व्यक्तवाचाम्] स्पष्टवाणीवालों के [समुच्चारणे] सहोच्चारण = एक साथ उच्चारण करने अर्थ में वर्तमान वद धातु से आत्मनेपद हो जाता है ॥ उदा०—संप्रवदन्ते ब्राह्मणाः (ब्राह्मण परस्पर मिलकर उच्चारण करते हैं) । संप्रवदन्ते क्षत्रियाः (क्षत्रिय परस्पर मिलकर उच्चारण करते हैं) ॥

यहाँ से "व्यक्तवाचां समुच्चारणे" सारा सूत्र १।३।५० तक जायेगा ॥

आत्मनेपद

अनोरकर्मकात् ॥१।३।४९॥

अनोः ५।१॥ अकर्मकात् ५।१॥ अनु०—व्यक्तवाचां समुच्चारणे, वदः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनुपूर्वाद् अकर्मकाद् वद-धातोर्व्यक्तवाचां समुच्चारणेऽर्थे वर्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—अनुवदते कठः कलापस्य । अनुवदते मौद्गः पँप्पलादस्य ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु पूर्वक [अकर्मकात्] अकर्मक वद धातु से व्यक्त-वाणीवालों के एक साथ उच्चारण करने अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—अनु-वदते कठः कलापस्य (जैसे कलाप-शाखाध्यायी बोलता है, वैसे ही उसके पीछे कठ बोलता है) । अनुवदते मौद्गः पँप्पलादस्य (जैसे पँप्पलाद-शाखावाला बोलता है, वैसे ही उसके पीछे मौद्ग-शाखावाला बोलता है) ॥

विभाषा विप्रलापे ॥१३॥५०॥ आत्मनेपद विभाषा

विभाषा १११ ॥ विप्रलापे ७११ ॥ अनु०—व्यक्तवाचां समुच्चारणे, वदः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—विप्रलापे=विरुद्धकथनात्मके व्यक्तवाचां समुच्चारणार्थे वर्त्तमानाद् वद-धातोरात्मनेपदं वा भवति ॥ उदा०—विप्रवदन्ते सांवत्सराः, विप्रवदन्ति सांवत्सराः । विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैयाकरणाः ॥

भाषार्थः—[विप्रलापे] परस्पर-विरुद्ध कथनरूप, व्यक्तवाणीवालों के सह उच्चारण में वर्त्तमान वद धातु से आत्मनेपद [विभाषा] विकल्प करके होता है, पक्ष में परस्मैपद होता है ॥ पूर्वसूत्र व्यक्तवाचां समुच्चारणे (१३॥४८) से नित्य आत्मनेपद प्राप्त था, यहां विकल्प कर दिया ॥ उदा०—विप्रवदन्ते सांवत्सराः, विप्रवदन्ति सांवत्सराः (ज्योतिषी लोग परस्पर विरुद्ध कथन करते हैं) । विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैयाकरणाः (वैयाकरण लोग परस्पर खण्डन करते हैं) ॥

अवाद् ग्रः ॥१३॥५१॥

आत्मनेपद

अवात् ५११ ॥ ग्रः ५११ ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—‘गृ निगरणे’ तुदादी पठ्यते, तस्येदं ग्रहणम् । अवपूर्वाद् ‘गृ निगरणे’ इत्यस्माद् धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—अवगिरते, अवगिरते, अवगिरन्ते ॥

भाषार्थः—[अवात्] अवपूर्वक [ग्रः] ‘गृ निगरणे’ धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—अवगिरते (निगलता है) ॥

पूर्ववत् ‘गृ+त’ होकर तुदादिभ्यः शः (३११७७) से शप् का अपवाद श होकर, ऋत इद्धातोः (७१११००) से ऋ को इत् होकर, उरणपरः (१११५०) से रपरत्व होकर—‘अव गिर् अ त’=अवगिरते पूर्ववत् बन गया ॥

यहां से ‘ग्रः’ की अनुवृत्ति १३॥५२ तक जायेगी ॥

समः प्रतिज्ञाने ॥१३॥५२॥

आत्मनेपद

समः ५११ ॥ प्रतिज्ञाने ७११ ॥ अनु०—ग्रः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वात् प्रतिज्ञाने=प्रतिज्ञार्थे वर्त्तमानाद् गृ-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शतं सङ्गिरते । नित्यं शब्दं सङ्गिरते ॥

भाषार्थः—[समः] सम् पूर्वक गृ धातु से [प्रतिज्ञाने] स्वीकार करने अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—शतं संगिरते (सौ रुपये स्वीकार करता है) । नित्यं शब्दं संगिरते (शब्द नित्य होता है, ऐसा स्वीकार करता है) ॥

उदइचरः सकर्मकात् ॥१३।५३॥

उदः ५।१॥ चरः ५।१॥ सकर्मकात् ५।१॥ स०—सह कर्मणेति सकर्मकः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उत्पूर्वात् सकर्मकात् चर्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—गेहमुच्चरते । कुटुम्बमुच्चरते । गुरुवचनमुच्चरते ॥

भाषार्थः—[उदः] उत् पूर्वक [सकर्मकात्] सकर्मक [चरः] चर् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ यहाँ गेहम् कुटुम्बं आदि चर् धातु के कर्म हैं, अतः सकर्मक चर् धातु है ॥ उदा०—गेहम् उच्चरते (घर की बात न मानकर चला जाता है) । कुटुम्ब-मुच्चरते (कुटुम्ब की बात न मानकर चला जाता है) । गुरुवचनमुच्चरते (गुरुवचन न मानकर चला जाता है) । उत् चरते, यहाँ स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३६) से त को च् होकर उच्चरते बना । शेष पूर्ववत् ही है ॥

यहाँ से “चरः” की अनुवृत्ति १।३।५४ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

समस्तृतीयायुक्तात् ॥१३।५४॥

समः ५।१॥ तृतीयायुक्तात् ५।१॥ स०—तृतीयया युक्तः तृतीयायुक्तः, तस्मात्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—चरः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वात् तृतीया-युक्तात् चर्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—अश्वेन सञ्चरते ॥

भाषार्थः—[तृतीयायुक्तात्] तृतीया विभक्ति से युक्त [समः] सम् पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—अश्वेन सञ्चरते (घोड़े से चलता है) ॥

यहाँ से “समस्तृतीयायुक्तात्” की अनुवृत्ति १।३।५५ तक जायेगी ॥

आत्मनेपद

दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥१३।५५॥

दाणः ५।१॥ च अ० ॥ सा १।१॥ चेत् अ० ॥ चतुर्थ्यर्थे ७।१॥ स०—चतुर्थ्या अर्थः चतुर्थ्यर्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—समस्तृतीयायुक्तात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वात् तृतीयायुक्तात् ‘दाण् दाने’ इति धातोरात्मनेपदं भवति, सा चेत् तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवति ॥ उदा०—स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते उपा-ध्यायेन सकृन् सप्रयच्छते ॥ अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम्, इत्यनेन वार्तिकेनात्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया भवति ॥

भाषार्थः—तृतीया से युक्त सम् पूर्वक [दाणः] दाण् धातु से [च] भी आत्मने-पद होता है, [चेत्] यदि [सा] वह तृतीया [चतुर्थ्यर्थे] चतुर्थी के अर्थ में हो तो ॥ चतुर्थी के अर्थ में तृतीया उपरिलिखित वार्तिक से होती है ॥ दाण् को यच्छ आदेश पाश्चात्त्यास्थाप्ना० (७।३।७८) सूत्र से शित् परे रहते हुआ है । शेष पूर्ववत् ही समर्थ ॥

उदा०—स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते उपाध्यायेन सक्तून् संप्रयच्छते (छात्र अपने आप चावल खाता है और उपाध्याय को सत्तू देता है) ॥

उपाद्यमः स्वकरणे ॥१३।५६॥

उपात् ५।१॥ यमः ५।१॥ स्वकरणे ७।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—
उपपूर्वात् स्वकरणे=पाणिग्रहणे=विवाहेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥
उदा०—कन्यामुपयच्छते ॥

भाषार्थः—[स्वकरणे] स्वकरण अर्थात् पाणिग्रहण अर्थ में वर्त्तमान [उपात्]
उप पूर्वक [यमः] यम् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—कन्यामुपयच्छते
(कन्या से विवाह करता है) ॥ 'उप+यम्+शप्+त' इस अवस्था में इषुगमियमां
छः (७।३।७७) से छ आदेश अन्त्य अल् मकार के स्थान में होकर, छे च (६।१।७१)
से तुक् का आगम होकर—'उप+य+त्+छ्+अ+त' बना । स्तोः श्चुना श्चुः
(५।४।३६) से त् को च, तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर—कन्याम् उपयच्छते बन गया ॥

ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः ॥१३।५७॥

ज्ञाश्रुस्मृदृशां ६।३॥ सनः ५।१॥ स०—ज्ञा च श्रु च स्मृ च दृश् च इति
ज्ञाश्रुस्मृदृशः, तेषां ज्ञाश्रुस्मृदृशाम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—
ज्ञा श्रु स्मृ दृश् इत्येतेषां सन्नन्तानाम् आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—धर्मं जिज्ञासते ।
गुरुं श्रुश्रूषते । नष्टं सुस्मृषते । नृपं दिदृक्षते ॥

भाषार्थः—[ज्ञाश्रुस्मृदृशाम्] ज्ञा, श्रु, स्मृ, दृश् इन धातुओं के [सनः]
सन्नन्त से परे आत्मनेपद होता है ॥ ये धातुयें परस्मैपदी थीं, अतः इन्हें पूर्ववत्सनः
(१।३।६२) से आत्मनेपद प्राप्त नहीं था, सो यह सूत्र बनाया ॥ उदा०—धर्मं
जिज्ञासते (धर्म को जानने की इच्छा करता है) । गुरुं श्रुश्रूषते (गुरुवचन को सुनने
की इच्छा करता है) । नष्टं सुस्मृषते (नष्ट हुये को स्मरण करना चाहता है) । नृपं
दिदृक्षते (राजा को देखने की इच्छा करता है) ॥

यहाँ से "सनः" की अनुवृत्ति १।३।५६ तक जायेगी ॥

नानोज्ञः ॥१३।५८॥

न अ० ॥ अनोः ५।१॥ ज्ञः ५।१॥ अनु०—सनः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—
अनुपूर्वात् सन्नन्तात् ज्ञा-धातोरात्मनेपदं न भवति ॥ पूर्वेण सूत्रेणात्मनेपदं प्राप्तं
तत् प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—पुत्रम् अनुजिज्ञासति ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु पूर्वक सन्नन्त [जः] जा धातु से आत्मनेपद [न] नहीं होता है ॥ पूर्व सूत्र से आत्मनेपद प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया ॥

उदा०—पुत्रम् अनुजिज्ञासति (पुत्र को अनुमति देना चाहता है) ॥

यहां से “न” की अनुवृत्ति १।३।५६ तक जाती है ॥

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः ॥१।३।५६॥

प्रत्याङ्भ्यां ५।२॥ श्रुवः ५।१॥ स०—प्रतिश्च आङ् च प्रत्याङी, ताभ्याम्—इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, सनः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—प्रति आङ् इत्येवं-पूर्वात् सन्नन्तात् श्रु-धातोरात्मनेपदं न भवति ॥ उदा०—प्रतिशुश्रूषति । आशुश्रूषति ॥

भाषार्थः—[प्रत्याङ्भ्याम्] प्रति आङ्पूर्वक सन्नन्त [श्रुवः] श्रु धातु से आत्मनेपद नहीं होता है ॥ जाश्रुस्मृदृशां सनः (१।३।५७) से सामान्य करके आत्मनेपद प्राप्त था, यहाँ प्रति आङ्पूर्व होने पर निषेध कर दिया है ॥ उदा०—प्रतिशुश्रूषति (बदले में सुनना चाहता है) । आशुश्रूषति (अच्छे प्रकार सुनना चाहता है) ॥

शदेः शितः ॥१।३।६०॥

शदेः ५।१॥ शितः ६।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—शित् सम्बन्धी यः शद्लु धातुः, तस्मादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शीयते । शीयेते । शीयन्ते ॥

भाषार्थः—[शितः] शित्सम्बन्धी जो [शदेः] ‘शद्लु शातने’ धातु, उससे आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—शीयते (काटता है) । शीयेते । शीयन्ते ॥ शद् + शप् + त, इस अवस्था में पात्राध्मास्था० (६।३।७८) से ‘शीय’ आदेश होकर पूर्ववत् शीयते बन जाता है ॥

यहां से “शितः” की अनुवृत्ति १।३।६१ तक जाती है ॥

म्रियतेलुङ् लिङोश्च ॥१।३।६१॥

म्रियतेः ५।१॥ लुङ्लिङोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—लुङ् च लिङ् च लुङ्लिङी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—शितः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—लुङ्लिङोः शिद्भावी च यो “मृड् प्राणत्यागे” इति धातुः, तस्मादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—अमृत । मृषीष्ट । शित्—म्रियते । म्रियेते । म्रियन्ते ॥

भाषार्थः—[लुङ्लिङोः] लुङ् लिङ् लकार में [च] तथा शित् विषय में जो [म्रियतेः] ‘मृड् प्राणत्यागे’ धातु, उससे आत्मनेपद होता है ॥ मृड् धातु डित थी,

सो उसे अनुदात्तङित० (१।३।१२) सूत्र से आत्मनेपद सिद्ध ही था, पुनर्विधान नियमार्थ है कि इसको इन-इन विषयों में ही आत्मनेपद हो, सर्वत्र न हो ॥ उदा०—अमृत, मृषीष्ट (वह भर गया, वा मर जाये) । शित्-अ्रियते (मरता है), अ्रियेते, अ्रियन्ते ॥ अमृत, मृषीष्ट की सिद्धि परि० १।२।११ के समान समर्थ ॥ १।२।११ सूत्र से कित्वत् होता है, तथा अमृत में सिच के सकार का लोप ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से होगा ॥ अ्रियते में रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से मृङ् के ऋ को रिङ् आदेश होकर, अचिश्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से इयङ् होकर 'अ्रिय् अ त' रहा, पूर्ववत् सब होकर—अ्रियते बन गया ॥

पूर्ववत् सनः ॥१।३।६२॥

पूर्ववत् अ० ॥ सनः ५।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ पूर्ववद् इत्यत्र तोन तुल्यं० (५।१।११५) इति वतिः ॥ अर्थः—सनः पूर्वो यो धातुः 'आत्मनेपदी' तद्वत् सन्नन्तादपि आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—आस्ते, शेते । अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) इत्यनेनात्रात्मनेपदम् । तद्वत् सन्नन्तादपि आसिसिषते, शिशयिषते, इत्यत्रात्मनेपदं सिध्यति ॥

भाषार्थः—सन् प्रत्यय के आने के पूर्व जो धातु आत्मनेपदी रही हो, उससे [सनः] सन्नन्त से भी [पूर्ववत्] पूर्ववत् आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—आसिसिषते (बैठने की इच्छा करता है) । शिशयिषते (सोने की इच्छा करता है) ॥ आस् तथा शीङ् धातु सन् लाने से पूर्व आत्मनेपदी थीं, सो सन्प्रत्ययान्त बन जाने पर भी उन से आत्मनेपद हुआ ॥ यहां इतना और समझना चाहिए कि सन् से पूर्व जो आत्मनेपदी धातु, उससे आत्मनेपद कह देने पर यह बात स्वयमेव सिद्ध है कि सन् से पूर्व जो परस्मैपदी धातु है, उससे परस्मैपद हो जायगा, जैसे पिपठिषति ॥ सन्नन्त की सिद्धियां पूर्व दिखा ही आये हैं, यहां केवल 'आस् + इट् + सन्' ऐसी अवस्था में अजादेद्वितीयस्य (६।१।२) से प्रथम एकाच को द्वित्व न होकर द्वितीय एकाच को 'आ सि सि स त' ऐसा द्वित्व हुआ, यही विशेष है । शेष पूर्ववत् हुआ ॥

आम्प्रत्ययवत् कृजोऽनुप्रयोगस्य ॥१।३।६३॥

आम्प्रत्ययवत् अ० ॥ कृजः ६।१॥ अनुप्रयोगस्य ६।१॥ स०—आम् प्रत्ययो यस्मात् स आम्प्रत्ययः, बहुव्रीहिः । तस्य इव आम्प्रत्ययवत्, तत्र तस्येव (५।१।११५) इत्यनेन वतिः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—आम्प्रत्ययस्येव धातोरनुप्रयोगस्य कृज आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—ईक्षाञ्चक्रे । ईहाञ्चक्रे ॥

भाषार्थः—[आम्प्रत्ययवत्] जिस धातु से आम् प्रत्यय किया गया है, उसके

समान ही [अनुप्रयोगस्य] पश्चात् प्रयोग की गई [कृवः] कृ धातु से आत्मनेपद हो जाता है ॥

प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु ॥१३।६४॥

प्रोपाभ्यां ५।२॥ युजे. ५।१॥ अयज्ञपात्रेषु ७।३॥ स०—प्रोपाभ्यामित्यत्रेतर-
योगद्वन्द्वः । यज्ञस्य पात्राणि यज्ञपात्राणि, पठ्ठीतत्पुरुषः । न यज्ञपात्राणि अयज्ञ-
पात्राणि, तेष्वयज्ञपात्रेषु, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—प्र, उप
इत्येवंपूर्वाद् युज्-धातोर्ऽयज्ञपात्रप्रयोगविषये आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—प्रयुङ्क्ते ।
उपयुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[अयज्ञपात्रेषु] अयज्ञपात्र विषय में [प्रोपाभ्याम्] प्र उप पूर्वक
[युजेः] 'युजिर् योगे' धातु से आत्मनेपद हो जाता है ॥

समः क्षणुवः ॥१३।६५॥

समः ५।१॥ क्षणुवः ५।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वात् 'क्षणु
तेजने' इति धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—संक्षणुते । संक्षणुवाते । संक्षणुवते ॥

भाषार्थः—[समः] सम् पूर्वक [क्षणुवः] 'क्षणु तेजने' धातु से आत्मनेपद होता
है ॥ उदा०—संक्षणुते (तीक्ष्ण करता है) । संक्षणुवाते, संक्षणुवते में अचि स्नुधातुभ्रुवां०
(६।४।७७) से उवङ् आदेश हो जाता है ॥

भुजोऽनवने ॥१३।६६॥

भुजः ५।१॥ अनवने ७।१॥ स०—अनवन इत्यत्र नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—
आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति रुधादौ पठ्यते, तस्येदं
ग्रहणम् । भुजधातोर्नवननेऽर्थे वर्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—भुङ्क्ते ।
भुञ्जते । भुञ्जते ॥

भाषार्थः—[अनवने] अनवन अर्थात् पालन न करने अर्थ में [भुजः] भुज
धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—भुङ्क्ते (खाता है) ॥ परि० १।३।६४ के
समान ही भुङ्क्ते की सिद्धि जाने ॥

णेरणौ यत्कर्म णौ चेतस कर्तानाध्याने ॥१३।६७॥

णैः ५।१॥ अणौ ७।१॥ यत् १।१॥ कर्म १।१॥ णौ ७।१॥ चेत् अ० ॥ सः
१।१॥ कर्त्ता १।१॥ अनाध्याने ७।१॥ स०—न णिः अणिः, तस्मिन्नणौ, नञ्त्तत्पुरुषः ।
न आध्यानम् अनाध्यानं, तस्मिन्ननाध्याने, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—

अण्यन्तावस्थायां यत्कर्म, ण्यन्तावस्थायां चेत् = यदि तदेव कर्म स एव कर्त्ता भवति, तदा तस्मादण्यन्ताद्धातोरात्मनेपदं भवति, आध्यानं वर्जयित्वा ॥ उदा०—अण्यन्ते—आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, ण्यन्ते—आरोह्यते हस्ती स्वयमेव । अण्यन्ते—उपसिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, ण्यन्ते—उपसेचयते हस्ती स्वयमेव । अण्यन्ते—पश्यन्ति भृत्या राजानम्, ण्यन्ते—दर्शयते राजा स्वयमेव ॥

भाषार्थः—[अणौ] अण्यन्त अवस्था में [यत्] जो [कर्म] कर्म, [सः] वही [चेत्] यदि [णौ] ण्यन्त अवस्था में [कर्त्ता] कर्त्ता बन रहा हो, तो ऐसी [णे] ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है, [अनाध्याने] आध्यान (उत्कण्ठापूर्वक स्मरण) अर्थ को छोड़कर ॥ उदा०—अण्यन्ते—आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (महावत हाथी पर चढ़ते हैं), यहां पर अण्यन्त आङ्पूर्वक रह् धातु का “हस्तिनं” कर्म है । जब हाथी स्वयं भुक्कर महावत को चढ़ाने की चेष्टा करता है, तब उसी वाक्य को “आरोह्यते हस्ती स्वयमेव” (हाथी स्वयं चढ़ाता है) इस प्रकार बोला जाता है । यहां पर आङ्पूर्वक रह् धातु ण्यन्त है । अण्यन्त अवस्था में उसका कर्म ‘हस्तिनं’ था, वही यहां पर कर्त्ता हुआ है । अतः ण्यन्त आङ्पूर्वक रह् धातु से आत्मनेपद हो गया ॥ उपसिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (महावत हस्ती को पानी फेंककर नहलाते हैं), उपसेचयते हस्ती स्वयमेव (हाथी स्वयं भुक्कर महावत से पानी डलवाता है) । पश्यन्ति भृत्या राजानम् (नौकर राजा को देख रहे हैं), दर्शयते राजा स्वयमेव (राजा इस प्रकार से कर रहा है कि नौकर उसे देख लें) । इन उदाहरणों में भी अण्यन्त अवस्था के कर्म ‘हस्तिनं’ और ‘राजानम्’ ण्यन्त अवस्था में कर्त्ता बन गये, तो आत्मनेपद हो गया है ॥ सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है । हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् आकर—आ रह् इ बना, सनाद्यन्ता घातवः (३।१।३२) से पुनः धातु संज्ञा होकर पूर्ववत् शप् त आकर गुण होकर—‘आ रोह इ अ त’ रहा । पुनः गुण होकर—आ रोहे अ त, अयादेश होकर—आरोह्यते बना ॥

यहां से “णेः” की अनुवृत्ति १।३।७१ तक जायेगी ॥

भीस्म्योर्हेतुभये ॥१३।६८॥

भीस्म्योः ६।२॥ हेतुभये ७।१॥ स०—भी च स्मि च भीस्मी, तयोः भीस्म्योः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । हेतोर्भयं हेतुभयं, तस्मिन्...पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—‘त्रिभी भये,’ ‘ष्मिङ् ईषद्वसने,’ आभ्यां ण्यन्ताभ्यामात्मनेपदं

भवति, हेतोः—प्रयोजकाच्चेद् भयं भवति ॥ उदा०—जटिलो भीषयते, मुण्डो भीषयते । जटिलो विस्मापयते, मुण्डो विस्मापयते ॥

भाषार्थः—[भीष्म्योः] भी स्मि ण्यन्त धातुओं से [हेतुभये] हेतु=प्रयोजक कर्त्ता से भय होने पर आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—जटिलो भीषयते, मुण्डो भीषयते (जटावाला वा मुंडा हुआ डराता है) । जटिलो विस्मापयते, मुण्डो विस्मापयते (जटावाला वा मुंडा हुआ डराता है, विस्मित करता है) ॥

‘भीषयते’ की सिद्धि परि० १।१।४५ में कर आये हैं । ‘विस्मापयते’ में णिच् परे रहते नित्यं स्मयतेः (६।१।५६) से स्मिङ् को आत्व होकर—वि स्मा इ, अतिही-व्नी० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ । सो ‘विस्मा पुक् इ’ रहा । शेष पूर्ववत् होकर ‘विस्मापयते’ बन जायेगा ॥

गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने ॥१।३।६६॥

गृधिवञ्च्योः ६।२॥ प्रलम्भने ७।१॥ स०—गृधश्च वञ्चिश्च गृधिवञ्ची, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—‘गृधु अभिकांक्षायाम्,’ ‘वञ्चु गतौ’ इत्येतयोर्ण्यन्तयोः प्रलम्भनेऽर्थे वर्त्तमानयोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—माणवकं गर्धयते । माणवकं वञ्चयते ॥

भाषार्थः—[गृधिवञ्च्योः] गृधु, वञ्चु ण्यन्त धातुओं से [प्रलम्भने] प्रलम्भन अर्थात् ठगने अर्थ में आत्मनेपद हो जाता है ॥ उदा०—माणवकं गर्धयते (बच्चे को भूषण आदि का प्रलोभन देता है) । माणवकं वञ्चयते (बच्चे को ठगता है) ॥

लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च ॥१।३।७०॥

लियः ५।१॥ सम्माननशालीनीकरणयोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—सम्माननञ्च शालीनीकरणञ्च इति सम्माननशालीनीकरणे, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—‘ण्यन्तात् लियः धातोः सम्मानने=पूजने, शालीनीकरणे=अभिभवने चकारात् प्रलम्भने च वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—जटाभिरालापयते । श्येनो वर्त्तिकामुल्लापयते । प्रलम्भने—कस्त्वामुल्लापयते ॥

भाषार्थः—यहाँ ‘लियः’ से ‘लीङ् श्लेषणे’ तथा ‘ली श्लेषणे’ दोनों धातुओं का ग्रहण है । [सम्मानन...करणयो] सम्मानन तथा शालीनीकरण, [च] चकार से प्रलम्भन अर्थ में वर्त्तमान [लियः] ण्यन्त ली धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—जटाभिरालापयते (जटाओं के द्वारा पूजा को प्राप्त होता है) । श्येनो वर्त्तिकामुल्लापयते (बाज पक्षी बत्ख को दबाता है) । प्रलम्भने—कस्त्वामुल्लापयते

(कौन तुझको ठगता है) ॥ उद्+लापयते=उल्लापयते में तोलि (८।४।५६) से व् को ल् हो गया है । सर्वत्र विभाषा लीयते: (६।१।५०) से आत्व होकर, अतिह्रीन्ली० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ है । शेष पूर्ववत् ही जानें ॥

मिथ्योपपदात् कृजोऽभ्यासे ॥१।३।७१॥

मिथ्योपपदात् ५।१॥ कृजः ५।१॥ अभ्यासे ७।१॥ स०—मिथ्याशब्द उप-पदं यस्य स मिथ्योपपदः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—मिथ्याशब्दोपपदादभ्यासे=पुनः पुनरावृत्तिकरणेऽर्थे वर्तमानात् कृज्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—पदं मिथ्या कारयते ॥

भाषार्थः—[मिथ्योपपदात्] मिथ्या शब्द उपपद (=समीप पद) है जिसके, ऐसी ण्यन्त [कृजः] कृज् धातु से [अभ्यासे] अभ्यास अर्थात् बार-बार करने अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—पदं मिथ्या कारयते (पद का बार-बार अशुद्ध उच्चारण करता है) ॥

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ॥१।३।७२॥

स्वरितञितः ५।१॥ कर्त्रभिप्राये ७।१॥ क्रियाफले ७।१॥ स०—स्वरितश्च जश्च स्वरितञौ, स्वरितञौ इतौ यस्य स स्वरितञित्, तस्मात्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । कर्त्तारमभिप्रेतीति कर्त्रभिप्रायं, तस्मिन्, कर्मण्यण् (३।२।१) इत्यण्, उपपदतत्पुरुषः । क्रियाफले इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—स्वरितेतो जितश्च धातोरात्मनेपदं भवति, क्रियाफलं यदि कर्त्तारमभिप्रेति ॥ उदा०—यजते । पचते । सुनुते । कुरुते ॥

भाषार्थः—[स्वरितञितः] स्वरितेत्=स्वरित इत्वाली तथा जकार इत्वाली धातुओं से आत्मनेपद होता है, यदि उस [क्रियाफले] क्रिया का फल [कर्त्रभिप्राये] कर्त्ता को मिलता हो तो ॥

उदा०—यजते (अपने लिये यज्ञ करता है) । पचते (अपने लिये पकाता है) ॥ विदित रहे कि यहां 'यजते' का अर्थ यह होगा कि वह अपने स्वर्गादि फल के लिये यज्ञ करता है, न कि यजमान के लिये, उसमें तो यजति होगा । पचते का अर्थ भी इसी प्रकार अपने खाने के लिये पकाता है, न कि किसी दूसरे के लिये, उसमें पचति होगा । इस प्रकार इन धातुओं से उभयपद (आत्मनेपद-परस्मैपद) सिद्ध हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ कुरुते की सिद्धि परि० १।३।३२ में देखें । तथा सुनुते की सिद्धि परि० १।१।५ के सुनुतः के समान जानें । केवल यहां आत्मनेपद का 'त' आकर टित आत्मने० (३।४।७६) से एत्व हो जावेगा ॥ जहां तक कर्त्रभिप्राय

क्रियाफल की अनुवृत्ति जायेगी, वहां तक इसी प्रकार आत्मनेपद परस्मैपद दोनों ही हुआ करेंगे, ऐसा समझना चाहिये ॥

यहां से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति १।३।७७ तक जायेगी ॥

अपावदः ॥१।३।७३॥

अपात् ५।१॥ वदः ५।१॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥
अर्थः—अपपूर्वाद् वद-धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेऽर्थे आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—
घनकामो न्यायमपवदते ॥

भाषार्थः—[अपात्] अप पूर्वक [वदः] वद धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—घनकामो न्यायम् अपवदते (घन का लोभी न्याय छोड़कर बोलता है) । क्रिया का फल कर्त्ता को न मिलता हो, तो 'अपवदति' बनेगा ॥

णिचइच्च ॥१।३।७४॥

णिचः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥
अर्थः—णिजन्ताद्धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—कटं
कारयते ॥

भाषार्थः—[णिचः] णिजन्त धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में [च] भी आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—कटं कारयते (चटाई को अपने लिये बनवाता है) । यदि दूसरे के लिये बनवाता है, तो 'कटं कारयति' बनेगा ॥

समुदाङ्म्यो यमोऽग्रन्थे ॥१।३।७५॥

समुदाङ्म्यः ५।३॥ यमः ५।१॥ अग्रन्थे ७।१॥ स०—समुदाङ्म्य इत्यत्रेतर-
योगद्वन्द्वः । 'अग्रन्थे' इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मने-
पदम् ॥ अर्थः—सम् उद् आङ् इत्येवंपूर्वाद् यम्-धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेऽर्थे
आत्मनेपदं भवति, ग्रन्थविषयश्चेत् प्रयोगो न स्यात् ॥ उदा०—व्रीहीन् संयच्छते ।
भारम् उद्यच्छते । वस्त्रम् आयच्छते ॥

भाषार्थः—[समुदाङ्म्यः] सम् उद् आङ् पूर्वक [यमः] यम् धातु से [अग्रन्थे] ग्रन्थ-विषयक प्रयोग यदि न हो, तो कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद हो जाता है ॥ उदा०—व्रीहीन् संयच्छते (चावलों को इकट्ठा करता है) । भारम् उद्यच्छते (भार को उठाता है) । वस्त्रम् आयच्छते (वस्त्र को फैलाता है) ॥

आयच्छते इत्यादि की सिद्धि आडो यमहनः (१।३।२८) सूत्र पर कर आये हैं, वहीं देखें । अकर्त्रभिप्राय में 'संयच्छति' इत्यादि भी बन ही जायेगा ॥

अनुपसर्गजिज्ञः ॥१।३।७६॥

अनुपसर्गात् ५।१॥ जः ५।१॥ स०—न विद्यते उपसर्गो यस्य सोऽनुपसर्गः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनुपसर्गाद् ज्ञा-घातोरात्मनेपदं भवति कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ॥ उदा०—गां जानीते । अश्वं जानीते ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] उपसर्गरहित [जः] ज्ञा घातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा० गां जानीते (अपनी गाय को जानता है) । अश्वं जानीते (अपने घोड़े को जानता है) ॥ सिद्धियां अपह्नवे ज्ञः (१।३।४४) सूत्र की तरह ही समझे । अकर्त्रभिप्राय में 'अश्वं जानाति' बनेगा ॥

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने ॥१।३।७७॥

विभाषा १।१॥ उपपदेन ३।१॥ प्रतीयमाने ७।१॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले उपरिष्ठात् पञ्चभिः सूत्रैरात्मनेपदं विहितम्, तस्मिन् विषये उपपदेन = समीपोच्चरितेन पदेन कर्त्रभिप्राये क्रियाफले प्रतीयमाने = ज्ञायमाने सति विभाषाऽऽत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—स्वं यज्ञं यजति, स्वं यज्ञं यजते । स्वं कटं करोति, स्वं कटं कुहते । स्वं पुत्रम् अपवदति, स्वं पुत्रमपवदते, इत्यादीनि ॥

भाषार्थः—[उपपदेन] उपपद = समीपोच्चरित पद के द्वारा कर्त्रभिप्राय क्रियाफल के [प्रतीयमाने] प्रतीत होने पर [विभाषा] विकल्प करके, कर्त्रभिप्राय क्रियाफल विषय में आत्मनेपद होता है ॥ ऊपर के पाँचों सूत्रों से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद नित्य ही प्राप्त था, सो इस सूत्र ने उस विषय में भी विकल्प विधान कर दिया ॥ यहाँ 'स्वं' उपपद से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल प्रतीत हो रहा है ॥

उदा०—स्वं यज्ञं यजति, स्वं यज्ञं यजते (अपने यज्ञ को करता है) । स्वं कटं करोति, स्वं कटं कुहते (अपनी चटाई बनाता है) । स्वं पुत्रम् अपवदति, स्वं पुत्रम् अपवदते (अपने पुत्र को बुरा-भला कहता है) ॥

[परस्मैपद-प्रकरणम्]

शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ॥१।३।७८॥

शेषात् ५।१॥ कर्त्तरि ७।१॥ परस्मैपदम् १।१॥ अर्थः—येभ्यो घातुभ्यो येन

विशेषणेनात्मनेपदमुक्तं, ततो यदन्यत् स शेषः। शेषात् कर्त्तरि वाच्ये परस्मैपदं भवति॥
उदा०—याति । वाति । प्रविशति ॥

भाषार्थः—जिन धातुओं से जिस विशेषण द्वारा आत्मनेपद का विधान किया है, उनसे [शेषात्] जो शेष बची धातुयें, उनसे [कर्त्तरि] कर्तृवाच्य में [परस्मैपदम्] परस्मैपद होता है ॥ उदा०—याति (जाता है) । वाति (चलता है) । प्रविशति (प्रविष्ट होता है) ॥

यहां से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति पाद के अन्त १।३।६३ तक जाती है ॥

अनुपराभ्यां कृञः ॥१।३।७६॥

अनुपराभ्यां ५।२॥ कृञः ५।१॥ स०—अनुपराभ्यामित्यत्रेतरयोर्गद्वन्द्वः ॥
अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—अनु परा इत्येवंपूर्वात् कृञ्धातोः परस्मैपदं भवति ॥
उदा०—अनुकरोति । पराकरोति ॥

भाषार्थः—[अनुपराभ्यां] अनु परा पूर्वक [कृञः] कृञ्-धातु से परस्मैपद होता है ॥ उदा०—अनुकरोति (अनुकरण करता है) । पराकरोति (दूर करता है) ॥ गन्धन आदि अर्थों में, तथा स्वरितजितः० से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में जो आत्मनेपद प्राप्त था, उसका अपवाद यह सूत्र है, ॥

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ॥१।३।८०॥

अभिप्रत्यतिभ्यः ५।३॥ क्षिपः ५।१॥ स०—अभि० इत्यत्रेतरयोर्गद्वन्द्वः ॥
अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—अभि प्रति अति इत्येवंपूर्वात् क्षिप्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—अभिक्षिपति । प्रक्षिपति । अतिक्षिपति ॥

भाषार्थः—[अभिप्रत्यतिभ्यः] अभि प्रति तथा अति पूर्वक [क्षिपः] क्षिप्-धातु से परस्मैपद होता है ॥ क्षिप् धातु के स्वरितेत् होने से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद प्राप्त था, यहां परस्मैपद का विधान कर दिया है ॥ उदा०—अभिक्षिपति (इधर-उधर फेंकता है) । प्रक्षिपति (बदले में फेंकता है) । अतिक्षिपति (बहुत फेंकता है) ॥

प्रावृहः ॥१।३।८१॥

प्रात् ५।१॥ वृहः ५।१॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—प्रपूर्वाद् वृह-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—प्रवहति, प्रवहतः, प्रवहन्ति ॥

भाषार्थः—[प्रात्] प्रपूर्वक [वृहः] वृह् धातु से परस्मैपद होता है ॥

उदा०—प्रवहति (बहता है), प्रवहतः, प्रवहन्ति ॥ यहां भी स्वरितेत् होने से पूर्ववत्
आत्मनेपद प्राप्त था, परस्मैपद कह दिया ॥

परिमृषः ॥१३॥८२॥

परेः ५।१॥ मृषः ५।१॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—‘परि’ इत्येवं पूर्वात्
मृष्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—परिमृष्यति, परिमृष्यतः, परिमृष्यन्ति ॥

भाषार्थः—[परेः] परिपूर्वक [मृषः] मृष् धातु से परस्मैपद होता है ॥
उदा०—परिमृष्यति (सब प्रकार से सहन करता है), परिमृष्यतः, परिमृष्यन्ति ॥
यह भी स्वरितेत् धातु था, सो नित्य परस्मैपद का विधान कर दिया ॥ दिवादिगण
का होने से दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६६) से शप् का अपवाद श्यन् हो जाता है ॥

व्याङ्परिभ्यो रमः ॥१३॥८३॥

व्याङ्परिभ्यः ५।३॥ रमः ५।१॥ स०—व्याङ्परि० इत्यत्रेतरैतरयोगद्वन्द्वः ॥
अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—वि व्याङ् परि इत्येवं पूर्वाद् रम्-धातोः परस्मैपदं
भवति ॥ उदा०—विरमति । आरमति । परिरमति ॥

भाषार्थः—[व्याङ्परिभ्यः] वि व्याङ् परि पूर्वक [रमः] रम् धातु से
परस्मैपद होता है ॥ उदा०—विरमति (रुकता है) । आरमति (खेलता है) । परि-
रमति (चारों ओर खेलता है) ॥ अनुदात्तत्वे होने से अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।
१२) से आत्मनेपद प्राप्त था, परस्मैपद कर दिया ॥

यहां से ‘रमः’ की अनुवृत्ति १।३।८५ तक जायेगी ॥

उपाच्च ॥१३॥८४॥

उपात् ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—रमः, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—उप पूर्वाच्च
रम्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—देवदत्तम् उपरमति ॥

भाषार्थः—[उपात्] उपपूर्वक रम् धातु से [च] भी परस्मैपद होता है ॥
उदा०—देवदत्तम् उपरमति (देवदत्त को हटाता है) ॥

यहां से ‘उपात्’ की अनुवृत्ति १।३।८५ तक जाती है ॥

विभाषाऽकर्मकात् ॥१३॥८५॥

विभाषा १।१॥ अकर्मकात् ५।१॥ अनु०—उपात्, रमः, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—
अकर्मकादुपपूर्वाद् रम्-धातोर्विभाषा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—यावद्भुक्तमुपरमति
यावद्भुक्तमुपरमते ॥

भाषार्थः—[अकर्मकात्] अकर्मक उपपूर्वक रम् धातु से [विभाषा] विकल्प करके परस्मैपद होता है ॥ उदा०—यावद्भुक्तमुपरमति, यावद्भुक्तमुपरमते (प्रत्येक भोजन से निवृत्त होता है) ॥ पूर्व सूत्र से नित्य परस्मैपद प्राप्त था, यहां विकल्प कर दिया ॥

बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्त्रुभ्यो णेः ॥१३॥८६॥

बुधयुध...भ्यः ५।३॥ णेः ५।१॥ स०—बुधयुध० इत्यत्रेतरैरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—बुध, युध, नश, जन, इङ्, प्रु, द्रु, स्त्रु इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—बोधयति । योधयति । नाशयति । जनयति । अध्यापयति । प्रावयति । द्रावयति । स्त्रावयति ॥

भाषार्थः—[बुध .. भ्यः] बुध् युध् नश् जन् इङ् प्रु द्रु स्त्रु इन [णेः] ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद होता है ॥ उदा०—बोधयति (बोध कराता है) । योधयति (लड़ाता है) । नाशयति (नाश करता है) । जनयति (उत्पन्न करता है) । अध्यापयति (पढ़ाता है) । प्रावयति (प्राप्त कराता है) । द्रावयति (पिघलाता है) । स्त्रावयति (टपकाता है) ॥ यहां ण्यन्त होने से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में णिचश्च १।३।७४) से आत्मनेपद प्राप्त था, परस्मैपद विधान कर दिया ॥ सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है । केवल जनयति में उपधा वृद्धि होकर जनीजृष० (धातुसूत्र) से मित् संज्ञा, तथा मितां ह्रस्वः (६।४।६२) से उपधा ह्रस्वत्त हुआ है । अध्यापयति में अधिपूर्वक इङ् धातु से णिच् आकर, तथा 'इ' को ऐ वृद्धि होकर क्रीङ्जीनां णौ (६।१।४७) से 'ऐ' को आत्व हुआ है, एवं अतिह्रीव्लीरीकनूयी० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ है, शेष पूर्ववत् है ॥

यहां से 'णेः' की अनवृत्ति १।३।८६ तक जाती है ॥

निगरणचलनार्थेभ्यश्च ॥१३॥८७॥

निगरणचलनार्थेभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—निगरणञ्च चलनञ्च इति निगरणचलने, निगरणचलने अर्थौ येषाम् ते निगरणचलनार्थाः, तेभ्यः..... द्वन्द्वगर्भ-बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णेः, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—निगरणार्थेभ्यः चलनार्थेभ्यश्च ण्यन्ते-भ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—निगारयति । आशयति । भोजयति ॥ चलनार्थेभ्यः—चलयति । चोषयति । कम्पयति ॥

भाषार्थः—[निगरण...भ्यः] निगरण अर्थात् निगलने अर्थवाले, तथा चलनार्थक ण्यन्त जो धातु हैं, उनसे [च] भी परस्मैपद होता है ॥ उदा०—निगारयति (निगल-वाता है) । आशयति (खिलाता है) । भोजयति (भोजन कराता है) । चलनार्थेभ्यः—चलयति (चलाता है) । चोषयति (धीरे धीरे चलाता है) । कम्पयति (कंपाता है) ॥

चलयति में घटादयो मितः (धातुपाठ अज० सं० पृ० १२) से मित् संज्ञा, तथा मितां ह्रस्वः (६।४।६२) से ह्रस्व होता है, शेष पूर्ववत् समर्थे ॥

अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् ॥१।३।८८॥

अणी ७।१॥ अकर्मकात् ५।१॥ चित्तवत्कर्तृकात् ५।१॥ स०—अणी इत्यत्र नञ्त्तत्पुरुषः । न विद्यते कर्म यस्य स अकर्मकः, तस्माद्, बहुव्रीहिः । चित्तवान् कर्त्ता यस्य स चित्तवत्कर्तृकः, तस्माद्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णः, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—अण्यन्तावस्थायां यो धातुरकर्मकः चित्तवत्कर्तृकश्च तस्माद् ण्यन्तात् परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—अण्यन्ते—आस्ते देवदत्तः । ण्यन्ते—आसयति देवदत्ताम् । शाययति देवदत्ताम् ॥

भाषार्थः—[अणी] अण्यन्त अवस्था में जो [अकर्मकात्] अकर्मक, तथा [चित्तवत्कर्तृकात्] चेतन कर्त्तावाला धातु हो, उससे ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद होता है ॥ उदा०—अण्यन्त में—आस्ते देवदत्तः (देवदत्त बैठता है) । ण्यन्त में—आसयति देवदत्ताम् (देवदत्त को बिठाता है) । शाययति देवदत्ताम् (देवदत्त को सुलाता है) ॥ यहां पर आस् तथा शीड् धातु अकर्मक हैं, एवं उनका चेतन कर्त्ता देवदत्त है । सो ण्यन्त अवस्था में इनसे परस्मैपद हो गया ॥ यह णिचश्च (१।३।७४) का अपवाद सूत्र है ॥

न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहश्चिन्नृतिवदवसः ॥१।३।८९॥

न अ० ॥ पादम्याङ्य वसः ५।१॥ स०—पाश्च दमिश्च आङ्यमश्च आङ्यसश्च परिमुहश्च रुचिश्च नृतिश्च वदश्च वश्च इति पाद...—वदवः, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—णः, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—पा, दमि, आङ्यम, आङ्यस, परिमुह, रुचि, नृति, वद, वस इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं न भवति ॥ पूर्वोण सूत्रद्वयेन ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं विहितं, तत् प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—पाययते । दमयते । आयाययते । आयासयते । परिमोहयते । रोचयते । नर्त्तयते । वादयते । वासयते ॥

भाषार्थः—पूर्व दो सूत्रों में ण्यन्तों से परस्मैपद का विधान किया है, उसका यह प्रतिषेध सूत्र है । [पाद - वसः] पा, दमि, आङ्पूर्वक यम, आङ्पूर्वक यस, परिपूर्वक मुह, रुचि, नृति, वद, वस इन ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद [न] नहीं होता है ॥ उदा०—पाययते (पिलाता है) । दमयते (दमन कराता है) । आयाययते,

आयासयते (फिकवाता है) । परिमोहयते (अच्छी प्रकार मोहित कराता है) । रोचयते पसन्द कराता है) । नर्त्तयते (नचाता है) । वादयते (कहलाता है) । वासयते (बसाता है) ॥ पाययते में शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७।३।३७) से युक् आगम होता है । दमयते में पूर्ववत् मित्संज्ञा होने से उपधा-ह्रस्वत्व है । आयामयते में 'यमोऽ-परिवेषणे (घातुसूत्र) से मित्संज्ञा का प्रतिषेध होता है ॥

वा क्यषः ॥१।३।६०॥

वा अ० ॥ क्यषः ५।१॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—क्यषन्ताद् घातोर्वा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—लोहितायति, लोहितायते । पटपटायति । पटपटायते ॥

भाषार्थः—[क्यषः] क्यष्प्रत्ययान्त घातु से [वा] विकल्प करके परस्मैपद होता है ॥

यहां से 'वा' की अनुवृत्ति १।३।६३ तक जायेगी ।

द्युद्भ्यो लुङि ॥१।३।६१॥

द्युद्भ्यः ५।३॥ लुङि ७।१॥ अनु०—वा, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—'द्युत' 'दीप्तो' इत्यारभ्य कृपूपयन्तेभ्यो घातुभ्यो लुङि वा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—व्यद्युतत्, व्यद्योतिष्ठ । अलुठत्, अलोठिष्ठ ॥

भाषार्थः—[द्युद्भ्यः] द्युतादि घातुओं से [लुङि] लुङ् को विकल्प करके परस्मैपद होता है ॥ द्युद्भ्यः में बहुवचन-निर्देश करने से द्युतादि घातुओं का (द्युत से लेकर कृपू घातु पर्यन्त का) ग्रहण हो जाता है ॥

वृद्भ्यः स्यसनोः ॥१।३।६२॥

वृद्भ्यः ५।३॥ स्यसनोः ७।२॥ स०—स्यसनोरित्यत्रेतरयोः गद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—वृतादिभ्यो घातुभ्यः स्यसनोः वा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—वत्स्यन्ति । अवत्स्यन्ते । सन्—विवृत्सति । आत्मनेपदे—वत्तिष्यते, अवत्तिष्यत । सन्—विवर्त्तिष्यते ॥

भाषार्थः—[वृद्भ्यः] वृतादि घातुओं से [स्यसनोः] स्य और सन् प्रत्ययों के होने पर विकल्प करके परस्मैपद होता है ॥ द्युतादियों के अन्तर्गत ही वृतादि घातुएं भी हैं ॥ यहां भी बहुवचन-निर्देश करने से वृत् से वृतादियों का ग्रहण किया गया है ॥

यहां से 'स्यसनोः' की अनुवृत्ति १।३।६३ तक जायेगी ॥

लुटि च क्लृपः ॥ १।३।६३॥

लुटि ७।१॥ च अ० ॥ क्लृपः ५।१॥ अनु०—स्यसतोः, वा, परस्मैपदम् ॥
 अर्थः—कृपूधातुर्लुटि च स्यसतोश्च वा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—कल्प्ता,
 कल्प्तारी, कल्प्तारः । कल्पस्यति, अकल्पस्यत् । चिक्लृप्सति । आत्मनेपदे—कल्पिता ।
 कल्पिष्यते, अकल्पिष्यते । चिकल्पिष्यते ॥

भाषार्थः—[क्लृपः]क्लृप(=कृपू)धातु से [लुटि]लुट् को, [च] चकार से स्य
 सन् होने पर भी विकल्प करके परस्मैपद होता है ॥ उदा०—कल्प्ता, कल्प्तारी,
 कल्प्तारः (वह कल समर्थ होगा) । कल्पस्यति (वह समर्थ होगा), अकल्पस्यत्
 (वह समर्थ होता) । चिक्लृप्सति (वह समर्थ होना चाहता है) । पक्ष
 में—कल्पिता, कल्पिष्यते, अकल्पिष्यते, चिकल्पिष्यते ॥ सिद्धियां सारी पूर्ववत् ही हैं ।
 केवल परस्मैपद पक्ष में सर्वत्र तासि च क्लृपः (७।२।६०) से इट् आगम निषेध
 होता है । तथा आत्मनेपद पक्ष में इट् आगम होता है । कृपो रो लः (६।२।१८) से
 सर्वत्र धातुस्थ ऋकार के रेफ अंश को लत्व भी होता है । लुट् लकार में सिद्धि परि०
 १।१।६ में कर आये हैं, उसी प्रकार यहां भी जानें ॥

॥ इति तृतीयः पादः ॥

२४८ सूत्र

चतुर्थः पादः

आ कडारादेका संज्ञा ॥१४१॥

आ अ० ॥ कडारात् ५११॥ एका १११॥ संज्ञा १११॥ अर्थः—कडाराः कर्मधारये (२।२।३८) इति सूत्रं वक्ष्यति । आ एतस्मात् सूत्रावधेः एका संज्ञा भवतीति अधिकारो वेदितव्यः ॥ उदा०—भेत्ता, छेत्ता । शिक्षा, भिक्षा । अततक्षत् ॥

भाषार्थः—[कडारात्] 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) सूत्र [आ] तक [एका] एक [संज्ञा] संज्ञा होती है, यह अधिकार जानना चाहिये ॥

लोक तथा शास्त्र दोनों में एक पदार्थ की कई संज्ञाएं हो जाती हैं, ऐसा देखा जाता है । यथा इन्द्र के शक्र पुरुहूत आदि कई नाम हैं । शास्त्र में भी 'कत्तव्यम्' में तव्यत् की प्रत्यय, कृत्, कृत्य कई संज्ञायें होती हैं । सो इस प्रकरण में भी इसी प्रकार प्राप्त था । अतः कडाराः कर्मधारये (२।२।३८) तक जो संज्ञासूत्र हैं, उनमें से इस अधिकार से एक संज्ञा हो कई नहीं, यह नियम किया है ॥ अब जहां पर दो संज्ञायें प्राप्त हों, वहां कौनसी हो कौनसी न हो, यह प्रश्न था । तो जो उनमें से पर हो या अनवकाश हो, उसे होना चाहिये, दोनों को नहीं ॥

परं कार्यम्

विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥१४२॥

विप्रतिषेधे ७।१॥ परम् १।१॥ कार्यम् १।१॥ अर्थः—विप्रतिषेधः=तुल्यबल-विरोधः, तस्मिन् सति परं कार्यं भवति ॥ उदा०—वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः ॥

भाषार्थः—[विप्रतिषेधे] विप्रतिषेध होने पर [परम्] परवाला सूत्र [कार्यम्] कार्य करता है ॥ यह परिभाषासूत्र है ॥

तुल्यबलविरोध को 'विप्रतिषेध' कहते हैं, अर्थात् जहां दो सूत्र कहीं अन्यत्र उदाहरणों में पृथक्-पृथक् लग चुके हों, पर किसी एक स्थल में दोनों ही प्राप्त हो रहे हों, तो कौनसा हो ? दोनों कहेंगे कि 'मैं लगूंगा, मैं लगूंगा' । तब यह परिभाषासूत्र निर्णय करेगा कि परवाला ही हो, पूर्ववाला नहीं ॥ जैसे—'वृक्ष भ्याम्', यहां पर सुपि च (७।३।१०२) सूत्र दीर्घ करता है, सो वृक्षाभ्याम् बनता है । तथा 'वृक्ष सुप्' यहां बहुवचने भल्येत् (७।३।१०३) से बहुवचन भलादि सुप् परे रहते एत्व होकर वृक्षेषु बनता है । अब यह सुपि च, तथा बहुवचने भल्येत् पृथक्-पृथक् स्थलों में चरितार्थ हैं । पर 'वृक्ष भ्यस्' इस अवस्था में यत्रादि सुप् परे होने से सुपि च से दीर्घ भी प्राप्त है, तथा 'भ्यस्' बहुवचन भलादि सुप् है, सो बहुवचने भल्येत् से एत्व भी

प्राप्त है, सो कौन हो ? तब यहां तुल्यबलविरोध होने से प्रकृत सूत्र से परवाला सूत्र ही लगा । सुपि च की अपेक्षा से बहुवचने भ्रूयेत् अष्टाध्यायी में पर है । अतः बहुवचने भ्रूयेत् से एत्व होकर—दृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः बन गया ॥ भ्यस् के सकार को पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय हो ही जायेगा ॥

[संज्ञा-प्रकरणम्]

नदी

यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥१४।३॥

यू सुपां सुलुक्० (७।१।३६) इत्यनेन विभक्तिर्लुप्यतेऽत्र ॥ स्त्र्याख्यौ १।२॥ नदी १।१॥ स०—ई च ऊ च यू, इतरेतरयोगद्वन्द्वः, इको यणचि (६।१।७४) इत्यनेन यणादेशः । स्त्रियमाचक्षते स्त्र्याख्यौ, उपपदमतिङ् (२।२।१६) इत्यनेन तत्पुरुष-समासः ॥ अर्थः—ईकारान्तमूकारान्तञ्च स्त्र्याख्यं शब्दरूपं नदीसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—कुमार्ये, गौर्ये, शार्ङ्गार्ये । ऊकारान्तम्—ब्रह्मबन्ध्वै, यवाग्वै ॥

भाषार्थः—[यू] ईकारान्त तथा ऊकारान्त जो [स्त्र्याख्यौ] स्त्रीलिङ्ग की आख्या (कहनेवाले) शब्द हैं, उनकी [नदी] नदी संज्ञा होती है ॥

यहां से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ॥

नेयडुवड्स्थानावस्त्री ॥१४।४॥

नदी-नदी

न अ० ॥ इयडुवड्स्थानी १।२॥ अस्त्री १।१॥ स०—इयङ् च उवङ् च इयडुवडो, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । इयडुवडोः स्थानम् अनयोरिति इयडुवड्स्थानी, बहुव्रीहिः । न स्त्री अस्त्री, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ अर्थः—इयङ्-वड्स्थानी ईकारान्त-ऊकारान्तौ शब्दौ स्त्र्याख्यौ नदीसंज्ञकौ न भवतः, स्त्री शब्दं वर्जयित्वा ॥ उदा०—हे श्रीः । हे भूः ॥

भाषार्थः—[इयडुवड्स्थानी] इयङ् उवङ् आदेश होता है जिन ईकारान्त ऊकारान्त स्त्री की आख्यावाले शब्दों को, उनकी नदी-संज्ञा [न] नहीं होती, [अस्त्री] स्त्री शब्द को छोड़कर ॥ यह सूत्र पूर्वसूत्र का प्रतिषेध है ॥ स्त्री शब्द इयङ् स्थानी था, सो इस सूत्र से नदी संज्ञा का प्रतिषेध उसको भी प्राप्त था । 'अस्त्री' कहने से उसकी नदी संज्ञा हो गई ॥

यहां से 'नेयडुवड्स्थानावस्त्री' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ॥

वामि ॥१४।५॥

नदी विकल्प

वा अ० ॥ वामि ७।१॥ अनु०—नेयडुवड्स्थानावस्त्री, यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥

अर्थः—इयङ् उवङ् स्थानी स्त्र्याख्या ईकारान्तोकारान्ती शब्दो आमि परतो वा नदीसंज्ञको न भवतः, स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा ॥ पूर्वेण नित्यप्रतिषेधे प्राप्ते आमि विकल्प्यते ॥ उदा०—श्रियाम्, श्रीणाम् । भ्रुवाम्, भ्रूणाम् ॥

भाषार्थः—इयङ्-उवङ् स्थानी, स्त्री की आख्यावाले जो ईकारान्त ऊकारान्त शब्द, उनकी [आमि] आम् परे रहते [वा] विकल्प से नदीसंज्ञा नहीं होती है, स्त्री शब्द को छोड़कर ॥ पूर्वसूत्र से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, इस सूत्र ने आम् परे रहते विकल्प कर दिया ॥ उदा०—श्रियाम् (श्रियों का), श्रीणाम् । भ्रुवाम् (भौहों का), भ्रूणाम् ॥

जब नदी संज्ञा नहीं, हुई तब श्री + आम् पूर्ववत् होकर अचि श्नुधातु० (७।४। ७७) से इयङ् होकर 'श् इयङ् आम्' = श्रियाम् बना । भ्रू + आम्, यहाँ भी पूर्व-कत् उवङ् होकर भ्रुवाम् बन गया ॥ जब नदी संज्ञा हो गई, तब ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) से नुट् आगम होकर 'श्री नुट् आम्', 'भ्रू नुट् आम्' बनकर, अनुबन्ध लोप होकर, तथा न् को ण् अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से होकर—श्रीणाम् भ्रूणाम् बन गया ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जाती है ॥

ङिति ह्रस्वश्च ॥१।४।६॥

नदी-विकल्प

ङिति ७।१॥ ह्रस्वः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—वा, नेयङ् उवङ् स्थानावस्त्री, य स्त्र्याख्या नदी ॥ अर्थः—ह्रस्वेकारान्तं ह्रस्वोकारान्तं च स्त्र्याख्यं शब्दरूपम्, इयङ्-उवङ् स्थानी स्त्र्याख्या ईकारान्तोकारान्ती च शब्दो ङिति प्रत्यये परतो वा नदीसंज्ञको भवतः ॥ उदा०—कृत्यै, कृतये । घेनवै, घेनवे । श्रियै, श्रिये । भ्रुवै, भ्रुवे ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वः] ह्रस्व ईकारान्त उकारान्त जो स्त्रीलिङ्ग के वाचक शब्द, तथा इयङ् उवङ् स्थानी जो ईकारान्त ऊकारान्त स्त्री की आख्यावाले शब्द, उनकी [च] भी [ङिति] ङित् प्रत्यय के परे रहते विकल्प से नदी संज्ञा होती है ॥ ह्रस्व ईकारान्त उकारान्त शब्दों की नदी संज्ञा किसी सूत्र से प्राप्त नहीं थी, सो ङित् प्रत्यय के परे रहते विकल्प से विधान कर दिया । तथा इयङ् उवङ् स्थानी ईकारान्त-ऊकार शब्दों की भी नित्य नदी संज्ञा का प्रतिषेध किया था, सो उनकी भी विकल्प से नदी संज्ञा का विधान इस सूत्र में करते हैं ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति १।४।७ तक जायेगी ॥

शेषो घ्यसखि ॥१।४।७॥

शेषः १।१॥ घि १।१॥ असखि १।१॥ स०—असखीत्यत्र नञ्त्तत्पुरुषः ॥

घि

अनु०—ह्रस्वः ॥ अर्थः—शेषो धि-संज्ञको भवति सखि शब्दं वर्जयित्वा ॥ कश्च शेषः? ह्रस्वेवर्णो वर्णान्ति शब्दरूपं यत्र स्थाव्यं, यच्च स्थाव्यमपि न नदीसंज्ञकं स शेषः ॥ उदा०—अग्नये, वायवे । कृतये, धेनवे ॥

भाषार्थः—[शेषः] शेष की [धि] धि संज्ञा होती है [असखि] सखि शब्द को छोड़कर ॥ प्रश्न होता है कि शेष किन को कहा जाय ? सो कहते हैं कि जो ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग के वाचक नहीं हैं (स्त्री की आख्यावालों की तो नदी संज्ञा डिति ह्रस्वश्च ने कह ही दी थी), तथा जो स्त्री के आख्यावाले होते हुये भी नदीसंज्ञक नहीं हैं, वे शेष हैं ॥ अग्नि वायु शब्द ह्रस्व इकार उकार अन्तवाले तो हैं, पर स्त्री की आख्यावाले नहीं हैं, सो शेष होने से उनकी धि संज्ञा हुई । अग्नये वायवे की सिद्धि परि० १।४।६ के कृतये धेनवे के समान समझें ॥ कृति धेनु शब्दों की भी डिति ह्रस्वश्च (१।४।६) से पक्ष में नदी संज्ञा नहीं होती, अतः ये भी शेष हैं । सो धिसंज्ञक होकर पूर्ववत् सिद्धि समझें ॥

यहां से 'धि' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ॥

पतिः समास एव ॥१।४।८॥

धि

पतिः १।१॥ समासे ७।१॥ एव अ० ॥ अनु०—धि ॥ अर्थः—पतिशब्दस्य शेषत्वात् पूर्वोण सूत्रेण सर्वत्र धि संज्ञा सिद्धेव, अत्र नियमः क्रियते । समासे एव पतिशब्दस्य धि संज्ञा स्यात्, नान्यत्र ॥ उदा०—प्रजापतिना, प्रजापतये । सेनापतिना, सेनापतये ॥

भाषार्थः—शेष होने से पूर्वसूत्र से पतिशब्द की धिसंज्ञा सर्वत्र सिद्ध ही थी, यहां नियम करते हैं कि—[पतिः] पति शब्द की [समासे] समास में [एव] ही धि संज्ञा हो, समास से अन्यत्र धि संज्ञा न हो ॥

प्रजायाः पति, सेनायाः पतिः, यहां षष्ठीतत्पुरुष समास होकर प्रजापति सेनापति बना था । सो पूर्ववत् टा विभक्ति आकर समास में होने से धि संज्ञा होकर, आडो नाऽस्त्रियाम् (७।३।११६) से 'टा' को 'ना' होकर—प्रजापतिना (प्रजापति के द्वारा), सेनापतिना (सेनापति के द्वारा) बन गया । प्रजापतये आदि भी डे विभक्ति में पूर्ववत् ही बन जायेंगे ॥

यहां से 'पतिः' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ॥

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ॥१।४।९॥

धि विक० ५

षष्ठीयुक्तः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ वा अ० ॥ स०—षष्ठ्या युक्तः षष्ठीयुक्तः, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—पतिः, धि ॥ अर्थः—पूर्वोण सूत्रेणासमासे धि संज्ञा न

प्राप्नोतीति वचनमारभ्यते । षष्ठ्यन्तेन शब्देन युक्तः पतिशब्दः छन्दसि=वेदे विकल्पेन घिसंज्ञको भवति ॥ उदा०—कुलुञ्चानां पतये नमः, कुलुञ्चानां पतये नमः (यजु० १६।२२) ॥

भाषार्थः—[षष्ठीयुक्तः] षष्ठ्यन्त शब्द से युक्त जो पतिशब्द उसकी [छन्दसि] छन्दविषय में [वा] विकल्प से घिसंज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से असमास में पति शब्द की घिसंज्ञा प्राप्त नहीं थी, सो पक्ष में विधान कर दिया ॥

घि-संज्ञा पक्ष में घेडिति (७।३।१११) से गुण, तथा अयादेश होकर पतये बना । अन्यत्र 'पति+ए' इस अवस्था में यणादेश होकर—'पत्ये' बन गया । कुलुञ्चाना षष्ठ्यन्त शब्द है, उससे युक्त यहां पति शब्द है ॥

उदा०—कुलुञ्चानां पतये नमः (बुरे स्वभाव से दूसरे के पदार्थों को खसोटनेवालों के पति=अधिपति को नमस्कार), स्वामी व० भा० । कुलुञ्चानां पतये नमः ॥

लघु

ह्रस्वं लघु ॥१।४।१०॥

ह्रस्वम् १।१॥ लघु १।१॥ अर्थः—ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञकं स्यात् ॥ उदा०—भत्ता । छेत्ता । अचीकरत् । अजीहरत् ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वम्] ह्रस्व अक्षर की [लघु] लघु संज्ञा होती है ॥

यहां से 'ह्रस्वम्' की अनुवृत्ति १।४।११ तक जायेगी ॥

गुरु

संयोगे गुरु ॥१।४।११॥

संयोगे ७।१॥ गुरु १।१॥ अनु०—ह्रस्वम् ॥ अर्थः—संयोगे परतो ह्रस्वमक्षरं गुरुसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—कुण्डा । हुण्डा । शिक्षा । भिक्षा ॥

भाषार्थः—[संयोगे] संयोग परे रहते ह्रस्व अक्षर की [गुरु] गुरु संज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से ह्रस्व अक्षर की लघु संज्ञा प्राप्त थी, यह उसका अपवाद है ॥

यहां से 'गुरु' की अनुवृत्ति १।४।१२ तक जायेगी ॥

दीर्घ

दीर्घं च ॥१।४।१२॥

दीर्घम् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—गुरु ॥ अर्थः—दीर्घं चाक्षरं गुरुसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—ईहाञ्चक्रे । ऊहाञ्चक्रे ॥

भाषार्थः—[दीर्घम्] दीर्घ अक्षर की [च] भी गुरु संज्ञा होती है ॥

उदा०—ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे (उसने तर्क किया) ॥ सिद्धियां परि० १।३।६३ के समान ही हैं ॥

संज्ञं भवति ॥ उदा०—क्यच्—राजीयति । क्यङ्—राजायते । क्यष्—चर्मायति, चर्मायते ॥

भाषार्थः—क्य से क्यच् क्यङ् क्यष् तीनों का सामान्य ग्रहण किया है ।
[नः] नकारान्त शब्द की [क्ये] क्यच् क्यङ् क्यष् परे रहते पद संज्ञा होती है ॥
पूर्वसूत्र से ही पद संज्ञा सिद्ध थी, सो पुनः विधान नियमार्थ है कि क्य के परे नान्त शब्दों की ही पद संज्ञा हो, अन्यो की नहीं ॥

सिति च ॥१४।१६॥

सिति ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—पदम् ॥ स०—सकार इत् यस्य स सित्, तस्मिन् सिति, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—सिति प्रत्यये परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति ॥
उदा०—भवदीयः । ऊर्णायुः ॥

भाषार्थः—[सिति] सित् प्रत्यय के परे रहते [च] भी पूर्वं की पदसंज्ञा होती है ॥ यह यचि भम् (१।४।१८) का अपवादसूत्र है ॥

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥१४।१७॥

स्वादिषु ७।३॥ असर्वनामस्थाने ७।१॥ स०—सु आदिर्येषां ते स्वादयः, तेषु... बहुव्रीहिः । असर्वनामस्थाने इत्यत्र नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—पदम् ॥ अर्थः—सर्वनाम-स्थानभिन्नेषु स्वादिषु प्रत्ययेषु परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति ॥ उदा०—राजभ्याम्, राजभिः, राजत्वम्, राजता, राजतरः, राजतमः । वाग्भिः ॥

भाषार्थः—[असर्वनामस्थाने] सर्वनामस्थान-भिन्न अर्थात् सु, औ, जस्, अम्, औद् से भिन्न [स्वादिषु] स्वादियों के परे रहते पूर्वं की पद संज्ञा होती है ॥ स्वा-दियों में स्वीजस० (४।१।२) से लेकर उरः प्रभृतिभ्यः कप् (५।४।५१) तक के प्रत्यय लिये गये हैं ॥

यहां से 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र की अनुवृत्ति १।४।१८ तक जायेगी ॥

+ शस्ते... सुप् यचि भम् ॥१४।१८॥

असंज्ञा

यचि ७।१॥ भम् १।१॥ स०—य च अच् च यच्, तस्मिन् यचि, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥ अर्थः—सर्वनामस्थानभिन्ने स्वादौ यका-रादौ अजादौ च प्रत्यये परतः पूर्वं भसंज्ञं भवति ॥ उदा०—गाग्यः, वात्स्यः । दाक्षिः, प्लाक्षिः ॥

भाषार्थः—[यचि] सर्वनामस्थान-भिन्न यकारादि अजादि स्वादियों के परे रहते पूर्वं की [भम्] भ संज्ञा होती है ॥ पूर्वं सूत्र से पद संज्ञा प्राप्त होने पर उसका यह अपवादसूत्र है ॥ गाग्यं वात्स्यः की सिद्धि १।२।६५ सूत्र पर देखें । भ संज्ञा

होने से सर्वत्र यस्येति च (६।४।१४८) से इवर्ण अवर्ण का लोप होता है ॥ दक्षस्या-
पत्यं वाक्षिः (दक्ष का पुत्र), यहाँ भी अत इज् (४।१।६५) इज् प्रत्यय, तद्धितेष्वचा-
मादेः (७।२।११७) से आवि अच् को वृद्धि, तथा भ संज्ञा होने से अकार लोप हो
गया है। इसी प्रकार प्लाक्षिः (प्लक्ष का पुत्र) में भी समर्थ ॥

यहाँ से 'भम्' की अनुवृत्ति १।४।१६ तक जाती है ॥

तसौ मत्वर्थे ॥१।४।१६॥

म

तसौ १।२॥ मत्वर्थे ७।१॥ स०—तश्च संश्च तसौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । मतोरर्थः
मत्वर्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—भम् ॥ अर्थः—तकारान्तं सकारान्तं च
शब्दरूपं मत्वर्थे प्रत्यये परतो भसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—तकारान्तम्—विद्युत्वान्
बलाहकः । उदश्वित्वान् घोषः । सकारान्तम्—यशस्वी, पयस्वी, तपस्वी ॥

भाषार्थः—[तसौ] तकारान्त और सकारान्त शब्दों की [मत्वर्थे] मत्वर्थ
प्रत्ययों के परे रहते भ संज्ञा हो जाती है ॥

अयस्मयादीनि छन्दसि ॥१।४।२०॥

म, पद

अयस्मयादीनि १।३॥ छन्दसि ७।१॥ स०—अयस्मयमादिर्येषां तानि इमानि
अयस्मयादीनि, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—अयस्मयादीनि शब्दरूपाणि छन्दसि विषये साधूनि
भवन्ति ॥ उदा०—अयस्मयं वर्म । अयस्मयानि पात्राणि । स सुष्टुभा स ऋक्वता
गणेन ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद में [अयस्मयादीनि] अयस्मय इत्यादि शब्द साधु
होते हैं, अर्थात् इसमें कहीं भ संज्ञा, तथा कहीं भ पद संज्ञा दोनों ही एक साथ देखने
में आती हैं ॥

बहुषु बहुवचनम् ॥१।४।२१॥

बहुवचन

बहुषु ७।३॥ बहुवचनम् १।१॥ अर्थः—बहुत्वे विवक्षिते बहुवचनं भवति ॥
उदा०—ब्राह्मणाः पठन्ति ॥

भाषार्थः—[बहुषु] बहुतों को कहने की विवक्षा में [बहुवचनम्] बहुवचन का
प्रत्यय होता है ॥

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ॥१।४।२२॥

द्विवचन

द्व्येकयोः ७।२॥ द्विवचनैकवचने १।२॥ स०—द्वौ च एकश्च द्व्येको, तयोः—
इतरेतरयोगद्वन्द्वः । द्विवचनञ्चैकवचनं च द्विवचनैकवचने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—
द्वित्वे विवक्षिते द्विवचनमेकत्वे विवक्षिते एकवचनं च भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणी
पठतः । एकत्वे—ब्राह्मणः पठति ॥

भाषार्थः—[द्व्येकयोः] दो तथा एक के कहने की इच्छा में [द्विवचनैकवचने] द्विवचन का प्रत्यय तथा एकवचन का प्रत्यय क्रम से होते हैं । उदा०—ब्राह्मणो पठतः (दो ब्राह्मण पढ़ते हैं) । ब्राह्मणः पठति (एक ब्राह्मण पढ़ता है) ॥ यहां पर दो ब्राह्मणों को कहने में द्विवचन का 'औ', तथा एक को कहने में 'सु' आया है । इसी प्रकार पठ से 'तस् द्विवचन', तथा 'तिप् एकवचन' का प्रत्यय आया है ॥ ब्राह्मण + औ, यहां वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि होकर ब्राह्मणौ हो गया ॥

[कारक-प्रकरणम्]

कारके ॥१।४।२३॥

कारके ७।१॥ अर्थः—अधिकारसूत्रमिदम् । तत्प्रयोजको हेतुश्च (१।४।५५) इति यावद् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, कारके इत्येवं तद्वेदितव्यम् । यथा—ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४), इत्यत्र कारक इत्यनुवर्तते ॥ क्रियायाः निर्वर्तकं कारकम् क्रियायामिति वा (क्रियानिमित्ते सति) कारकम्, तच्च विवक्षाधीनमिति वेदितव्यम् ॥

भाषार्थः—[कारके] यह अधिकारसूत्र है । यहां से आरम्भ करके तत्प्रयोजको (१।४।५५) तक सूत्रों में 'कारके' पद उपस्थित होता है ॥ क्रिया के बनानेवाले को, अथवा क्रिया के होने में जो निमित्त हो, उसे 'कारक' कहते हैं । वृक्ष से पत्ता गिरता है, यहां गिरना क्रिया बन नहीं सकती, जब तक कि वृक्ष न हो । अतः गिरना क्रिया को बनानेवाला, अथवा निमित्त होने से वृक्ष भी कारक है । अब कौन कारक हो, सो ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४) से अपादान कारक हो गया ॥ यहां यह बात और समझने की है कि कारक इच्छाधीन होते हैं । यथा — "बादल से बिजली चमकती है, बादल में बिजली चमकती है, बादल चमकता है", यहां बादल क्रमशः अपादान अधिकरण और कर्त्ता तीनों कारक है ॥

ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥१।४।२४॥

अपादान

ध्रुवम् १।१॥ अपाये ७।१॥ अपादानम् १।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—क्रियायां सत्याम् अपाये=विभागे यद् ध्रुवं तत् कारकमपादानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—वृक्षात् पत्रं पतति । ग्रामाद् आगच्छति । पर्वताद् अवरोहति ॥

भाषार्थः—क्रिया होने पर [अपाये] अपाय अर्थात् अलग होने पर जो [ध्रुवम्] ध्रुव=अचल रहे, उस कारक की [अपादानम्] अपादान संज्ञा होती है ॥ वृक्षात्

१. 'कारक' के विषय में विशेष हमारी बनाई 'सरलतमविधि' पाठ १५-१६ तृतीय संस्करण में देखें ॥

पत्रं पतति (वृक्ष से पत्ता गिरता है), इस उदाहरण में पत्र का वृक्ष से अलग होना पाया जाता है। अलग होने पर पत्र नीचे गिरता है, पर वृक्ष वैसे ही अचल खड़ा रहता है। सो अपाय होने पर भी वह ध्रुव है, अतः उसकी अपादान संज्ञा हो गई ॥

विशेषः—यहां कारके=क्रिया होने पर का अभिप्राय यह है कि जब दो वस्तुएं पृथक्-पृथक् पड़ी हैं, सो वे ध्रुव भी हैं, तो यहां उनकी अपादान संज्ञा नहीं हो सकती, चाहे उनका अपाय=पृथक्ता है ही। क्योंकि यहां क्रिया नहीं हो रही, अतः 'क्रियायां सत्याम्' नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र कारक-प्रकरण में समझे ॥ अपादान संज्ञा होने से विभक्ति-प्रकरण में वर्तमान अपादाने पञ्चमी (२।३।२८) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हो गई। सो 'इसि' विभक्ति वृक्ष ग्राम आदि के आगे आई। टाड-सिडसामि० (७।१।१२) से इसि को आत् होकर वृक्षात् ग्रामात् आदि बन गये ॥

यहां से "अपादानम्" की अनुवृत्ति १।४।३१ तक जायेगी ॥

भीत्रार्थानां भयहेतुः ॥१।४।२५॥

भीत्रार्थानां ६।३॥ भयहेतुः १।१॥ स०—भीश्च त्राश्च भीत्रौ, भीत्रौ अर्थौ तेषां ते भीत्रार्थाः, तेषां द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। भयस्य हेतुः भयहेतुः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—विभेत्यर्थानां त्रायत्यर्थानां च धातूनां प्रयोगे भयस्य हेतुः यः तत् कारकम् अपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—विभेत्यर्थानाम्—चोरेभ्यो विभेति। चोरेभ्य उद्विजते। त्रायत्यर्थानां—चोरेभ्यस्त्रायते, चोरेभ्यो रक्षति ॥

भाषार्थः [भीत्रार्थानाम्] भय अर्थवाली, तथा रक्षा अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में जो [भयहेतुः] भय का हेतु, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—चोरेभ्यो विभेति (चोरों से डरता है)। चोरेभ्य उद्विजते (चोरों से डरता है)। चोरेभ्यस्त्रायते (चोरों से रक्षा करता है)। चोरेभ्यो रक्षति (चोरों से रक्षा करता है)। अपादान संज्ञा होने से पूर्ववत् पञ्चमी विभक्ति होकर 'चौर+भ्यस्' हुआ। भ्यस् परे रहते बहुवचने भ्रूयते (७।३।१०३) से अवन्त अङ्ग को एत्व हो गया, शेष पूर्ववत् है ॥

पराजेरसोढः ॥१।४।२६॥

पराजेः ६।१॥ असोढः १।१॥ स०—सोढुं शक्यते इति सोढः, न सोढः असोढः, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—परा पूर्वस्य जयतेः धातोः प्रयोगेऽसोढो योऽर्थस्तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—अध्ययनात् पराजयते ॥

भाषार्थः—[पराजेः] परापूर्वक जि धातु के प्रयोग में [असोढः] जो सहन नहीं

किया जा सकता, ऐसे कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—अध्ययनात् पराजयते (पढ़ाई से भागता है, अर्थात् अध्ययन के श्रम को सहन नहीं कर सकता) ॥

अपादान

वारणार्थानामीप्सितः ॥१४।२७॥

वारणार्थानाम् ६।३॥ ईप्सितः १।१॥ स०—वारणम् अर्थो येषां ते वारणार्थाः, तेषाम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितो योऽर्थस्तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—यवेभ्यो गां वारयति । यवेभ्यो गां निवर्तयति ॥

भाषार्थः—[वारणार्थानाम्] वारणार्थक अर्थात् रोकने अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में [ईप्सितः] ईप्सित = 'इष्ट' जो पदार्थ उसकी अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—यवेभ्यो गां वारयति (जौ के खेत से गाय को हटाता है) । यवेभ्यो गां निवर्तयति ॥ यहां यव ईप्सित हैं, अतः उनकी अपादान संज्ञा हो गई है ॥

अपादान

अन्तर्द्वौ येनादर्शनमिच्छति ॥१४।२८॥

अन्तर्द्वौ ७।१॥ येन ३।१॥ अदर्शनं १।१॥ इच्छति तिङन्तं पदम् ॥ स०—अदर्शनमित्यत्र, नञ्त्त्पुरुषः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—अन्तर्द्वौ = व्यवधाननिमित्तं येनादर्शनम् आत्मन इच्छति, तत् कारकमपादानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—उपाध्यायाद् अन्तर्द्वत्ते । उपाध्यायाद् निलीयते ॥

भाषार्थः—[अन्तर्द्वौ] व्यवधान के कारण [येन] जिससे अपना [अदर्शनम्] छिपना [इच्छति] चाहता हो, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ।

उदा०—उपाध्यायात् अन्तर्द्वत्ते (उपाध्याय से छिपता है) । उपाध्यायाद् निलीयते (उपाध्याय से छिपता है) ॥ उदाहरणों में उपाध्याय से छिपना हो रहा है, सो उसकी अपादान संज्ञा होती है ॥

अपादान

आख्यातोपयोगे ॥१४।२९॥

आख्याता १।१॥ उपयोगे ७।१॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—आख्याता = प्रतिपादयिता, पाठयिता वा । उपयोगः = नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम् । नियमपूर्वकं विद्याग्रहणे य आख्याता = पाठयिता तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—उपाध्यायाद् अधीते । उपाध्यायाद् आगमयति ॥

भाषार्थः—[उपयोगे] नियमपूर्वक विद्याग्रहण करने में [आख्याता] जो पढ़ानेवाला, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—उपाध्यायाद् अघीते (उपाध्याय से नियमपूर्वक पढ़ता है) । उपाध्या-
याद् आगमयति ॥

जनिकर्तुः प्रकृतिः ॥१४॥३०॥

अपादान

जनिकर्तुः ६।१॥ प्रकृतिः १।१॥ स०—जनेः कर्त्ता जनिकर्त्ता, तस्य.....
पृष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—जन्यर्थस्य कर्त्ता (=जाय-
मानः), तस्य या प्रकृतिः=उपादानकारणं तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—
शृङ्गात् शरो जायते । गोमयाद् वृश्चिको जायते ॥

भाषार्थः—[जनिकर्तुः] जन्यर्थ (जन्म) का जो कर्त्ता (उत्पन्न होनेवाला)
उसकी जो [प्रकृतिः] प्रकृति उपादानकारण, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥
शृङ्गात् शरो जायते (सींग से बाण बनते हैं) उदाहरण में जायते का कर्त्ता शर
है । और उस शर की प्रकृति=उपादानकारण शृङ्ग (सींग) है, तो उसकी अपादान
संज्ञा हो गई । इसी प्रकार 'गोमयाद् वृश्चिको जायते' (गोबर से बिच्छू पैदा होता है)
इस उदाहरण में भी जायते के कर्त्ता वृश्चिक की प्रकृति गोबर है, सो वहां भी अपा-
दान संज्ञा हुई ॥

यहां से 'कर्तुः' की अनुवृत्ति १।४।३१ तक जाती है ॥

भुवः प्रभवः ॥१४॥३१॥

अपादान

भुवः ६।१॥ प्रभवः १।१॥ अनु०—अपादानम्, कारके, कर्तुः ॥ अर्थः—भू
धातोयः कर्त्ता, तस्य यः प्रभवः=उत्पत्तिस्थानम्, तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥
उदा०—हिमवतो गङ्गा प्रभवति । कश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति ॥

भाषार्थः—[भुवः] भू धातु का जो कर्त्ता, उसका जो [प्रभवः] प्रभव अर्थात्
उत्पत्तिस्थान, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—हिमवतो गङ्गा प्रभवति (हिमालय से गङ्गा निकलती है) । कश्मीरेभ्यो
वितस्ता प्रभवति (काश्मीर से वितस्ता निकलती है) ॥ गङ्गा, जो कि भू धातु का
कर्त्ता है, उसका हिमवत्=हिमालय प्रभव उत्पत्ति-स्थान है । सो इस सूत्र से
हिमवत् की अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति का इस प्रत्यय आया, पूर्ववत्
रुत्व विसर्गादि हुये । कश्मीरेभ्यः में इसी पञ्चमी का न्यस् आया है ॥ संस्कृत में
देशवाची शब्द प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं । अतः यहां काश्मीर के एक होने पर
भी बहुवचन हुआ है ॥

सम्प्रदानम्

कर्मणा यमभिप्रेति स सम्प्रदानम् ॥१४॥३२॥

कर्मणा ३।१॥ यम् २।१॥ अभिप्रेति तिङन्तं पदम् ॥ सः १।१॥ सम्प्रदानम्

१।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—करणभूतेन कर्मणा यस्याभिप्रायं साधयति (यमुद्दिशति), तत् कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—उपाध्यायाय गां ददाति । माणवकाय भिक्षां ददाति ॥

भाषार्थः—[कर्मणः] करणभूत कर्म के द्वारा [यम्] जिसका [अभिप्रेति] अभिप्राय सिद्ध किया जाये (जिसको लक्षित किया जाये), [सः] वह कारक [सम्प्रदानम्] संप्रदानसंज्ञक होता है ॥

उदा०—उपाध्यायाय गां ददाति (उपाध्याय के लिये गौ देता है) । माणवकाय भिक्षां ददाति (बच्चे के लिये भिक्षा देता है) ॥ यहां उदाहरण में देना क्रिया बन नहीं सकती, जब तक गौ का रस्सा पकड़कर उपाध्याय के हाथ में नहीं दे दिया जाता । इस ददाति क्रिया का बनानेवाला (निर्वर्तक) उपाध्याय भी हुआ, सो वह कारक हुआ । और प्रकृत सूत्र से संप्रदानसंज्ञक हुआ । संप्रदान संज्ञा होने से चतुर्थी संप्रदाने (२।३।१३) से संप्रदान में चतुर्थी विभक्ति हुई ॥

यहां से 'संप्रदानम्' की अनुवृत्ति १।४।४१ तक जायेगी ॥

संप्रदान

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥१।४।३३॥

रुच्यर्थानां ६।३॥ प्रीयमाणः १।१॥ स०—रुचिरर्थो येषां ते रुच्यर्थाः, तेषां बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संप्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणः = तृप्तिमानः योऽर्थः, तत्कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय रोचते मोदकः । यज्ञदत्ताय स्वदत्तेऽपूपः ॥

भाषार्थः—[रुच्यर्थानाम्] रुचि अर्थात् अभिलाषार्थ धातुओं के प्रयोग में [प्रीयमाणः] प्रीयमाण अर्थात् जिसको वह वस्तु प्रिय हो, उस कारक की संप्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय रोचते मोदकः (देवदत्त को लड्डू अच्छे लगते हैं) । यज्ञदत्ताय स्वदत्तेऽपूपः (यज्ञदत्त को पुआ स्वादु लगता है) ॥

यहां उदाहरणों में देवदत्त को लड्डू और यज्ञदत्त को पुआ प्रिय लग रहा है, अतः उनकी संप्रदान संज्ञा हुई ॥

संप्रदान

श्लाघहुङ्स्थाशपां जीप्स्यमानः ॥१।४।३४॥

श्लाघहुङ्स्थाशपाम् ६।३॥ जीप्स्यमानः १।१॥ स०—श्लाघहुङ् इत्यत्रे-तरेतरयागेद्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—श्लाघ, हुङ्, स्था, शप इत्येतेषां धातूनां प्रयोगे जीप्स्यमानः = जपयितुमिष्यमाणो योऽर्थः, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय श्लाघते । देवदत्ताय हुते । देवदत्ताय तिष्ठते । देवदत्ताय शपते ॥

भाषार्थः—[श्लाघहुङ्स्थाशपाम्] श्लाघ, हुङ्, स्था, शप इन धातुओं के प्रयोग में [जीप्स्यमानः] जो जनाने जाने की इच्छावाला है, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय श्लाघते (देवदत्त की प्रशंसा देवदत्त को जनाने की इच्छा से करता है) । देवदत्ताय हुते (देवदत्त की निन्दा देवदत्त को जनाने की इच्छा से करता है) । देवदत्ताय तिष्ठते (देवदत्त को जनाने की इच्छा से देवदत्त के लिये ठहरता है) । देवदत्ताय शपते (देवदत्त को बुरा-भला देवदत्त को जनाने की इच्छा से कहता है) ॥ उदाहरणों में देवदत्त जनाए जाने की इच्छावाला है, अर्थात् देवदत्त को जनाना चाहता है, सो देवदत्त सम्प्रदानसंज्ञक हो गया ॥

धारेरुत्तमर्णः ॥१४॥३५॥

संप्रदान

धारेः ६।१॥ उत्तमर्णः १।१॥ स०—उत्तमम् ऋणं यस्य स उत्तमर्णः, बहु-व्रीहिः ॥ अनु०—संप्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—धारयतेः धातोः प्रयोगे उत्तमर्णः= ऋणदाता यस्तत् कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय शतं धारयति यज्ञदत्तः ॥

भाषार्थः—[धारेः] धारि (णिजन्त धृञ्) धातु के प्रयोग में [उत्तमर्णः] उत्तमर्ण अर्थात् ऋण देनेवाला जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय शतं धारयति यज्ञदत्तः (यज्ञदत्त ने देवदत्त के सौ रुपये देने हैं) ॥ उदाहरण में देवदत्त ऋण देनेवाला है, सो उसकी सम्प्रदान संज्ञा हुई ॥

स्पृहेरीप्सितः ॥१४॥३६॥

संप्रदान

स्पृहेः ६।१॥ ईप्सितः १।१॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—‘स्पृह ईप्सायाम्’ चुरादावदन्तः पठ्यते । स्पृहेः धातोः प्रयोगे ईप्सितोऽभिप्रेतो यस्तत्कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—पुष्पेभ्यः स्पृहयति । फलेभ्यः स्पृहयति ॥

भाषार्थः—[स्पृहेः] ‘स्पृह ईप्सायाम्’ धातु के प्रयोग में [ईप्सितः] ईप्सित जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा—पुष्पेभ्यः स्पृहयति (फूलों की लालसा करता है) । फलेभ्यः स्पृहयति (फलों की लालसा करता है) ॥

क्रुधद्रुहेर्ष्यासुयार्थानां यं प्रति कोपः ॥१४॥३७॥

संप्रदान

क्रुधद्रुहेर्ष्यासुयार्थानाम् ६।३॥ यम् २।१॥ प्रति अ० ॥ कोपः १।१॥ स०—

क्रुधश्च द्रुहश्च ईर्ष्यश्च असूयश्च, क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाः क्रुधद्रुहेर्ष्यासूया अर्था येषां ते क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः, तेषाम्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संप्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—क्रुधार्थानां द्रुहार्थानाम् ईर्ष्यार्थानाम् असूयार्थानां च घातूनां प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत् कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय क्रुध्यति । देवदत्ताय द्रुह्यति । देवदत्ताय । देवदत्ताय ईर्ष्यति । देवदत्ताय असूयति ॥

भाषार्थः—[क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम्] क्रुध, द्रुह, ईर्ष्य तथा असूय इन अर्थों-वाली घातुओं के प्रयोग में [यम्] जिसके [प्रति] ऊपर [कोपः] कोप किया जाये, उस कारक की संप्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय क्रुध्यति (देवदत्त पर क्रोध करता है) । देवदत्ताय द्रुह्यति (देवदत्त से द्रोह करता है) । देवदत्ताय ईर्ष्यति (देवदत्त से ईर्ष्या करता है) । देवदत्ताय असूयति (देवदत्त के गुणों की भी निन्दा करता है) ॥

यहां से 'यं प्रति कोपः' की अनुवृत्ति १।४।३८ तक जायेगी ॥

कर्म

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ॥१।४।३८॥

क्रुधद्रुहोः ६।२॥ उपसृष्टयोः ६।२॥ कर्म १।१॥ स०—क्रुधद्रुहोरित्यत्रे-तरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—यं प्रति कोपः, कारके ॥ अर्थः—उपसृष्टयोः=उपसर्ग-पूर्वकयोः क्रुधद्रुहोः प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञकं भवति ॥ पूर्वेण संप्रदान-संज्ञा प्राप्ता, कर्मसंज्ञा विधीयते ॥ उदा०—देवदत्तमभिक्रुध्यति । देवदत्तमभि-द्रुह्यति ॥

भाषार्थः—[उपसृष्टयोः] उपसर्ग से युक्त जो [क्रुधद्रुहोः] क्रुध तथा द्रुह घातु, उनके प्रयोग में जिसके प्रति कोप किया जाये, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, यहां कर्म संज्ञा का विधान किया है । अतः यहाँ सम्प्रदानम् की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता ॥

उदा०—देवदत्तमभिक्रुध्यति (देवदत्त पर क्रोध करता है) । देवदत्तमभि-द्रुह्यति (देवदत्त के साथ द्रोह करता है) ॥ कर्मणि द्वितीया (२।३।४) से कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ॥

संप्रदान

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ॥१।४।३९॥

राधीक्ष्योः ६।२॥ यस्य ६।१॥ विप्रश्नः १।१॥ स०—राधिश्च ईक्षिश्च राधीक्षी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—राधीक्ष्योः घात्वोः प्रयोगे यस्य विप्रश्नः=विविधः प्रश्नः क्रियते, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय राध्यति । देवदत्ताय ईक्षते ॥

भाषार्थः—[राधीक्ष्योः] राध तथा ईक्ष धातुओं के प्रयोग में [यस्य] जिसके विषय में [विप्रश्नः] विविध प्रश्न हों, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय राध्यति (देवदत्त के विषय में पूछे जाने पर उसके भाग्य का पर्यालोचन करता है) । देवदत्ताय ईक्षते ॥

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता ॥ १।४।४० ॥

संप्रदान

प्रत्याङ्भ्याम् ५।२॥ श्रुवः ६।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ कर्ता १।१॥ स०—प्रत्याङ्भ्यामित्यत्रेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—प्रति आङ् इत्येवंपूर्वस्य शृणोतेः धातोः प्रयोगे पूर्वस्य कर्ता यस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—यज्ञदत्तः देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति । देवदत्ताय गामाशृणोति ॥

भाषार्थः—[प्रत्याङ्भ्याम्] प्रति आङ् पूर्वक [श्रुवः] श्रु धातु के प्रयोग में [पूर्वस्य] पूर्व का जो [कर्ता] कर्ता, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—यज्ञदत्तः देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति (यज्ञदत्त देवदत्त को गौ देने की प्रतिज्ञा करता है) । देवदत्ताय गामाशृणोति ॥ उदाहरणों में पहले देवदत्त गौ मांगता है, अर्थात् देवदत्त मांगना क्रिया का कर्ता है, पश्चात् यज्ञदत्त देवदत्त को गौ देने की प्रतिज्ञा करता है । सो देवदत्त की पूर्व क्रिया का कर्ता होने से सम्प्रदान संज्ञा हो गई ॥

यहां से 'पूर्वस्य कर्ता' की अनुवृत्ति १।४।४१ तक जाती है ॥

अनुप्रतिगृणश्च ॥ १।४।४१ ॥

संप्रदान

अनुप्रतिगृणः ६।१॥ च अ० ॥ स०—अनुश्च प्रतिश्च अनुप्रती, ताभ्यां गृणाः अनुप्रतिगृणाः, तस्य अनुप्रतिगृणः, द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—पूर्वस्य कर्ता, सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—अनु पूर्वस्य प्रति पूर्वस्य च गृणातेर्धातोः प्रयोगे पूर्वस्य कर्ता यस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—होत्रे अनुगृणाति । होत्रे प्रतिगृणाति ॥

भाषार्थः—[अनुप्रतिगृणः] अनुप्रतिपूर्वक गृणाति धातु के प्रयोग में पूर्व का जो कर्ता, ऐसे कारक की [च] भी सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—होत्रे अनुगृणाति (होता को प्रोत्साहित करने के लिये अध्वर्यु मन्त्र बोलता है) । होत्रे प्रतिगृणाति । यहाँ होता पहले मन्त्र बोल रहा है, उसको अध्वर्यु (अनुगर-प्रतिगर द्वारा) प्रोत्साहित करता है । सो होता पहले मन्त्र बोलने की क्रिया का कर्ता है, अतः पूर्व क्रिया का कर्ता होने से उसकी सम्प्रदान संज्ञा हुई है ॥

करण

साधकतमं करणम् ॥१।४।४२॥

साधकतमम् १।१॥ करणम् १।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—क्रियायाः सिद्धौ यत् साधकतमं, तत् कारकं करणसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—दात्रेण लुनाति । परशुना छिनत्ति ॥

भाषार्थः—क्रिया की सिद्धि में जो [साधकतमम्] सब से अधिक सहायक, उस कारक की [करणम्] करण संज्ञा होती है ।

उदा०—दात्रेण लुनाति (दरांती के द्वारा काटता है) । परशुना छिनत्ति (कुल्हाड़ी के द्वारा फाड़ता है) ॥ उदाहरणों में दात्र तथा परशु काटने वा फाड़ने की क्रिया में सब से अधिक साधक हैं, ये न होते तो फाड़ना वा काटना क्रिया हो ही नहीं सकती थी । सो साधकतम होने से इनकी करण संज्ञा हुई । करण संज्ञा होने से कर्तृ-करणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति हो गई ॥

यहां से 'साधकतमम्' की अनुवृत्ति १।४।४४ तक जाती है ॥

करण, कर्म

दिवः कर्म च ॥१।४।४३॥

दिवः ६।१॥ कर्म १।१॥ च अ० ॥ अनु०—साधकतमम्, कारके ॥ अर्थः—दिव्धातोः साधकतमं यत् कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति, चकारात् करणसंज्ञं च ॥ उदा०—अक्षान् दीव्यति । अक्षैर्दीव्यति ॥

भाषार्थः—[दिवः] दिव् धातु का जो साधकतम कारक उसकी [कर्म] कर्म संज्ञा होती है, [च] और करण संज्ञा भी होती है ॥ पूर्व सूत्र से करण संज्ञा ही प्राप्त थी, यहाँ कर्म का भी विधान कर दिया है ॥

करण

उदा०—अक्षान् दीव्यति (पाशों के द्वारा खेलता है) । अक्षैर्दीव्यति ॥

सम्प्रदानम्

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ॥१।४।४४॥

परिक्रयणे ७।१॥ सम्प्रदानम् १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ अनु०—साधकतमम्, कारके ॥ अर्थः—परिक्रयणे=नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणे साधकतमं यत् कारकं, तत् सम्प्रदानसंज्ञकं भवति विकल्पेन, पक्षे यथाप्राप्ता करणसंज्ञा भवति ॥ उदा०—शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि । शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि ॥

भाषार्थः—[परिक्रयणे] परिक्रयण' में जो साधकतम कारक उसकी [सम्प्रदानम्]

१—परिक्रयण का अभिप्राय यह है कि किसी ने किसी को उधार में रुपया दिया, पर वह उसको लौटा नहीं सका । तब उसने उसको खरीद लिया, अर्थात् जब तक वह रुपया न चुका दे, तब तक उसकी नौकरी बजाता रहे ॥

सम्प्रदानसंज्ञा [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होती है । पक्ष में यथाप्राप्त करण संज्ञा हो जाती है ॥

उदा०—शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि (तू तो सौ रुपए से खरीदा हुआ है, अब बोल?) शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि ॥

आधारोऽधिकरणम् ॥१४४५॥ अधिकरण

आधारः १।१॥ अधिकरणम् १।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—कर्तृ कर्मणोः क्रियाश्रयभूतयोः धारणक्रियां प्रति य आधारस्तत्कारकमधिकरणसंज्ञकं भवति ॥

उदा०—कटे आस्ते । कटे शेते । स्थाल्यां पचति ॥

भाषार्थः—क्रिया के आश्रय कर्ता तथा कर्म की धारणक्रिया के प्रति [आधारः] आधार जो कारक, उसकी [अधिकरणम्] अधिकरण संज्ञा होती है ॥

उदा०—कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है) । कटे शेते (चटाई पर सोता है) । स्थाल्यां पचति (बटलोई में पकाता है) ॥

उदाहरण में आस्ते शेते क्रियाओं के आश्रय देवदत्त आदि कर्ता का आधार कट=चटाई है, सो उसकी अधिकरण संज्ञा हो गई । इसी प्रकार पचति क्रिया के आश्रय तण्डुल आदि कर्म की धारण क्रिया का आधार स्थाली है, सो उस की भी अधिकरण संज्ञा हो गई । अधिकरण संज्ञा होने से सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६) से सप्तमी विभक्ति हो गई ॥

यहां से १।४।४८ तक 'आधारः' की अनुवृत्ति जाती है ॥

अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥१४४६॥ कर्म

अधिशीङ्स्थासाम् ६।३॥ कर्म १।१॥ स०—शीङ् च स्थाश्च आश्च शीङ्-स्थासः, अघेः शीङ् स्थासः अधिशीङ् स्थासः, तेषां... द्वन्द्वगर्भः पञ्चमीतत्पुरुषः ॥

अनु०—आधारः, कारके ॥ अर्थः—अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आस् इत्येतेषाम् आधारो यस्तत् कारकं कर्मसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—ग्राममधिशेते । ग्राममधितिष्ठति । पर्वतमध्यास्ते ॥

भाषार्थः—[अधिशीङ्स्थासाम्] अधिपूर्वक शीङ् स्था आस् इन का आधार जो कारक, उसकी [कर्म] कर्म संज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से आधार कारक की अधिकरण संज्ञा प्राप्त थी, यहां कर्म संज्ञा का विधान कर दिया ॥

उदा०—ग्राममधिशेते (ग्राम में सोता है) । ग्राममधितिष्ठति (ग्राम में अधि-ष्ठाता बनकर रहता है) । पर्वतमध्यास्ते (पर्वत के ऊपर रहता है) ॥

यहां से 'कर्म' की अनुवृत्ति १।४।४८ तक जाती है ॥

कर्म

अभिनिविशश्च ॥१।४।४७॥

अभिनिविशः ६।१॥ च अ० ॥ स० —अभिश्च निश्च अभिनी, ताभ्यां विश् अभिनिविश, तस्य, द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्म, आधारः, कारके ॥ अर्थः—अभिनिपूर्वस्य विशतेः आधारो यस्तत्कारकमपि कर्मसंज्ञं भवति ॥ उदा०—ग्राममभिनिविशते ॥

भाषार्थः—[अभिनिविशः] अभि नि पूर्वक विश् का जो आधार, उस कारक की [च] भी कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—ग्राममभिनिविशते (ग्राम में प्रविष्ट होता है) ॥

कर्म

उपान्वध्याङ्वसः ॥१।४।४८॥

उपान्वध्याङ्वसः ६।१॥ स०—उपश्च अनुश्च अधिश्च आङ् च उपान्वध्याङ्, तेभ्यो वस् उपान्वध्याङ्वस्, तस्य, द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कारके, कर्म, आधारः ॥ अर्थः—उप, अनु, अधि, आङ् इत्येवंपूर्वस्य वसतेः आधारो यस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति ॥ उदा०—ग्राममुपवसति सेना । पर्वतमुपवसति । ग्राममनुवसति । ग्राममधिवसति । ग्राममावसति ॥

भाषार्थः—[उपान्वध्याङ्वसः] उप अनु अधि ओर आङ् पूर्वक वस् का जो आधार, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—ग्राममुपवसति सेना (ग्राम के पास सेना ठहरी है) । पर्वतमुपवसति । ग्राममनुवसति सेना (ग्राम के साथ-साथ सेना ठहरी है) । ग्राममधिवसति (ग्राम में सेना ठहरी है) । ग्राममावसति (ग्राम में सेना आवास करती है) ॥

कर्तुं

कर्तुं रीप्सिततमं कर्म ॥१।४।४९॥

कर्तुः ६।१॥ ईप्सिततमम् १।१॥ कर्म १।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—कर्तुः क्रियया यदाप्तुम् इष्टतमं, तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति ॥ उदा०—देवदत्तः कटं करोति । ग्रामं गच्छति देवदत्तः ॥

भाषार्थः—[कर्तुः] कर्त्ता को अपनी क्रिया द्वारा जो [ईप्सिततमम्] अत्यन्त ईप्सित हो, उस कारक की [कर्म] कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्तः कटं करोति (देवदत्त चटाई बनाता है) । ग्रामं गच्छति देवदत्तः (देवदत्त ग्राम को जाता है) ॥ उदाहरणों में देवदत्त कर्त्ता को करोति वा

गच्छति क्रिया से सब से अधिक ईप्सित कट वा ग्राम है। सो कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति पूर्ववत् हुई है ॥

यहां से 'कर्म' की अनुवृत्ति १।४।५३ तक जाती है ॥

तथा युक्तं चानीप्सितम् ॥१।४।५०॥

कर्म

तथा अ० ॥ युक्तम् १।१॥ च अ० ॥ अनीप्सितम् १।१॥ स०—न ईप्सितम् अनीप्सितम्, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्म, कारके ॥ अर्थः—येन प्रकारेण कर्तुरीप्सित-तमं क्रियया युक्तं भवति, तेनैव प्रकारेण यदि कर्तुरनीप्सितमपि युक्तं भवेत्, तत् कर्मसंज्ञकं स्यात् ॥ उदा०—विषं भक्षयति । चौरान् पश्यति । ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति ॥

भाषार्थः—जिस प्रकार कर्त्ता का अत्यन्त ईप्सित कारक क्रिया के साथ युक्त होता है, [तथा] उस प्रकार [च] ही कर्त्ता का [अनीप्सितम्] न चाहा हुआ कारक क्रिया के साथ [युक्तम्] युक्त हो, तो उसकी कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—विषं भक्षयति (विष को खाता है) । चौरान् पश्यति (चोरों को देखता है) । ग्रामम् गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति (गांव को जाता हुआ वृक्ष की जड़ों को छूता है) ॥ उदाहरणों में विष कोई नहीं खाना चाहता, वा चोरों को नहीं देखना चाहता, पर अकस्मात् देखना पड़ता है । विष किसी दुःख के कारण खाना पड़ता है । गांव को जाते हुये न चाही हुई वृक्ष की जड़ों को छूते हुये जाता है, अतः यह सब अनीप्सित थे । सो अनीप्सित होने से पूर्व सूत्र से कर्मसंज्ञक नहीं हो सकते थे, इस सूत्र ने कर दिये ॥

अकथितं च ॥१।४।५१॥

कर्म

अकथितम् १।१॥ च अ० ॥ स०—न कथितम् अकथितम्, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्म, कारके ॥ अर्थः—अकथितमपादानादिकारकैश्चानुक्तं यत् कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति ॥ उदा०—पाणिना कांस्यपात्र्यां गां दोग्धि पयः । पौरवं गां याचते । गामवरुणद्वि व्रजम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । पौरवं गां भिक्षते । वृक्षमवचिनोति फलम् । माणवकं धर्मं श्रूते । माणवकं धर्मम् अनुशास्ति ॥

भाषार्थः—[अकथितम्] अनुक्त—अपादानादि से न कहा गया जो कारक, उसकी [च] भी कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—पाणिना कांस्य पात्र्यां गां दोग्धि पयः (हाथ से कांसि के पात्र में गाय का दूध दुहता है) । पौरवं गां याचते (पौरव से गौ को मांगता है) । गाम-

वरुणद्वि व्रजम् (गाय को बाड़े में रोकता है) । माणवकं पन्थानं पृच्छति (लड़के से मार्ग को पूछता है) । पौरवं गां भिक्षते । वृक्षमवचिनोति फलम् (वृक्ष से फल तोड़ता है) । माणवकं धर्मं ब्रूते (लड़के को धर्म का उपदेश देता है) । माणवकं धर्मम् अनुशास्ति (लड़के को धर्म का अनुशासन बताता है) ॥ गां दोग्धि पयः, पौरवं गां याचते आदि उदाहरणों में पयः गां इत्यादि की तो कर्ता के ईप्सिततम होने से कर्तुं रीप्सिततमं ० (१।४।४६) से कर्म संज्ञा हो ही जायेगी, पर गौ या पौरव इत्यादि में क्या कारक हों? अपादान करण इत्यादि हो नहीं सकते, अतः ये अकथित = अनुक्त ही हैं । सो इनकी प्रकृत सूत्र से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो गई ॥

महाभाष्य में इनका परिगणन कारिका में कर दिया गया है । वह कारिका निम्न प्रकार है—

दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिबामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।

ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥

अर्थात् दुह, याच, रुध, प्रच्छ, भिक्ष तथा चिञ् इन धातुओं के उपयोग (दूध इत्यादि) का जो निमित्त = कारण (गौ इत्यादि) उसकी अपूर्वविधि में = अकथित होने पर कर्म संज्ञा होती है । एवं ब्रू शास धातुओं के प्रधान कर्म (धर्मादि) से जो सम्बन्धित होता है (माणवकादि) उसके अकथित की भी कर्म संज्ञा होती है ॥

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्ता

स णौ ॥१।४।५२॥

गतिबुद्धि.....काणाम् ६।३॥ अणि लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः ॥ कर्ता १। १॥ सः १।१॥ णौ ७।१॥ स०—गतिश्च बुद्धिश्च प्रत्यवसानञ्च गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि, गति...—वसानानि अर्था येषां ते गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाः, द्वन्द्वगर्भो बहु-व्रीहिः । शब्दः कर्म यस्य स शब्दकर्म, बहुव्रीहिः । न विद्यते कर्म यस्य सोऽकर्मकः, बहुव्रीहिः । गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाश्च शब्दकर्मा च अकर्मकश्चेति गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाः, तेषां, बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः । न णिः अणिः, तस्मिन्, नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्म, कारके ॥ अर्थः—गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थानां प्रत्यवसानार्थानां शब्दकर्मकाणामकर्मकाणाञ्च अण्यन्तावस्थायां यः कर्ता स ण्यन्तावस्थायां कर्मसंज्ञको भवति ॥ उदा०—गत्यर्थाः—गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम् । याति माणवको ग्रामम्, यापयति माणवकं ग्रामम् ॥ बुद्ध्यर्थाः—बुद्धयते माणवको धर्मम्, बोधयति माणवकं धर्मम् । वेत्ति माणवको धर्मम्, वेदयति माणवकं धर्मम् ॥ प्रत्यवसानार्थाः—भुङ्क्ते माणवको रोटिकाम्, भोजयति माणवकं रोटिकाम् ॥ अश्नाति माणवको रोटिकाम्, आशयति माणवकं रोटिकाम् ॥ शब्दकर्मकाणाम्—

अधीते माणवको वेदम्, अध्यापयति माणवकं वेदम् । पठति माणवको वेदम्, पाठयति माणवकं वेदम् ॥ अकर्मकाणाम्—आस्ते देवदत्तः, आसयति देवदत्तम् । शेते देवदत्तः, शाययति देवदत्तम् ॥

भाषार्थः—[गति काणाम्] गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, प्रत्यवसानार्थक = भोजना-
र्थक तथा शब्दकर्मवाली और अकर्मक धातुओं का जो [अणि] अण्यन्त अवस्था का
[कर्त्ता] कर्त्ता [सः] वह [णौ] ण्यन्त अवस्था में कर्मसंज्ञक हो जाता है ॥

उदा०—गति-अर्थवाली—गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम्
(लड़के को गांव भेजता है) । याति माणवको ग्रामम्, यापयति माणवकं ग्रामम् ॥
बुद्धि-अर्थवाली—बुद्धयते माणवको धर्मम्, बोधयति माणवकं धर्मम् (लड़के को धर्म
का बोध कराता है) । वेत्ति माणवको धर्मम्, वेदयति माणवकं धर्मम् ॥ भोजन-
अर्थवाली भुङ्क्ते माणवको रोटिकाम्, भोजयति माणवकं रोटिकाम् (माणवक को
रोटी खिलाता है) । अश्नाति माणवको रोटिकाम्, आशयति माणवकं रोटिकाम् ॥
शब्दकर्मवाली—अधीते माणवको वेदम्, अध्यापयति माणवकं वेदम् (लड़के को वेद
पढ़ाता है) । पठति माणवको वेदम्, पाठयति माणवकं वेदम् ॥ अकर्मक—आस्ते देव-
दत्तः, आसयति देवदत्तम् (देवदत्त को बिठाता है) । शेते देवदत्तः, शाययति देवदत्तम्
(देवदत्त को सुलाता है) ॥

ऊपर के सारे उदाहरण पहले अण्यन्त अवस्था में दिखाकर, पुनः ण्यन्त में
दिखाये गये हैं । सो स्पष्ट ही पता लग जाना है कि अण्यन्त में जो 'माणवक' कर्त्ता था,
वह ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया विभक्तिवाला हो जाता है । माणवक में
कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१५) से अनभिहित कर्त्ता होने से तृतीया विभक्ति पाती
थी, द्वितीया हो गई है ॥

यहाँ से 'अणि कर्त्ता स णौ' की अनुवृत्ति १।४।५३ तक जायेगी ॥

हृक्रोरन्यतरस्याम् ॥१।४।५३॥

हृक्रोः ६।२॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—हृक्रोरित्यत्रेतरयोगद्वन्द्वः ॥
अनु०—अणि कर्त्ता स णौ, कर्म, कारके ॥ अर्थः—हृक् कृक् इत्येतयोर्धात्वोः अण्यन्तयोः
यः कर्त्ता स ण्यन्तावस्थायां विकल्पेन कर्मसंज्ञको भवति ॥ उदा०—हरति माणवको
भारम्, हारयति माणवकं भारम् । हारयति भारं माणवकेन इति वा ॥ करोति कटं
देवदत्तः, कारयति कटं देवदत्तम् । कारयति कटं देवदत्तेन इति वा ॥

भाषार्थः—[हृक्रोः] हृक् तथा कृक् धातु का अण्यन्त अवस्था का जो कर्त्ता, वह

प्यन्त अवस्था में कर्मसंज्ञक [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता है ॥ जब कर्मसंज्ञक नहीं हुआ, तो कर्तृकरणयो० (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति हो गई ॥

उदा० - हरति माणवको भारम्, हारयति माणवकं भारम् (लड़के से भार उठवाता है) । हारयति भारं माणवकेन इति वा ॥ करोति कटं देवदत्तः, कारयति कटं देवदत्तम् (देवदत्त से चटाई बनवाता है) । कारयति कटं देवदत्तेन इति वा ॥

स्वतन्त्रः कर्त्ता ॥१।४।५४॥

स्वतन्त्रः १।१॥ कर्त्ता १।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—क्रियायाः सिद्धौ प्रधानो यः स्वातन्त्र्येण विवक्ष्यते, तत् कारकं कर्तृसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्तः पचति । स्थाली पचति ॥

भाषार्थः—क्रिया की सिद्धि में जो [स्वतन्त्रः] प्रधान अर्थात् स्वतन्त्ररूप से विवक्षित होता है, उस कारक की [कर्त्ता] कर्त्ता संज्ञा होती है ॥ कर्त्ता संज्ञा हो जाने से पचति में कर्त्ता में लकार हुआ । देवदत्त तथा स्थाली लकार द्वारा उक्त हैं । अतः तृतीया विभक्ति न होकर प्रातिपदिकार्थ० (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति हो जाती है ॥

यहां से 'कर्त्ता' की अनुवृत्ति १।४।५५ तक जायेगी ॥

तत्प्रयोजको हेतुश्च ॥१।४।५५॥

तत्प्रयोजकः १।१॥ हेतुः १।१॥ च अ० ॥ स०—तस्य प्रयोजकः तत्प्रयोजकः, षष्ठीतत्पुरुषः । निपातनात् समासः ॥ अनु०—कर्त्ता, कारके ॥ अर्थः—तस्य = स्वतन्त्रस्य प्रयोजकः = प्रेरको योऽर्थस्तत् कारकं हेतुसंज्ञं भवति, चकारात् कर्तृसंज्ञं च ॥ उदा०—देवदत्तः कटं करोति, तं यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते = यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति ॥

भाषार्थः—[तत्प्रयोजकः] उस स्वतन्त्र का जो प्रयोजक अर्थात् प्रेरक, उस कारक की [हेतुः] हेतु संज्ञा होती है, [च] और कर्त्ता संज्ञा भी होती है ॥

उदा०—देवदत्तः कटं करोति, तं यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते = यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति (यज्ञदत्त देवदत्त से चटाई बनवाता है) ॥ उदाहरण में यज्ञदत्त की हेतु संज्ञा होने से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय कृञ् घातु से हुआ है, तथा कर्त्ता संज्ञा होने से कर्तृप्रक्रिया में लकार आ गया है ॥

[निपातसंज्ञा-प्रकरणम्]

प्राग्ग्रीश्वरान्निपाताः ॥१।४।५६॥

प्राक् अ० ॥ ग्रीश्वरात् ५।१॥ निपाताः १।३॥ अर्थः—अग्निग्रीश्वरे (१।४।६६)

इत्येतस्मात् प्राक् निपातसंज्ञा भवन्ति, इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ उदा०—च, वा, ह, अह ॥

भाषार्थः—[रीश्वरात्] अधिरीश्वरे (१।४।६६) सूत्र से [प्राक्] पूर्व-पूर्व [निपाताः] निपात संज्ञा का अधिकार जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ च, वा, ह आदियों की चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से निपात संज्ञा होकर स्वरादिनिपातमव्ययम् (१।१।३६) से अव्यय संज्ञा हो जाती है । अव्यय संज्ञा होने से अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सुप् का लुक् हो जाता है । निपात संज्ञा का सर्वत्र यही फल जानना चाहिये ॥

यहाँ से 'निपाताः' का अधिकार विभाषा कृत्रि (१।४।६७) तक जाता है ॥

चादयोऽसत्त्वे ॥१।४।५७॥

चादयः १।३॥ असत्त्वे ७।१॥ स०—च आदिर्येषां ते चादयः, बहुव्रीहिः । न सत्त्वम् असत्त्वम्, तस्मिन् असत्त्वे, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—निपाताः ॥ अर्थः—चादयो निपातसंज्ञका भवन्ति, यदि सत्त्वेऽर्थे न वर्तन्ते ॥ उदा०—च, वा, ह, एव ॥

भाषार्थः—[चादयः] चादिगण में पढ़े शब्दों की निपात संज्ञा होती है, यदि वे [असत्त्वे] सत्त्व अर्थात् द्रव्यवाची न हों तो ॥

उदा०—च (और) । वा (विकल्प) । ह (निश्चय से) । एव (ही) ॥

यहाँ से 'असत्त्वे' की अनुवृत्ति १।४।५८ तक जाती है ॥

प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे ॥१।४।५८॥

प्रादयः १।३॥ उपसर्गाः १।३॥ क्रियायोगे ७।१॥ स०—प्र आदिर्येषां ते प्रादयः, बहुव्रीहिः । क्रियाया योगः क्रियायोगः, तस्मिन्, तृतीयात्तत्पुरुषः ॥ अनु०—असत्त्वे, निपाताः ॥ अर्थः—असत्त्ववाचिनः प्रादयो निपातसंज्ञका भवन्ति, ते च प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप । क्रियायोगे—प्रणयति । परिणयति । प्रणायकः ॥

भाषार्थः—[प्रादयः] प्रादिगण में पठित शब्दों की निपात संज्ञा होती है । तथा [क्रियायोगे] क्रिया के साथ प्रयुक्त होने पर उनकी [उपसर्गाः] उपसर्ग संज्ञा भी होती है ॥

उदा०—प्र (प्रकर्ष) । परा (परे) । अप (हटना) । क्रिया के योग में—प्रणयति (बनाता है) । परिणयति (विवाह करता है) । प्रणायकः (लेजानेवाला) ॥ प्र परा शब्दों की निपात संज्ञा होने का पूर्ववत् ही फल है । प्रणयति इत्यादि में नयति

क्रिया के साथ प्रादियों का योग है । सो उपसर्ग संज्ञा होकर उपसर्गादिसमासेऽपि णोप-
देशस्य (८।४।१४) से उपसर्ग से उत्तर 'न' को 'ण' हो गया है ॥

यहाँ से 'प्रादयः' की अनुवृत्ति १।४।५६ तक, तथा 'क्रियायोगे' की १।४।७८ तक
जाती है ॥

[निपातसंज्ञान्तर्गत-गतिसंज्ञा-प्रकरणम्]

गतिश्च ॥ १।४।५६ ॥

गतिः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—प्रादयः, क्रियायोगे ॥ अर्थः—प्रादयः क्रिया-
योगे गतिसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—प्रकृत्य, प्रकृतम्, यत् प्रकुरोति ॥

भाषार्थः—प्रादियों की क्रिया के योग में [गतिः] गति संज्ञा, [च] और उप-
सर्ग संज्ञा भी होती है ॥ आगे गति संज्ञा के सूत्रों में प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।
५६) सूत्र से गति संज्ञावाले शब्दों की निपात संज्ञा भी होती जायेगी ॥

यहाँ से 'गति' की अनुवृत्ति १।४।७८ तक जायेगी ॥

ऊर्यादिच्चिड्डाचश्च ॥ १।४।६० ॥

ऊर्यादिच्चिड्डाचः १।३॥ च अ० ॥ स०—ऊरी आदियेषां ते ऊर्यादयः, ऊर्यादय-
श्च च्विश्च डाच्च इति ऊर्यादिच्चिड्डाचः, बहुव्रीहिगर्भेतरययोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—
गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—ऊर्यादयः शब्दा च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे
गतिसंज्ञका निपातसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—ऊरीकृत्य । ऊरीकृतम् । यदूरी-
कुरोति ॥ शुक्लीकृत्य । शुक्लीकृतम् । यत् शुक्लीकुरोति ॥ पटपटाकृत्य । पटपटाकृतम् ।
यत् पटपटाकुरोति ॥

भाषार्थः—[ऊर्या...चः] ऊर्यादि शब्द, तथा च्व्यन्त और डाजन्त शब्दों की
[च] भी क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

अनुकरणं चानितिपरम् ॥ १।४।६१ ॥

अनुकरणं १।१॥ च अ० ॥ अनितिपरम् १।१॥ स०—इतिः परो यस्मात् तत्
इतिपरम्, न इतिपरम् अनितिपरम्, बहुव्रीहिगर्भो नञ्त्वत्पुरुषः ॥ अनु०—गतिः, क्रिया-
योगे, निपाताः ॥ अर्थः—अनितिपरम् अनुकरणं क्रियायोगे गतिसंज्ञकं निपातसंज्ञकं
च भवति ॥ उदा०—खाट्कृत्य । खाट्कृतम् । यत् खाट्कुरोति ॥

भाषार्थः—[अनितिपरम्] इतिशब्द जिससे परे नहीं है, ऐसा जो [अनु-
करणम्] अनुकरणवाची शब्द, उसकी [च] भी क्रियायोग में गति और निपात संज्ञा
होती है ॥

उदा०—खादकृत्य (खाट् ऐसा शब्द करके) । खादकृतम् । यत् खादकरोति ॥
 उदाहरणों में पहले किसी ने 'खाट्' ऐसा बोला था । दूसरे ने उसका अनुकरण करके
 'खाट्' ऐसा कहा । तो उस अनुकरणवाले शब्द की प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा हो गई ।
 पूर्ववत् ही सर्वत्र गतिसंज्ञा का फल जानें ॥

आदरानादरयोः सदसती ॥१।४।६२॥

आदरानादरयोः ७।२॥ सदसती १।२॥ स०—आदरश्च अनादरश्च आदरा-
 नादरी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । सदसतीत्यत्रापीतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—गतिः,
 क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—आदरे अनादरे चार्थे यथाक्रमं सत् असत् शब्दौ
 क्रियायोगे गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—सत्कृत्य । सत्कृतम् । यत्
 सत्करोति ॥ असत्कृत्य । असत्कृतम् । यद् असत्करोति ॥

भाषार्थः—[सदसती] सत् और असत् शब्द यदि यथाखण्ड्य करके [आदरा-
 नादरयोः] आदर तथा अनादर अर्थ में वर्तमान हों, तो उनकी क्रियायोग में गति
 संज्ञा और निपात संज्ञा होती है ॥ यथाखण्ड्यमनु० (१।३।१०) से यथाक्रम सत्
 शब्द से आदर, तथा असत् शब्द से अनादर अर्थ में गति संज्ञा होती है ॥ उदा०—
 सत्कृत्य (सत्कार करके) । सत्कृतम् (सत्कार किया) । यत् सत्करोति ॥ असत्कृत्य
 (असत्कार करके) । असत्कृतम् । यत् असत्करोति ॥ गति संज्ञा के कार्य सब पूर्व-
 वत् ही हैं ॥

भूषणेऽलम् ॥१।४।६३॥

भूषणे ७।१॥ अलम् अ० ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे निपाताः ॥ अर्थः—
 भूषणेऽर्थे वर्तमानो योऽलं शब्दः, स क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥
 उदा०—अलंकृत्य । अलंकृतम् । यद् अलंकरोति ॥

भाषार्थः—[भूषणे] भूषण अर्थ में वर्तमान जो [अलम्] अलम् शब्द,
 उसकी क्रियायोग में गति संज्ञा और निपातसंज्ञा होती है ॥

उदा०—अलंकृत्य (भूषित करके) । अलंकृतम् । यद् अलंकरोति ॥

अन्तरपरिग्रहे ॥१।४।६४॥

अन्तः अ० ॥ अपरिग्रहे ७।१॥ स०—अपरिग्रह इत्यत्र नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—
 गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अपरिग्रहेऽर्थे वर्तमानो योऽन्तः शब्दः स क्रिया-
 योगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अन्तर्हृत्य । अन्तर्हृतम् ।
 यदन्तर्हन्ति ॥

भाषार्थः—[अपरिग्रहे] अपरिग्रह अर्थात् न स्वीकार करने अर्थ में वृत्तमान [अन्तः] अन्तर् शब्द की क्रियायोग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अन्तर्हन्त्य (मध्य में आघात करके) । अन्तर्हन्तम् । यदन्तर्हन्ति ॥ स्वर-सिद्धि परि० १।४।५६ के समान ही है । केवल यहाँ 'हन्ति' में धातुस्वर से 'हन्ति' आद्युदात्त है ॥

कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते ॥१।४।६५॥

कणेमनसी १।२॥ श्रद्धाप्रतीघाते ७।१॥ स०—कणे च मनश्च कणेमनसी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । श्रद्धायाः प्रतीघातः श्रद्धाप्रतीघातः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः । अर्थः—कणे शब्दः मनस् शब्दश्च क्रियायोगे श्रद्धायाः प्रतीघातेऽर्थे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञको च भवतः ॥ उदा०—कणेहत्य पयः पिबति । मनोहत्य पयः पिबति ॥

भाषार्थः—[श्रद्धाप्रतीघाते] श्रद्धा के प्रतीघात अर्थ में [कणेमनसी] कणे तथा मनस् शब्दों की क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—कणेहत्य पयः पिबति (मन भरके दूध पीता है) । मनोहत्य पयः पिबति (मन भरके दूध पीता है) ॥ उदाहरणों में दूध उतना पीता है कि उसकी इच्छा और पीने की नहीं रहती, सो श्रद्धा का प्रतीघात अर्थ है ॥

पुरोऽव्ययम् ॥१।४।६६॥

पुरः अ० ॥ अव्ययम् १।१॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अव्ययं यत् पुरस् शब्दस्तस्य क्रियायोगे गतिसंज्ञा निपातसंज्ञा च भवति ॥ उदा०—पुरस्कृत्य । पुरस्कृतम् । यत् पुरस्करोति ॥

भाषार्थः—[अव्ययम्] अव्यय जो [पुरः] पुरस् शब्द, उसकी क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥ असि-प्रत्ययान्त (५।३।३६) पुरस् शब्द अव्यय होता है ॥ उदा०—पुरस्कृत्य (आगे करके) । पुरस्कृतम् । यत् पुरस्करोति ॥

यहाँ से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति १।४।६५ तक जायेगी ॥

अस्तं च ॥१।४।६७॥

अस्तम् अ० ॥ च अ० ॥ अनु०—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अव्ययम् अस्तं शब्दो गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति क्रियायोगे ॥ उदा०—अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति । अस्तंगतानि घनानि । यदुस्तंगच्छति ॥

भाषार्थः—[अस्तम्] अस्तम् शब्द जो अव्यय है, उसकी [च] भी क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति (छिपने के बाद सूर्य पुनः उदित होता है) । अस्तंगतानि घनानि (नष्ट हुए धन) । यदस्तं गच्छति (जो अस्त होता है) ।

अच्छ गत्यर्थवदेषु ॥१४।६८॥

अच्छ अ० ॥ गत्यर्थवदेषु ७।३॥ स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः, गत्यर्थाश्च वदश्च, गत्यर्थवदाः, तेषु, बहुव्रीहिगर्भेतरयोर्गद्वन्द्वः ॥ अनु०—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अव्ययम् अच्छशब्दो गत्यर्थकधातूनां वदधातोश्च योगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अच्छगत्य । अच्छगतम् । यदुच्छगच्छति ॥ अच्छोद्य । अच्छोदितम् । यत् अच्छवदति ॥

भाषार्थः—[गत्यर्थवदेषु] गत्यर्थक तथा वद धातु के योग में [अच्छ] अच्छ शब्द जो अव्यय, उसकी गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अच्छगत्य (सामने जाकर) । अच्छगतम् । यदुच्छगच्छति ॥ अच्छोद्य (सामने कहकर) । अच्छोदितम् । यद् अच्छवदति ॥ क्त्वा तथा क्त प्रत्ययों के परे वद को वचिस्वपि० (६।१।१५) से सम्प्रसारण होकर, तथा आद्गुणः (६।१।८४) से पूर्व पर को गुण होकर—अच्छोद्य बना है । अच्छगतम् में अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से, तथा अच्छगत्य में वा ल्यपि (६।४।३८) से अनुनासिकलोप हो गया है ॥

अदोऽनुपदेशे ॥१४।६९॥

अदः १।१॥ अनुपदेशे ७।१॥ स०—अनुपदेश इत्यत्र नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अनुपदेशे अदः शब्दः क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अदःकृत्य । अदःकृतम् । यदुदःकरोति ॥

भाषार्थः—[अनुपदेशे] अनुपदेश विषय में [अदः] अदः शब्द क्रिया के योग में गति और निपातसंज्ञक होता है ॥ किसी की कही हुई बात को उपदेश, तथा जो स्वयं सोचा जाये वह अनुपदेश होता है ॥ उदा०—अदःकृत्य (स्वयं विचारकर) । अदःकृतम् । यदुदःकरोति ॥

तिरोऽन्तद्धौ ॥१४।७०॥

तिरः अ० ॥ अन्तद्धौ ७।१॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—

अन्तर्द्वौ = व्यवधानेऽर्थे तिरः शब्दः क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥
उदा०—तिरोभूय । तिरोभूतम् । यत् तिरोभवति ॥

भाषार्थः—[अन्तर्द्वौ] अन्तर्द्वि अर्थात् व्यवधान अर्थ में [तिरः] तिरः शब्द की क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—तिरोभूय (छिपकर) । तिरोभूतम् । यत् तिरोभवति । यहाँ धातु स्वर से 'भवति' आद्युदात्त है ॥

यहाँ से 'तिरोऽन्तर्द्वौ' की अनुवृत्ति १।४।७१ तक जाती है ॥

विभाषा कृजि ॥१।४।७१॥

विभाषा १।१॥ कृजि ७।१॥ अनु०—तिरोऽन्तर्द्वौ, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥
अर्थः—तिरः शब्दोऽन्तर्द्वौवर्थे कृञ्धातोयोगे विभाषा गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य । तिरस्कृतम्, तिरःकृतम् । यत् तिरस्करोति, यत् तिरःकरोति । अगतिसंज्ञापक्षे—तिरः कृत्वा । तिरः कृतम् । यत् तिरः करोति ॥

भाषार्थः—अन्तर्द्वि = छिपने अर्थ में तिरः शब्द की [कृजि] कृञ् धातु के योग में [विभाषा] विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥ यहाँ तथा अगले सूत्रों में गति संज्ञा का ही विकल्प समझना चाहिये, निपात संज्ञा का नहीं ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति १।४।७५ तक, तथा 'कृजि' की अनुवृत्ति १।४।७८ तक जायेगी ॥

उपाजेऽन्वाजे ॥१।४।७२॥

उपाजेऽन्वाजे विभक्तिप्रतिरूपको निपातो ॥ अनु०—विभाषा कृजि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—उपाजे अन्वाजे इत्येतौ शब्दौ कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञको भवतः, निपातसंज्ञको च ॥ उदा०—उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा । अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा ॥

भाषार्थः—[उपाजेऽन्वाजे] उपाजे तथा अन्वाजे शब्दों की कृञ् धातु के योग में विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—उपाजेकृत्य (निर्बल की सहायता करके), उपाजे कृत्वा । अन्वाजेकृत्य (निर्बल की सहायता करके), अन्वाजे कृत्वा ॥ पूर्ववत् गति संज्ञा न होने से समास न होकर कृत्वा को ल्यप् नहीं हुआ है ॥

साक्षात्प्रभृतीनि च ॥१४।७३॥

साक्षात्प्रभृतीनि १।३॥ च अ० ॥ स०—साक्षात् प्रभृति येषां तानि साक्षात्-
प्रभृतीनि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—विभाषा कृञि, गतिः, क्रियायोगे निपाताः ॥ अर्थः—
साक्षात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञकानि निपातसंज्ञकानि च
भवन्ति ॥ उदा०—साक्षात्कृत्य, साक्षात् कृत्वा । मिथ्याकृत्य, मिथ्या कृत्वा ॥

भाषार्थः—[साक्षात्प्रभृतीनि] साक्षात् इत्यादि शब्दों की [च] भी कृञ् धातु
के योग में विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा० साक्षात्कृत्य (अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष करके), साक्षात् कृत्वा । मिथ्या-
कृत्य (शुद्ध को अशुद्ध बोलकर), मिथ्या कृत्वा ॥ सर्वत्र जय गति संज्ञा नहीं होगी,
तब समास न होने से क्त्वा को ल्यप् नहीं होगा । तथा परि० १।४।७१ के समान ही
स्वर का भेद हो जायेगा ॥

अनत्याधान उरसिमनसी ॥१४।७४॥

अनत्याधाने ७।१॥ उरसिमनसी १।२॥ स०—अनत्याधानमित्यत्र नञतत्पुरुषः ।
उरसि च मनसि चेति उरसिमनसी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा कृञि,
गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अत्याधानमुपश्लेषणं, तदभावे—अनुश्लेषणे
उरसिमनसी शब्दौ कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उरसि-
मनसि शब्दौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ ॥ उदा०—उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा ।
मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा ॥

भाषार्थः—[अनत्याधाने] अनत्याधान अर्थात् चिपकाके न रखने विषय में
[उरसिमनसी] उरसि और मनसि शब्दों की कृञ् धातु के योग में विकल्प से गति
और निपात संज्ञा होती है ॥ उरसि मनसि शब्द विभक्ति-प्रतिरूपक निपात हैं ॥
उदा०—उरसिकृत्य (अन्तःकरण में बिठाकर), उरसि कृत्वा । मनसिकृत्य (मन
में निश्चय करके), मनसि कृत्वा ॥

यहाँ से 'अनत्याधाने' की अनुवृत्ति १।४।७५ तक जाती है ॥

मध्येपदेनिवचने च ॥१४।७५॥

मध्ये पदे, निवचने लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अनु०—अनत्याधाने,
विभाषा कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—मध्ये, पदे, निवचने इत्येते शब्दाः
कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञका निपातसंज्ञकाश्च भवन्ति अनत्याधाने ॥ मध्ये पदे ई १

विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ । निवचनं वचनाभावः, अर्थाभावेऽव्ययीभावसमासः (२।१।६) । निपातनाद् एकारान्तत्वं भवति निवचने इति ॥ उदा०—मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य, पदे कृत्वा । निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा ॥

भाषार्थः—[मध्येपदेनिवचने] मध्ये पदे निवचने शब्दों की [च] भी कृञ् के योग में गति और निपात संज्ञा विकल्प से होती है ॥

उदा०—मध्येकृत्य (बीच में लेकर), मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य (पद में गिनकर), पदे कृत्वा । निवचनेकृत्य (वाणी को संयम में करके), निवचने कृत्वा ॥

नित्यं हस्ते पाणावुपयमने ॥१।४।७६॥

नित्यं १।१ ॥ हस्ते पाणौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ ॥ उपयमने ७।१॥ अनु०—कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—उपयमने हस्ते पाणौ शब्दौ कृञो योगे नित्यं गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य ॥

भाषार्थः—[हस्ते पाणौ] हस्ते तथा पाणौ शब्द [उपयमने] उपयसन अर्थात् विवाह-विषय में हों, तो [नित्यम्] नित्य ही उनकी कृञ् के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥ उदा—हस्तेकृत्य (विवाह करके) । पाणौकृत्य (विवाह करके) ॥

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति १।१।७८ तक जाती है ॥

प्राध्वं बन्धने ॥१।४।७७॥

प्राध्वम् अ० ॥ बन्धने ७।१॥ अनु०—नित्यं, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—प्राध्वम् अव्ययम् आनुकूल्येऽर्थे वर्तते । तदानुकूल्यं यदि बन्धनहेतुकं भवति, तदा प्राध्वं शब्दस्य कृञो योगे नित्यं गतिसंज्ञा निपातसंज्ञा च भवति ॥ उदा०—प्राध्वंकृत्य ॥

भाषार्थः—[प्राध्वम्] प्राध्वं यह अव्यय शब्द आनुकूल्य अर्थ में है । सो इस शब्द की [बन्धने] बन्धनविषयक अनुकूलता अर्थ में कृञ् के योग में नित्य गति और निपात संज्ञा होती है ॥ उदा०—प्राध्वंकृत्य (बन्धन के निमित्त से अनुकूलता करके) ॥

जीविकोपनिषदावोपम्ये ॥१।४।७८॥

जीविकोपनिषदौ १।२॥ ओपम्ये ७।१॥ स०—जीविको० इत्यत्रेतरैरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—नित्यं, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—जीविका उपनिषद् इत्येतौ शब्दौ ओपम्ये विषये कृञो योगे नित्यं गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—जीविकाकृत्य । उपनिषत्कृत्य ॥

भाषार्थः—[जीविकौपनिषदौ] जीविका और उपनिषद् शब्दों की [औपम्ये] उपमा के विषय में कृञ् के योग में नित्य गति और निपात संज्ञा होती है॥ उदा०—जीविकाकृत्य (जीविका के समान करके) । उपनिषत्कृत्य (रहस्य के समान करके) ॥

ते प्राग्धातोः ॥१४।७६॥

ते १।३॥ प्राग् अ० ॥ धातोः ५।१॥ अर्थः—ते गत्युपसर्गसंज्ञकाः धातोः प्राग् प्रयोक्तव्याः ॥ तथा च पूर्ववैवोदाहृताः ॥

भाषार्थः—[ते] वे गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द [धातोः] धातु से [प्राक्] पहले होते हैं । अर्थात् धातु से पीछे वा मध्य में प्रयुक्त नहीं होंगे, पूर्व ही प्रयुक्त होंगे ॥ जैसा कि सारे सूत्रों के उदाहरणों में गति तथा उपसर्गों को धातु से पहले ही लाये हैं ॥

यहाँ से 'ते धातोः' की अनुवृत्ति १।४।८१ तक जायेगी ॥

छन्दसि परेऽपि ॥१४।८०॥

छन्दसि ७।१॥ परे १।३॥ अपि अ० ॥ अनु०—ते, धातोः ॥ अर्थः—छन्दसि विषये ते गत्युपसर्गसंज्ञकाः धातोः परेऽपि भवन्ति, अपि शब्दात् प्राक् च ॥ उदा०—याति नि हस्तिना । नियाति हस्तिना । हन्ति नि मुष्टिना । निहन्ति मुष्टिना ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में वे गति-उपसर्गसंज्ञक शब्द धातु से [परे] परे तथा पूर्व में [अपि] भी आते हैं ॥ 'अपि' शब्द से पूर्व भी ले लिया है । जैसा कि उदाहरणों में 'नि' उपसर्ग याति तथा तथा हन्ति से परे तथा पूर्व भी प्रयुक्त हुआ है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति १।४।८१ तक जायेगी ॥

व्यवहिताश्च ॥१४।८१॥

व्यवहिताः १।३॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दसि, ते, धातोः ॥ अर्थः—ते गत्युपसर्गसंज्ञकाश्छन्दसि विषये व्यवहिताश्च दृश्यन्ते ॥ उदा०—आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः (ऋ० ३।४५।१) ॥ आयाहि (ऋ० ३।४३।२) ॥ आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु० (ऋ० १।८६।१) ॥

भाषार्थः—वे गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द वेद में [व्यवहिताः] व्यवधान से [च] भी देखे जाते हैं ॥ जैसा कि ऊपर उदाहरणों में आङ् उपसर्ग याहि तथा यन्तु से व्यवधान होने पर भी हुआ है, तथा अव्यवहित होने पर भी 'आयाहि' ऐसा वेद में होता है ॥

[निपातान्तर्गतकर्मप्रवचनीय-संज्ञा-प्रकरणम्]

कर्मप्रवचनीयाः ॥ ११४।८२ ॥

कर्मप्रवचनीयाः १।३॥ अर्थः—इत ऊर्ध्वं कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवन्ति, इत्यधिकारो वेदितव्यः । विभाषा कृजि (१।४।९७) इति यावत् ॥ तत्रैवोदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—[कर्मप्रवचनीयाः] कर्मप्रवचनीयाः यह सूत्र संज्ञा वा अधिकार दोनों हैं । इसका अधिकार विभाषा कृजि (१।४।९७) तक जायेगा । सो वहां तक के सूत्रों में यह कर्मप्रवचनीय संज्ञा करता जायेगा ॥

अनुलक्षणे ॥ ११४।८३ ॥

अनुः १।१॥ लक्षणे ७।१॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अनु-शब्दः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति, लक्षणे द्योत्ये ॥ उदा०—शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत् । अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः ॥

भाषार्थः—[अनुः] अनु शब्द की [लक्षणे] लक्षण द्योतित हो रहा हो, तो कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा हो जाती है ॥

उदा०—शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत् (शाकल्य संहिता के समाप्त होते ही वर्षा हुई) । अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः (अगस्त्य नक्षत्र के उदय होते ही वर्षा हुई) ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'संहिता' और 'अगस्त्य' में यहाँ कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (२।३।८) से द्वितीया विभक्ति हो गई । एवं उपसर्ग तथा गति संज्ञा का भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से बाध हो गया, तो 'अन्वसिञ्चन्' में उपसर्गात् सुनोतिसुवति० (८।३।६५) से उपसर्ग से उत्तर न होने के कारण षत्व नहीं हुआ ॥ निपाताः का अधिकार होने से यहाँ सर्वत्र निपात संज्ञा का भी समावेश होता जा रहा है । सो पूर्ववत् अव्यय संज्ञा होकर सु का लक् हो जायेगा । उदाहरण में संहिता की समाप्ति वर्षा को लक्षित करती है ॥

यहाँ से 'अनुः' की अनुवृत्ति ११४।८५ तक जायेगी ॥

तृतीयार्थे ॥ ११४।८४ ॥

तृतीयार्थे ७।१॥ तृतीयायाः अर्थः तृतीयार्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः । अनु०—अनुः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—तृतीयार्थे द्योत्ये अनुशब्दः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—नदीमन्ववसिता सेना ॥

भाषार्थः—[तृतीयार्थे] तृतीयार्थं द्योतित हो रहा हो, तो अनु शब्द की कर्म-प्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—नदीमन्ववसिता सेना (नदी के साथ-साथ सेना बस रही है) ॥ कर्म-प्रवचनीय संज्ञा होने से नदी में पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति हो गई है ॥

हीने ॥१४।८५॥

हीने ७।१॥ अनु०—अनुः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—हीने द्योत्येऽनुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अनुशाकटायनं वैयाकरणाः । अन्वजुनं योद्धारः ॥

भाषार्थः—[हीने] हीन अर्थात् न्यून द्योतित होने पर अनु शब्द की कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अनुशाकटायनं वैयाकरणाः (सब वैयाकरण शाकटायन से न्यून थे) । अन्वजुनं योद्धारः (सब योद्धा अजुन से न्यून थे) ॥ पूर्ववत् यहां भी द्वितीया विभक्ति हो जाती है ॥

यहां से 'हीने' की अनुवृत्ति १।४।८६ तक जायेगी ॥

उपोऽधिके च ॥१४।८६॥

उपः १।१॥ अधिके ७।१। च अ० ॥ अनु०—हीने, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—उपशब्दोऽधिके हीने च द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—उपखार्या द्रोणः । उपनिष्के कार्षापणम् । हीने—उपशाकटायनं वैयाकरणाः ॥

भाषार्थः—[उपः] उपशब्द [अधिके] अधिक [च] तथा हीन अर्थं द्योतित होने पर कर्मप्रवचनीय और निपातसंज्ञक होता है ॥

उदा०—उपखार्या द्रोणः (खारी से अधिक द्रोण, अर्थात् पूरी एक खारी है, तथा उसमें एक द्रोण और अधिक है) । उपनिष्के कार्षापणम् (कार्षापण से अधिक निष्क, अर्थात् पूरा कार्षापण है, तथा उससे अधिक एक निष्क भी है) । हीन में—उपशाकटायनं वैयाकरणाः (शाकटायन से सब वैयाकरण छोटे हैं) ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपखार्या तथा उपनिष्के में यस्मादधिकं यस्य चेश्वर-वचनं तत्र सप्तमी (२।३।९) से सप्तमी विभक्ति हुई है । शेष में पूर्ववत् द्वितीया हो गई ॥

अपपरी वर्जने ॥१४।८७॥

अपपरी १।२॥ वर्जने ७।१॥ स०—अपपरी इत्यत्रेतरं योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—

कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अपपरी शब्दों वर्जने द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञको च भवतः ॥ उदा०—अपत्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः । परित्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः ॥

भाषार्थः—[वर्जने] वर्जन अर्थात् छोड़ना अर्थ द्योतित होने पर [अपपरी] अप परि शब्दों की कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अपत्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः (त्रिगर्त देश को छोड़कर वर्षा हुई) । परि-त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः । कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से त्रिगर्तेभ्यः में पञ्चमी विभक्ति पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२।३।१०) से हो गई है । परेवर्जने (८।१।५) से परि का द्विवचन कहा गया है । परन्तु वार्तिक से उसका विकल्प हो जाता है, अतः यहां द्विवचन नहीं दिखाया गया ॥

आङ् मर्यादावचने ॥१।४।८८॥

आङ् १।१॥ मर्यादावचने ७।१॥ स०—मर्यादाया वचनं मर्यादावचनं, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—मर्यादावचने आङ् कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—मर्यादायाम्—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः । अभिविधौ—आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः । आ मथुरायाः, आ साङ्का-श्यादित्यादीनि ॥

भाषार्थः—[आङ्] आङ् की [मर्यादावचने] मर्यादा और अभिविधि अर्थ में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ सूत्र में वचन ग्रहण करने से 'अभिविधि' अर्थ भी यहां निकल आता है । 'मर्यादा' किसी अवधि को कहते हैं । अभिविधि भी मर्यादा ही होती है । उसमें अन्तर इतना है कि जहां से किसी बात की अवधि बांधी जाय, उसको लेकर अभिविधि होती है । तथा मर्यादा उस अवधि से पूर्व-पूर्व तक समझी जाती है । जैसे कि—आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः, इस उदाहरण में मर्यादा है । सो इसका अर्थ होगा पाटलिपुत्र से (अवधि से) पूर्व पूर्व वर्षा हुई । यदि यह उदाहरण अभिविधि में होगा, तो इसका अर्थ होगा—पाटलिपुत्र को लेकर, अर्थात् पाटलिपुत्र में भी वर्षा हुई । इसी प्रकार अभिविधि में 'आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः' का अर्थ है—बच्चे-बच्चे तक पाणिनि जी का यश है ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से इसके योग में पाटलिपुत्र इत्यादि शब्दों में 'पञ्चम्य-पाङ्परिभिः' (२।३।१०) से पञ्चमी विभक्ति पूर्ववत् हुई है । आङ् मर्यादाभिविध्योः (२।१।१२) से यहां पक्ष में समास भी हो जाता है । सो समास होकर आपाटलिपुत्रम्, आकुमारम् इत्यादि रूप भी बनेंगे ॥

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सामु प्रतिपर्यनवः ॥१४।८६॥

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सामु ७।३॥ प्रतिपर्यनवः १।३॥ स०—कञ्चित् प्रकारं प्राप्त इत्थंभूतः, इत्थंभूतस्य आख्यानम् इत्थंभूताख्यानम्, लक्षणञ्च इत्थम्भूताख्यानञ्च भागश्च वीप्सा च लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्साः, तामु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । प्रतिपर्यनवः इत्यत्रापि इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः निपाताः ॥ अर्थः—प्रति परि अनु इत्येते शब्दाः लक्षण इत्थम्भूताख्यान भाग वीप्सा इत्येतेष्वर्थेषु विषयभूतेषु कर्मप्रवचनीयसंज्ञकाः निपातसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—लक्षणे—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् । वृक्षं परि विद्योतते । इत्थम्भूताख्याने—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरम् अनु । भागे—यदत्र मां प्रति स्यात् । यदत्र मां परि स्यात् । यदत्र माम् अनु स्यात् । वीप्सा—वृक्षं-वृक्षं प्रति सिञ्चति । वृक्षं-वृक्षं परि सिञ्चति । वृक्षम्-वृक्षम् अनु सिञ्चति ॥

भाषार्थः—[प्रतिपर्यनवः] प्रति परि अनु इनकी [लक्षणे...प्सामु] लक्षण, इत्थम्भूताख्यान (अर्थात् वह इस प्रकार का है, ऐसा कहने में), भाग और वीप्सा इन अर्थों के द्योतित होने पर कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ वीप्सा व्याप्ति को कहते हैं ॥

उदा०—लक्षण में—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् (वृक्ष पर बिजली चमकती है) । वृक्षं परि विद्योतते, वृक्षमनु विद्योतते । इत्थम्भूताख्यान में—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति (देवदत्त माता के प्रति अच्छा व्यवहार करता है) । मातरं परि, मातरम् अनु । भाग में—यदत्र मां प्रति स्यात् (यहां जो मेरा भाग हो) । यदत्र मां परि स्यात्, यदत्र माम् अनु स्यात् । वीप्सा—वृक्षं-वृक्षं प्रति सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है) । वृक्षं-वृक्षं परि सिञ्चति, वृक्षम्-वृक्षम् अनु सिञ्चति ॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया, तो स्यात् में उपसर्ग० (८।३।८७) से, एवं सिञ्चति में उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से षत्वं नहीं हुआ है । पूर्ववत् यहां भी द्वितीया हो जायेगी । वीप्सा अर्थ में 'वृक्ष' को द्वित्व नित्यवीप्सयोः (८।१।४) से हो जाता है ॥

यहां से 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सामु' की अनुवृत्ति १।४।६० तक जायेगी ॥

अभिरभागे ॥१४।६०॥

अभिः १।१॥ अभगे ७।१॥ स०—अभाग इत्यत्र नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सामु, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—भागवर्जितेषु लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सास्वर्थेष्वभिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥

उदा०—लक्षणे—वृक्षमभि विद्योतते विद्युत् । इत्थम्भूताख्यान—साधुर्द्वन्द्वतो मातरमभि ।
वीप्सायाम्—वृक्षं-वृक्षमभि सिञ्चति ॥

भाषार्थः—लक्षणादि अर्थों के द्योतित होने पर [अभिः] अभि शब्द की कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है [अभागे] भाग अर्थ को छोड़कर ॥ लक्षणादि अर्थों को कहने में भाग अर्थ में भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा प्राप्त थी । सो 'अभागे' इस पद ने निषेध कर दिया ॥ उदा०—लक्षण में—वृक्षमभि विद्योतते विद्युत् (वृक्ष पर बिजली चमकती है) । इत्थम्भूताख्यान में—साधुर्द्वन्द्वतो मातरमभि (देवदत्त माता से अच्छा व्यवहार करता है) । वीप्सा में—वृक्षं-वृक्षमभि सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है) । पूर्ववत् षत्व-निषेध, तथा द्वितीया विभक्ति कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से हो गई ॥

प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥१।४।६१॥

प्रतिः १।१॥ प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ७।२॥ स०—प्रतिनिधिश्च प्रतिदानञ्च प्रतिनिधिप्रतिदाने, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—प्रतिशब्दः प्रतिनिधिप्रतिदानविषये कर्मप्रवचनीयसंज्ञो निपातसंज्ञश्च भवति ॥ उदा०—अभिमन्युरर्जुनतः प्रति । माषान् तिलेभ्यः प्रति यच्छति ॥

भाषार्थः—[प्रतिः] प्रति शब्द की [प्रति..... दानयोः] प्रतिनिधि और प्रतिदान विषय में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अभिमन्युरर्जुनतः प्रति (अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है) । माषान् तिलेभ्यः प्रतियच्छति (तिलों के बदले उड़व देता है) ॥ यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् (२।३।११) से 'तिलेभ्यः' तथा 'अर्जुनतः' में पञ्चमी विभक्ति हो गई है । अर्जुनतः में प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः (५।४।४४) से तसि प्रत्यय हुआ है । अर्जुन तसि = अर्जुन तस् = अर्जुनतः बना ॥

अधिपरी अनर्थकौ ॥१।४।६२॥

अधिपरि १।२॥ अनर्थकौ १।२॥ स०—अधिश्च परिश्चेति अधिपरी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । न विद्यते अर्थो ययोस्तावनर्थकौ, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अनर्थान्तरवाचिनो अधिपरिशब्दौ कर्मप्रवचनीयसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति ॥

भाषार्थः—[अधिपरी] अधि परि शब्द यदि [अनर्थकौ] अनर्थक अर्थात् अन्य अर्थ के द्योतक न हों, तो उनकी कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ उदाहरण में 'आगच्छति' का जो अर्थ है, वही 'अध्यागच्छति' तथा 'पर्यागच्छति' का

भी है । अतः अधि परि अनर्थक है, सो कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो गई है । कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति तथा उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया । अतः गतिर्गती (८।१।७०) से अधि परि का निघात नहीं हुआ ॥

सुः पूजायाम् ॥१।४।६३॥

सुः १।१॥ पूजायाम् ७।१॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—सुशब्दः पूजायामर्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—सुसिक्तं भवता । सुस्तुतं भवता ॥

भाषार्थः—[सुः] सु शब्द की [पूजायाम्] पूजा अर्थ में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ उदा०—सुसिक्तं भवता (आपने बहुत अच्छा सींचा) । सुस्तुतं भवता (आपने अच्छी स्तुति की) ॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया, तो उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से षत्व नहीं हुआ ॥

यहाँ से 'पूजायाम्' की अनुवृत्ति १।४।६४ तक जाती है ॥

अतिरतिक्रमणे च ॥१।४।६४॥

अतिः १।१॥ अतिक्रमणे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—पूजायाम्, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अतिशब्दः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति अतिक्रमणार्थे, चकारात् पूजायामपि ॥ उदा०—अतिसिक्तमेव भवता । अतिस्तुतमेव भवता । पूजायाम्—अतिसिक्तं भवता । अतिस्तुतं भवता ॥

भाषार्थः—[अतिः] अति शब्द की [अतिक्रमणे] अतिक्रमण=उल्लङ्घन [च] और पूजा अर्थ में कर्मप्रवचनीय तथा निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अतिसिक्तमेव भवता (आपने अधिक ही सींच दिया) । अतिस्तुतमेव भवता (आपने बहुत ही स्तुति की) । पूजा में—अतिसिक्तं भवता (आपने अच्छा सींचा) । अतिस्तुतं भवता (आपने सम्यक् स्तुति की) ॥ पूर्ववत् षत्व न होना ही कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है ॥

अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु ॥१।४।६५॥

अपिः १।१॥ पदार्थः.....समुच्चयेषु ७।३॥ स०—पदार्थसंभा० इत्यत्रेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अपिशब्दः पदार्थ सम्भावनान्ववसर्गगर्हा समुच्चय इत्येतेष्वर्थेषु कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—पदार्थः—मधुनोऽपि स्यात् । सर्पिनोऽपि स्यात् । सम्भावने—अपि

सिञ्चेत् मूलकसहस्रम् । अपि स्तुयात् राजानम् । अन्ववसर्गे—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि ।
गर्हायाम्—धिग् जालम् देवदत्तम्, अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम् । समुच्चये—अपि सिञ्च,
अपि स्तुहि ॥

भाषार्थः—[अपि:] अपि शब्द की [पदार्थ.....येषु] पदार्थ (=अप्रयुक्त पद
का अर्थ), सम्भावन, अन्ववसर्ग (=कामचार=करे या न करे), गर्हा=निन्दा तथा
समुच्चय इन अर्थों में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—पदार्थ में—मधुनोऽपि स्यात् (थोड़ासा शहद भी चाहिये) । सर्पिषो-
ऽपि स्यात् (थोड़ासा घी भी चाहिये) । सम्भावन में—अपि सिञ्चेत् मूलकसहस्रम्
(सम्भव है यह हजार मूली तक सींच दे) । अपि स्तुयात् राजानम् (शायद
यह राजा की भी स्तुति करे) । अन्ववसर्ग में—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (चाहे सींच,
चाहे स्तुति कर) । गर्हा में—धिग्जालम् देवदत्तम्, अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम् (धिक्कार
है देवदत्त को, जो प्याज को भी सींचता है) । समुच्चय में—अपि सिञ्च, अपि
स्तुहि (सींच भी, और स्तुति भी कर) ॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से पूर्ववत् षत्व
नहीं होता ॥

अधिरीश्वरे ॥१४।६६॥

अधिः १।१॥ ईश्वरे ७।१॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—
अधिशब्द ईश्वरेऽर्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ स्वस्वामिसम्बन्धे
ईश्वरशब्दः ॥ उदा०—अधि देवदत्ते पञ्चालाः । अधि पञ्चालेषु देवदत्तः ॥

भाषार्थः—[अधि:] अधि शब्द की [ईश्वरे] ईश्वर=स्वस्वामि-सम्बन्ध अर्थ
में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अधि देवदत्ते पञ्चालाः (पञ्चाल देवदत्त के आधीन हैं) । अधि
पञ्चालेषु देवदत्तः (पञ्चालों का देवदत्त स्वामी है) । ईश्वर शब्द स्व-स्वामी-सम्ब-
न्धवाची है । सो स्वामी व स्व दोनों में यस्मादधिकं यस्य० (२।३।६) से सप्तमी
विभक्ति हो गई है ॥

यहां से 'अधिः' की अनुवृत्ति १।४।६७ तक जाती है ॥

विभाषा कृत्रि ॥१४।६७॥

विभाषा १।१॥ कृत्रि ७।१॥ अनु०—अधिः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥
अर्थः—अधिशब्दः कृत्रि परतो विभाषा कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥
उदा०—यदत्र मामाधिकुरिष्यति । पक्षे—यदत्र माम् अधि कुरिष्यति ॥

भाषार्थः—अधि शब्द की [कृञ्] कृञ् के परे [विभाषा] विकल्प से कर्मप्रव-
चनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

[ल-प्रकरणम्]

लः परस्मैपदम् ॥१४।६८॥

लः ६।१॥ परस्मैपदम् १।१॥ अर्थः—लादेशाः परस्मैपदसंज्ञका भवन्ति ॥
उदा०—तिप्, तस्, भि । सिप्, थस्, थ । मिप्, वस्, मस् । शतृ, क्वसु ॥

भाषार्थः—[लः] लादेश [परस्मैपदम्] परस्मैपदसंज्ञक होते हैं ॥ सूत्र में
'लः' पद में आदेश की अपेक्षा से छठी है । सो लस्य (३।४।७७) से लकारों के स्थान
में जो तिप्तस्भि० (३।४।७८) सूत्र से आदेश होते हैं, वे लिये गये हैं । लटः शतृशानच्-
व० (३।२।१२४) से लट् के स्थान में जो शतृ शानच् होते हैं, वे भी लादेश हैं । सो
शानच् की तो आगे आत्मनेपद संज्ञा करेंगे, शतृ की यहाँ परस्मैपद संज्ञा हो गई है ।
क्वसुश्च (३।२।१०७) से लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हुआ है, सो वह भी लादेश
है, अतः परस्मैपदसंज्ञक हो गया । परस्मैपद संज्ञा होने से यह प्रत्यय परस्मैपदी
धातुओं से ही होंगे ॥

तडानावात्मनेपदम् ॥१४।६९॥

तडानी १।२॥ आत्मनेपदम् १।१॥ स०—तड् च आनश्च तडानी, इतरेतरयोग-
द्वन्द्वः ॥ अर्थः—तडानी आत्मनेपदसंज्ञकी भवतः ॥ पूर्वोक्त सूत्रेण परस्मैपदसंज्ञायां प्राप्ताया-
मात्मनेपदं विधीयते ॥ उदा०—त, आताम्, भ । थास्, आथाम्, ध्वम् । इट्, वहि,
महिङ् । आनः=शानच्, कानच् ॥

भाषार्थः—[तडानी] तड् और आन [आत्मनेपदम्] आत्मनेपदसंज्ञक होते
हैं ॥ तड् से 'त' से लेकर महिङ् के डकारपर्यन्त प्रत्याहार का ग्रहण है । तथा आन
से शानच् कानच् का ॥ पूर्वसूत्र से लादेशों को परस्मैपद कहा था, यह उसका अप-
वादसूत्र है । अर्थात् लादेशों में तड् तथा आन आत्मनेपदसंज्ञक होते हैं । तो
शेष बचे लादेश पूर्वसूत्र से परस्मैपद हो गये ॥

तिङ्स्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ॥१४।७०॥

तिङः ६।१॥ त्रीणि १।३॥ त्रीणि १।३॥ प्रथममध्यमोत्तमाः १।३॥ स०—
प्रथमश्च मध्यमश्च उत्तमश्च प्रथममध्यमोत्तमाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—
तिङः अष्टादश प्रत्ययाः त्रीणि त्रीणि यथाक्रमं प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञका भवन्ति ॥
उदा०—तिप्, तस्, भि इति प्रथमः पुरुषः । सिप्, थस्, थ इति मध्यमः । मिप्, वस्,
मस् इति उत्तमः । तथैवात्मनेपदेषु ॥

भाषार्थः—[तिङ्:] तिङ् = १८ प्रत्ययों के [त्रीणि त्रीणि] तीन-तीन के जुट
अर्थात् त्रिक क्रम से [प्रथम...माः] प्रथम मध्यम और उत्तम संज्ञक होते हैं ॥

यहाँ से 'तिङ्स्त्रीणि त्रीणि' की अनुवृत्ति १।४।१०३ तक जाती है ॥

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः ॥१।४।१०१॥

तानि १।३॥ एक...नानि १।३॥ एकशः अ० ॥ स०—एकवचनं च द्विवचनं
च बहुवचनं चेति एकवचनद्विवचनबहुवचनानि, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तिङ्ः
त्रीणि त्रीणि ॥ अर्थः—तानि तिङ्स्त्रीणि त्रीणि एकशः=एकैकं पदं क्रमेण एक-
वचनद्विवचनबहुवचन-संज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—तिप् (एकवचनम्), तस् (द्वि-
वचनम्), भि (बहुवचनम्) । एवमग्रेऽपि ॥

भाषार्थः—[तानि] उन तिङों के तीन-तीन (=त्रिक) की [एकशः] एक-एक
करके क्रम से [एक...चनानि] एकवचन द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'एकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' की अनुवृत्ति १।४।१०२ तक
जाती है ॥

सुपः ॥१।४।१०२॥

सुपः ६।१॥ अनु०—एकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः, त्रीणि त्रीणि ॥ अर्थः—
सुपश्च त्रीणि-त्रीणि एकशः=क्रमेण एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञकानि भवन्ति ॥
उदा०—सु (एकवचनम्), औ (द्विवचनम्), जस् (बहुवचनम्) । एवं सर्वत्र ॥

भाषार्थः—[सुपः] सुपों के तीन-तीन की एकवचन द्विवचन और बहुवचन
संज्ञा एक-एक करके हो जाती है ॥ पूर्व सूत्र में तिङों के तीन-तीन की क्रम से एक-
वचनादि संज्ञायें की थीं, यहाँ सुपों की भी विधान कर दीं ॥

यहाँ से 'सुपः' की अनुवृत्ति १।४।१०३ तक जाती है ॥

विभक्तिश्च ॥१।४।१०३॥

विभक्तिः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—सुपः, तिङः, त्रीणि-त्रीणि ॥ अर्थः—सुपः
तिङश्च त्रीणि-त्रीणि विभक्तिसंज्ञकानि च भवन्ति ॥ उदा०—पठतः, पुरुषान् ॥

भाषार्थः—सुपों और तिङों के तीन-तीन की [विभक्तिः] विभक्ति संज्ञा [च]
भी हो जाती है ॥ उदाहरण में पठ् के आगे जो तस् आया था, तथा पुरुष के आगे जो
शस् आया, उस शस् को पूर्ववत् प्रथमयोः० (६।१।६८) से दीर्घ, तथा तस्माच्छसोः
नः० (६।१।६९) से 'स्' को 'न्' होकर पुरुषान् व पठतस् बना । अब आन् (शस्)
व तस् की विभक्ति संज्ञा होने से नकार व सकार की इत् संज्ञा हलन्त्यम् (१।३।३)
से प्राप्त होती है, पर उसका न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४) से निषेध हो जाता है ॥

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ॥१४॥१०४॥

युष्मदि ७।१॥ उपपदे ७।१॥ समानाधिकरणे ७।१॥ स्थानिनि ७।१॥ अपि अ० ॥ मध्यमः १।१॥ स्थानं प्रसक्तमस्यास्तीति स्थानी ॥ अर्थः—युष्मदि शब्द उपपदे समानाधिकरणे सति=समानाभिधेये तुल्यकारके सति स्थानिनि=अप्रयुज्यमाने, अपि=प्रयुज्यमानेऽपि मध्यमपुरुषो भवति ॥ उदा०—त्वं पचसि, युवां पचथः, यूयं पचथ ॥ अप्रयुज्यमानेऽपि—पचसि, पचथः, पचथ ॥

भाषार्थः—[युष्मदि] युष्मद् शब्द के [उपपदे] उपपद रहते [समानाधिकरणे] समान अभिधेय होने पर [स्थानिनि] युष्मद् शब्द का प्रयोग न हो [अपि] या हो, तो भी [मध्यमः] मध्यम पुरुष होता है ।

यहाँ से 'उपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि' की अनुवृत्ति १।४।१०६ तक, तथा 'युष्मदि मध्यमः' की अनुवृत्ति १।४।१०५ तक जाती है ॥

प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ॥१४॥१०५॥

प्रहासे ७।१॥ च अ० ॥ मन्योपपदे ७।१॥ मन्यतेः ५।१॥ उत्तमः १।१॥ एकवत् अ० ॥ च अ० ॥ स०—मन्य उपपदं यस्य स मन्योपपदः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ॥ अर्थः—प्रहासः=परिहासः, प्रहासे गम्यमाने मन्योपपदे धातोर्युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमपुरुषो भवति, मन्यतेर्धातोश्चोत्तमपुरुषो भवति, स चोत्तम एकवद् भवति ॥ उदा०—एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे, नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः । एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि, यातस्तेन ते पिता ॥

भाषार्थः—[प्रहासे] परिहास गम्यमान हो रहा हो, तो [च] भी [मन्योपपदे] मन्य है उपपद जिसका, ऐसी धातु से युष्मद् उपपद रहते, समान अभिधेय होने पर, युष्मद् शब्द का प्रयोग हो या न हो, तो भी मध्यम पुरुष हो जाता है, तथा उस [मन्यतेः] मन धातु से [उत्तमः] उत्तम पुरुष हो जाता है, और उस उत्तम पुरुष को [एकवत्] एकवत्=एकत्व [च] भी हो जाता है ॥

उदा०—एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे, न हि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः (तुम ऐसा समझते हो कि मैं चावल खाऊंगा, नहीं खाओगे, क्योंकि वह तो तुम्हारे अतिथि खा गये)। एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि, यातस्तेन ते पिता (तुम यह समझते हो कि मैं रथ पर चढ़कर जाऊंगा, सो नहीं जा सकते, क्योंकि रथ पर तो चढ़कर तुम्हारे पिता चले गये) ॥ उदाहरण में कोई किसी को चिढ़ाके ये वाक्य बोल रहा था कि तुम क्या खाओगे, वा रथ से जाओगे ? सो यहाँ हँसी=प्रहास से कहा जा रहा है ।

यहाँ भोक्ष्यसे में उत्तम पुरुष (भोक्ष्ये), तथा मन्ये में मध्यम पुरुष (मन्यसे) प्राप्त था, सो उत्तम के स्थान में मध्यम, तथा मध्यम के स्थान में उत्तम का विधान कर दिया है । उदाहरण में 'भुज्' धातु 'मन्य' उपपदवाली है, अतः मध्यम पुरुष हो गया है ॥

अस्मद्युत्तमः ॥११४१०६॥

अस्मदि ७।१॥ उत्तमः १।१॥ अनु०—उपपदे, समानाधिकरणे स्थानिन्यपि ॥
अर्थः—अस्मद्युपपदे समानाभिधेये सति प्रयुज्यमानेऽप्यप्रयुज्यमानेऽप्युत्तमपुरुषो भवति ॥
उदा०—अहं पचामि । आवां पचावः । वयं पचामः । अप्रयुज्यमानेऽपि—पचामि, पचावः, पचामः ॥

भाषार्थः—[अस्मदि] अस्मद् शब्द उपपद रहते, समान अभिधेय हो, तो अस्मद् शब्द प्रयुक्त हो या न हो, तो भी [उत्तमः] उत्तम पुरुष हो जाता है ॥
उदा०—अहं पचामि । आवां पचावः । वयं पचामः । अप्रयुज्यमान होने पर—पचामि, पचावः, पचामः ॥

शेषे प्रथमः ॥११४१०७॥

शेषे ७।१॥ प्रथमः १।१॥ अर्थः—मध्यमोत्तमविषयादन्य शेषः । यत्र युष्मदस्मदी समानाधिकरणे उपपदे न स्तः, तस्मिन् शेषविषये प्रथमपुरुषो भवति ॥ उदा०—पचति, पचतः, पचन्ति ॥

भाषार्थः—मध्यम उत्तम पुरुष जिन विषयों में कहे गए हैं, उनसे [शेषे] अन्य विषय में [प्रथमः] प्रथम पुरुष होता है ॥ उदा०—पचति, पचतः, पचन्ति ॥

यहाँ शेष का अभिप्राय है—'युष्मद् अस्मद् का अभाव', न कि 'युष्मद् अस्मद् से अन्य का सद्भाव' । इसीलिए त्वं च देवदत्तश्च पचथः इत्यादि वाक्यों में युष्मद् अस्मद् से अन्य का सद्भाव होने पर भी प्रथम पुरुष नहीं होता, और 'भूयते' आदि में युष्मद् अस्मद् का अभाव होने के कारण प्रथम पुरुष होता है ॥

परः सन्निकर्षः संहिता ॥११४१०८॥

परः १।१॥ सन्निकर्षः १।१॥ संहिता १।१॥ अर्थः—परशब्दोऽतिशयवाची, वर्णानां परः=अतिशयितः सन्निकर्षः=प्रत्यासत्तिः संहितासंज्ञको भवति ॥
उदा०—दधि+अत्र=दध्यत्र । मधु+अत्र=मध्वत्र ॥

भाषार्थः—वर्णों के [परः] अतिशयित=अत्यन्त [सन्निकर्षः] सन्निकर्ष अर्थात् समीपता की [संहिता] संहिता संज्ञा होती है ॥

उदाहरणों में इकार अकार, तथा उकार अकार की अत्यन्त समीपता में

संहिता संज्ञा होने से संहितायाम् (६।१।७०) के अधिकार में इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश हो गया है ॥ यहाँ वर्णों की अत्यन्त समीपता का अर्थ है—'वर्णों के उच्चारण में अर्धमात्रा से अधिक काल का व्यवधान न होना ॥'

विरामोऽवसानम् ॥१।४।१०६॥

विरामः १।१॥ अवसानम् १।१॥ अर्थः—विरामोऽवसानसंज्ञको भवति ॥

उदा०—वृक्षः, प्लक्षः । दधिं, मधुं ॥

भाषार्थः—[विरामः] विराम अर्थात् वर्णोच्चारण के अभाव की [अवसानम्] अवसान संज्ञा होती है ॥

अवसान संज्ञा होने से खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) से विसर्जनीय हो जाता है । दधिं मधुं में अवसान संज्ञा होने से अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५६) से अनुनासिक हो गया है । इस सूत्र में वावसाने (८।४।५५) से अवसान की अनुवृत्ति आती है ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

समर्थः पदविधिः ॥२॥१॥१॥

समर्थः १।१॥ पदविधिः १।१॥ स०—चतुर्विधोऽत्र विग्रहो द्रष्टव्यः—सङ्गतार्थः समर्थः; संसृष्टार्थः समर्थः; सम्प्रेक्षितार्थः समर्थः; संबद्धार्थः समर्थः, उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः । पदस्य विधिः, पदयोर्विधिः, पदानां विधिः, पदात् विधिः—पदविधिः, इति सर्वविभक्त्यन्तः तत्पुरुषसमासोऽत्र बोध्यः ॥ अर्थः—परिभाषासूत्रमिदम् । समर्थानां—सम्बद्धार्थानां पदानां विधिर्भवति ॥ उदा०—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः इत्यत्र समासो भवति, यतो ह्यत्र 'राज्ञः पुरुषः' इति उभे पदे परस्परं सम्बद्धार्थे—समर्थे स्तः । परं 'भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य' इत्यत्र राज्ञः पुरुषः इत्यनयोः पदयोः सम्बद्धार्थता—परस्परमाकाङ्क्षा नास्ति, इत्यतः समासो न भवति । एवं कष्टं श्रितः—कष्टश्रितः इत्यत्र सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् समासो भवति । एवं सर्वत्र योजनीयम् ॥

भाषार्थः—[पदविधिः] पदों की विधि [समर्थः] समर्थ=परस्पर सम्बद्ध अर्थवाले पदों की होती है ॥ यह परिभाषासूत्र है, अतः सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र में इसकी प्रवृत्ति होती है ॥ जिस शब्द के साथ जिस शब्द का परस्पर सम्बन्ध होता है, वे परस्पर 'समर्थ' कहते हैं । जैसे कि समासविधि में राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष) = राजपुरुषः, यहां राजा का पुरुष है एवं पुरुष राजा का है, अतः राज्ञः और पुरुषः दोनों पद परस्पर सम्बद्ध = समर्थ हैं, सो समास हो गया है । पर 'भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य' (राजा की भार्या, पुरुष देवदत्त का) यहाँ राजा का सम्बन्ध भार्या के साथ है, तथा पुरुष का सम्बन्ध देवदत्त के साथ है । यहाँ परस्पर राजा एवं पुरुष की सम्बद्धार्थता = समर्थता नहीं है । अतः राज्ञः पुरुषः का यहाँ समास नहीं हुआ । सूत्र में समर्थ ग्रहण करने का यही प्रयोजन है ॥ इसी प्रकार कष्टं श्रितः, यहाँ समर्थ होने से समास होकर 'कष्टश्रितः' बन जाता है । पर 'पश्य देवदत्तं कष्टं, श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम्' (हे देवदत्त ! कष्ट को देख, विष्णुमित्र गुरुकुल में पहुँच गया), यहाँ पर कष्टं तथा श्रितः की परस्पर सम्बद्धार्थता नहीं है, सो समास नहीं हुआ । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥

'राजपुरुषः' आदि की सिद्धियां परि० १।२।४३ में देखें ॥

सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे ॥२॥१॥२॥

सुप् १।१॥ ग्रामन्त्रिते ७।१॥ पराङ्गवत् अ० ॥ स्वरे ७।१॥ स०—अङ्गेन तुल्यम् अङ्गवत्, परस्य प्रङ्गवत् पराङ्गवत्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—ग्रामन्त्रिते पदे परतः सुबन्तं पराङ्गवद् भवति स्वरे कर्त्तव्ये ॥ उदा०—कुण्डेन अटन् । परंशुना वृश्चन् । मद्राणां राजन् । कश्मीराणां राजन् ॥

भाषार्थः—[ग्रामन्त्रिते] ग्रामन्त्रितसंज्ञक पद के परे रहते, उसके पूर्व जो [सुप्] सुबन्त पद उसको [पराङ्गवत्] पर के अङ्ग के समान कार्य होता है, [स्वरे] स्वरविषय में ॥ यह अतिदेशसूत्र है ॥

यहाँ से 'सुप्' का अधिकार २।२।२६ तक जायेगा ॥

प्राक् कडारात् समासः ॥२॥१॥३॥

समास

प्राक् अ० ॥ कडारात् १।१॥ समासः १।१॥ अर्थः—'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) इति सूत्रं वक्ष्यति, प्राग् एतस्मात् समाससंज्ञा भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अग्र उदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—[कडारात्] कडाराः कर्मधारये (२।२।३८) से [प्राक्] पहले-पहले [समासः] समास संज्ञा का अधिकार जायेगा, यह जानना चाहिये ॥

विशेषः—'समास' संक्षेप करने को कहते हैं । जिसमें अनेक पदों का एक पद, अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति, तथा अनेक स्वरों का एक स्वर हो, उसे समास कहते हैं । यह चार प्रकार का होता है, जिसकी व्याख्या द्वितीय पाद के अन्त तक की जायगी ॥ इस विषय में विशेष जानकारी के लिये हमारी बनाई 'सरलतम विधि' तृ० सं०, पृ० ४०-४१, पाठ १७ देखें ॥

सह सुपा ॥२॥१॥४॥

सह सुबन्त

सह अ० ॥ सुपा ३।१॥ अनु०—समासः, सुप् ॥ अर्थः—सुपा सह सुप् सम-स्यते, इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अग्र उदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—[सुपा] सुबन्त के [सह] साथ सुबन्त का समास होता है, यह अधिकार २।२।२२ तक जानना चाहिये ॥

[अव्ययीभाव-समास-प्रकरणम्]

अव्ययीभाव

अव्ययीभावः ॥२॥१॥५॥

अव्ययीभावः १।१॥ अर्थः—अयमप्यधिकारो वेदितव्यः । इतोऽग्रे यः समासो भवति तस्याव्ययीभावसंज्ञा भवतीति वेदितव्यम् ॥ अग्र उदाहरिष्यामः ॥

भाषायां—यह भी अधिकारसूत्र है, २।१।२१ तक जायगा। यहाँ से आगे जो समास कहेंगे, उसकी [अव्ययीभावः] अव्ययीभाव संज्ञा होती है, ऐसा जानना चाहिये ॥

विशेषः—अव्ययीभाव समास में प्रायः पूर्वपद का अर्थ प्रधान होता है। यथा—उपकुम्भम् में 'उप' अव्यय है, जिसका अर्थ है समीप। सो इसमें समीप अर्थ की प्रधानता है, न कि कुम्भ की ॥

अव्ययीभाव

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्युद्घर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्द-
प्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययोगपद्यसादृश्यसम्पत्ति-
साकल्यान्तवचनेषु ॥२।१।६॥

अल्प
विभक्ति
समीप
समृद्धि
व्युद्घ
अर्थान्तर
अत्यय
असम्प्रति
शब्दप्रादुर्भाव
पश्चात्
अनुपूर्व्य
योगपद्य
सादृश्य
सम्पत्ति
साकल्य
अन्त

अव्ययम् १।१॥ विभक्ति...वचनेषु ७।३॥ स०—विभक्तिश्च, समीपञ्च, समृद्धिश्च, व्युद्घश्च, अर्थाभावश्च, अत्ययश्च, असम्प्रति च, शब्दप्रादुर्भावश्च, पश्चाच्च, यथा च, आनुपूर्व्यञ्च, योगपद्यञ्च, सादृश्यञ्च, सम्पत्तिश्च, साकल्यञ्च, अन्तश्चेति विभक्तिसंज्ञाः, ते च ते वचनाश्च, तेषु, द्वन्द्वपूर्वः कर्मधारयः ॥ अनु०—सह सुपा, सुप्, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—विभक्ति, समीप, समृद्धि (ऋद्धेरभावः), व्युद्घ (ऋद्धेरभावः), अर्थाभाव (वस्तुनोऽभावः), अत्यय (भूतत्वमतिक्रमः), असम्प्रति, शब्दप्रादुर्भाव (प्रकाशता शब्दस्य) पश्चाद्, यथार्थ, आनुपूर्व्य, योगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य, अन्तवचन इत्येतेष्वर्थेषु यदव्ययं वर्तते, तत् समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ विभक्तिशब्देनेह कारकमुच्यते ॥ विभज्यते प्रातिपदिकार्थोऽन्येति कृत्वा तच्चेहाधिकरणं विवक्षितं, न तु सर्वकारकाः ॥ उदा०—विभक्तिः—स्त्रीष्वधिकृत्य—अधिस्त्रि, अधिकुमारि ॥ समीपम्—कुम्भस्य समीपम्=उपकुम्भम्, उपकूपम् ॥ समृद्धिः—सुमगधम्, सुभारतम् ॥ व्युद्घः—मगधानां व्युद्घः=दुर्मगधम्, दुर्गवदिकम् ॥ अर्थाभावः—मक्षिकाणामभावः=निर्मक्षिकम्, निर्मशकम् ॥ अत्ययः—अतीतानि हिमानि=निहिमं, निःशीतम् ॥ असम्प्रति—अतितैसृकम् ॥ शब्दप्रादुर्भावः—पाणिनिशब्दस्य प्रकाशः=इतिपाणिनि, तत्पाणिनि ॥ पश्चात्—रथानां पश्चात्=अनुरथं पादातम् ॥ यथा—यथाशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः—योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्तिः, सादृश्यञ्चेति ॥ तत्र क्रमेण उदाह्रियते—योग्यता—रूपस्य योग्यम्=अनुरूपम् ॥ वीप्सा—अर्थम् अर्थं प्रति=प्रत्यर्थम् शब्दनिवेशः ॥ पदार्थानतिवृत्तिः—शक्तिम् अनतिक्रम्य=यथाशक्ति ॥ सादृश्यम्—यथाऽसादृश्ये (२।१।७) इति सादृश्यप्रतिषेधाद् उदाहरणं न प्रदीयते ॥ आनुपूर्व्यम्—

१. समास के अपने पदों को लेकर जहाँ विग्रह न हो, उसे अस्वपद विग्रह कहते हैं, न स्वपद=अस्वपद। सो यहाँ अस्वपद विग्रह समास है ॥

ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्यम्—अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः ॥ योगपद्यम्—युगपत् चक्रं = सचक्रं वेहि ॥ सादृश्यम्—सदृशः सख्या = ससखि ॥ सम्पत्तिः—ब्रह्मणः सम्पत्तिः = सब्रह्म बाभ्रवाणाम्, सक्षत्रं शालङ्कायनानाम् ॥ साकल्यम्—तृणानां साकल्यं = सतृण मभ्यवहरति, सबुसम् ॥ अन्तवचनम्—अग्नेरन्तः = साग्नि, ससमासम् अष्टाध्यायीम-
धीते ॥

भाषार्थः—[विभक्ति...वचनेषु] विभक्ति समीपादि अर्थों में वर्तमान जो [अव्ययम्] अव्यय, वह समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है, और समास अव्ययीभाव-संज्ञक होता है ॥

विभक्ति शब्द से यहां कारक लिया गया है । उन कारकों में यहां अधिकरण कारक ही विवक्षित है, न कि सब कारक । ऋद्धि (वृद्धि) की अधिकता को समृद्धि कहते हैं, तथा ऋद्धि के अभाव को व्यृद्धि कहते हैं । वस्तु के अभाव को अर्थाभाव कहते हैं । जो भूतकालीन है उसके अतीत हो जाने को अत्यय कहते हैं, अथवा जो हो वह न रहे । तथा शब्द की प्रकाशता को शब्दप्रादुर्भाव कहते हैं । यहां 'वचन' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध लगा लेना ॥

उदा०—विभक्ति—अधिस्त्रि (स्त्रियों के विषय में), अधिकुमारि । ममीप — उपकुम्भम् (घड़े के पास), उपकूपम् (कूप के पास) । समृद्धि—सुमगधम् (सगंध देशवालों की समृद्धि), सुभारतम् । व्यृद्धि—दुर्मगधम् (सगंध देशवालों के ऐश्वर्य का अभाव), दुर्गवदिकम् । अर्थाभाव—निर्मक्षिकम् (मक्खियों का अभाव), निर्मक्षकम् (मच्छरों का अभाव) । अत्यय—निर्हिमं वर्त्तते (शीतकाल व्यतीत हो गया), निःशीतम् । असंप्रति—अतिसूकम् वर्त्तते (तिसूक ओढ़ने का अब समय नहीं है) । शब्दप्रादुर्भाव—इतिपाणिनि (पाणिनि शब्द की प्रसिद्धि), तत्पाणिनि । पश्चात्—अनुरथं पादातम् (रथों के पीछे-पीछे पैदल सेना) । यथार्थ—यथा शब्द के चार अर्थ हैं—योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति, और सादृश्य । यहां क्रम से उदाहरण देते हैं—योग्यता—अनुरूपम् (रूप के योग्य होता है) । वीप्सा—प्रत्यर्थ शब्द-निवेशः (अर्थ-अर्थ के प्रति शब्द का व्यवहार होता है) । पदार्थानतिवृत्ति—यथाशक्ति (शक्ति का उल्लङ्घन न करके) । सादृश्य—यथाऽसादृश्ये (२।१।७) में सादृश्य अर्थ का प्रतिषेध किये जाने से यहां सादृश्य का उदाहरण नहीं दिया जा सकता ॥ आनु-पूर्व्यम्—अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः (जो-जो ज्येष्ठ हों, वैसे-वैसे क्रम से प्रवेश करते

१. तिसूका नाम का एक ग्राम है, उसमें होनेवाला (तत्र भवः ४।३।५३), अथवा वहां से आनेवाला (तत आगतः ४।३।७४) पदार्थ तैसूक कहा जायगा । तैसूक कोई ओढ़ने का गरम कपड़ा होगा, जिसके उपभोग का सम्प्रति प्रतिषेध है, ऐसा अनुमान है । यह कपड़ा तिसूका ग्राम में बनता होगा, यह भी सम्भव है ॥

जायें) । योगपद्य—सचक्रं धेहि (एक साथ चक्कर लगायें) । सादृश्य—ससखि (सखी के तुल्य) । सम्पत्ति—सब्रह्म बाभ्रवाणान् (बभ्रु कुलवालों का ब्राह्मणानुरूप आत्मभाव होना), सक्षत्रं शालङ्कायनानाम् (शालङ्कायनों का क्षत्रियानुरूप होना) । साकल्य—सतृणमभ्यवहरति (तिनके सजेत खा जाता है), सबुसम् । अन्तवचन—साग्नि अधीते (अग्निविद्या के समाप्तिपर्यन्त पढ़ता है), ससमासमष्टाध्यायीमधीते (समास की समाप्तिपर्यन्त अष्टाध्यायी पढ़ता है) ॥

अधिस्त्रि, उपाग्नि आदि की सिद्धि हम परि० १।१।४० में दिखा आये हैं । समास की सिद्धियां तो हम और भी बहुत बार दिखा चुके हैं । अव्ययीभाव समास की सिद्धि में ३-४ कार्यविशेष होते हैं । प्रथम—अव्ययीभावश्च (१।१।४०) से अव्यय संज्ञा होकर अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से समास के पश्चात् आई हुई विभक्ति का लुक् हो जाना । द्वितीय—अदन्त शब्द हो, तो अव्ययादाप्सुपः से लुक् न होकर नाव्ययीभावादतोऽस्त्वपञ्चम्याः (२।४।८३) से विभक्ति को अम् हो जायगा । जैसे 'उपकुम्भ सु' में सु को अम् होकर उपकुम्भम् बना है । तृतीय—अव्ययीभावश्च (२।४।१८) से अव्ययीभाव समास को नपुंसक लिङ्ग होकर, ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७) से ह्रस्व होता है । जैसे अधिकुमारि में कुमारी को ह्रस्व हो गया है ॥ पाठक देखें कि सम्पूर्ण सूत्र के उदाहरणों तथा अव्ययीभाव के सारे प्रकरण में यही विशेष कार्य हुए हैं । शेष समास की सिद्धि तो पूर्व दिखा ही चुके हैं । अधि उप सु इत्यादि अव्यय हैं । सिद्धि में एक बात और ध्यान देने की है कि जिस विभक्ति में विग्रह करें, उसी को रखकर समास करना चाहिये । यथा 'कुम्भस्य समीपम्' में षष्ठी से विग्रह है, सो 'कुम्भ इस् उप सु' रख के समास करेंगे ॥

विशेषः—विभाषा (२।१।११) अधिकार से पहले-पहले तक ये सब सूत्र नित्य समास करते हैं । "यस्य स्वपदविग्रहो नास्ति स नित्यसमासः", जिस समास का अपने पदों से विग्रहवाक्य प्रयुक्त न हो, केवल समस्त पद प्रयोग में आये, उसे नित्य समास कहते हैं । सो यहां नित्य समास होने से, इनका विग्रह नहीं होता । पुनरपि केवल अर्थप्रदर्शनार्थ इनका विग्रह किया गया है ॥

यहां से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति २।१।८ तक जायेगी ॥

अव्ययीभाव

यथाऽसादृश्ये ॥२।१।७॥

यथा अ० ॥ असादृश्ये ७।१॥ स०—असादृश्य इत्यत्र नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अव्ययम्, सुप्, समासः, सह सुपा, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—असादृश्येऽर्थे वर्तमानं यथा इत्येतदव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावसंज्ञकश्च समासो भवति ॥

उदा०—ये ये वृद्धाः—यथावृद्धम्, यथाध्यापकम् । ये ये चौराः—यथाचौरं बध्नाति, यथापण्डितं सत्करोति ॥

भाषार्थः—[असादृश्ये] असादृश्य अर्थ में वर्त्तमान [यथा] यथा अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास हो जाता है, और वह अव्ययीभाव समास कहा जाता है ॥

उदा०—यथावृद्धम् (जो-जो वृद्ध हैं), यथाध्यापकम् । यथाचौरं बध्नाति (जो-जो चोर हैं, उन-उनको बांधता है), यथापण्डितं सत्करोति (जो-जो पण्डित हैं, उन-उन का सत्कार करता है) ॥

यावदवधारणे ॥२॥१॥८॥

यावत् अ० ॥ अवधारणे ७।१॥ अनु०—अव्ययम्, सुप्, समासः, सह सुपा, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अवधारणेऽर्थे वर्त्तमानं यावद् इत्येतदव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—यावन्ति अमत्राणि—यावदमत्र ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व । यावन्ति कार्षापणानि—यावत्कार्षापणम् फलं क्रीणाति ॥

भाषार्थः—[यावत्] यावत् अव्यय [अवधारणे] अवधारण अर्थात् परिमाण का निश्चय करने अर्थ में वर्त्तमान हो, तो उसका समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है, और वह अव्ययीभावसंज्ञक होता है ॥

उदा०—यावदमत्र ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व (जितने पात्र हैं, उतने ब्राह्मणों को बुलाओ) । यावत्कार्षापणं फलं क्रीणाति (जितने कार्षापण हैं, उतने फल खरीदता है) ॥

सुप् प्रतिना मात्रार्थे ॥२॥१॥९॥

सुप् १।१॥ प्रतिना ३।१॥ मात्रार्थे ७।१॥ स०—मात्रायाः अर्थः मात्रार्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—समासः, सह सुपा, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—मात्रार्थे—स्वल्पार्थे वर्त्तमानेन प्रतिना सह समर्थ सुबन्तं समस्यते अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ अस्त्यत्र किञ्चित् शाकम्—शाकप्रति, सुपप्रति ॥ अर्थप्रदर्शनार्थ-मत्र विग्रहः प्रदर्श्यते ॥

भाषार्थः—[मात्रार्थे] मात्रा अर्थात् स्वल्प अर्थ में वर्त्तमान [प्रतिना] प्रति शब्द के साथ समर्थ [सुप्] सुबन्त का समास हो जाता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥ उदा०—शाकप्रति (थोड़ा शाक), सुपप्रति (थोड़ी दाल) ॥

१. यहां २।१।२ सूत्र से सुप् की अनुवृत्ति आ रही है । पुनः जो 'सुप्' इस सूत्र में कहा, वह 'अव्यय' की निवृत्ति के लिए है । अतः यहां 'सुप्' के आते हुए भी सुप् का सम्बन्ध नहीं दिखाया ॥

अव्ययीभाव

अक्षशलाकासंख्याः परिणा ॥२।१।१०॥

अक्षशलाकासंख्याः १।३॥ परिणा ३।१॥ स०—अक्षश्च शलाका च संख्या च अक्षशलाकासंख्याः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अक्षशब्दः शलाका शब्दः संख्याशब्दाश्च परिशब्देन सह समस्यन्ते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ द्यूतक्रीडायाम् अयं समास इष्यते । पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति । तत्र यदा सर्वे उत्ताना अवाञ्चो वा पतन्ति, तदा पातयिता जयति, अन्यथा पाते तु पराजयो जायते ॥ उदा०—अक्षेणेदं न नगा न यथा जये=अक्षपरि । शलाकापरि । एकपरि, द्विपरि ॥

भाषार्थः—[अक्षशलाकासंख्याः] अक्ष शलाका तथा संख्यावाची जो शब्द हैं, वे [परिणा] परि सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास अव्ययी-भावसंज्ञक होता है ॥ यह समास द्यूतक्रीडा सम्बन्धी है । पञ्चिका नामक द्यूत में पाँचों अक्षों या शलाकाओं के सीधे या उलटे गिरने पर फँकनेवाले की जय होती है । एक, दो, तीन या चार अक्षों या शलाकाओं के विपरीत पड़ने पर पराजय मानी जाती है ॥

उदा०—अक्षपरि (जब एक पासा उल्टा गिरा हो अर्थात् हारा हो, उसे अक्ष-परि कहते हैं) । शलाकापरि (इसमें भी शलाका उलटी पड़ गई) । एकपरि (एक की कमी से हार गया), द्विपरि (दो की कमी से हार गया) ॥ समास करने से अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् करना ही प्रयोजन है ॥

अव्ययीभाव विभाषाऽपपरिवहिरञ्चवः पञ्चम्या ॥२।१।११॥

विभाषा १।१॥ अपपरिवहिरञ्चवः १।३॥ पञ्चम्या ३।१॥ स०—अपश्च परिवहश्च अञ्चश्च अपपरिवहिरञ्चवः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अप परि बहिस् अञ्चु इत्येते सुबन्ताः पञ्चम्यन्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः, अप त्रिगर्तंभ्यो वृष्टो देवः । परित्रिगर्तं, परि त्रिगर्तंभ्यो वा । बहिर्ग्रामम्, बहिर्ग्रामात् । प्राग्ग्रामम्, प्राग्ग्रामात् ॥

भाषार्थः—[अपपरिवहिरञ्चवः] अप परि बहिस् अञ्चु ये सुबन्त [पञ्चम्या] पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ [विभाषा] विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥

उदा०—अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः (त्रिगर्त देश=कांगड़ा को छोड़कर वर्षा हुई), अप त्रिगर्तंभ्यो वृष्टो देवः । परित्रिगर्तं, परि त्रिगर्तंभ्यो वा (त्रिगर्त को छोड़

कर वर्षा हुई) । बहिर्ग्रामम्, बहिर्ग्रामात् (ग्राम से बाहर) । प्राग्ग्रामम्, प्राग्ग्रामात् (ग्राम से पूर्व) ॥

असमास पक्ष में अपपरी वर्जने (११४।८७) से कमप्रवचनीय संज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२।३।१०) से होती है । समास पक्ष में सु आकर नाव्ययी० (२।४।८३) से पूर्ववत् सु को अम् हो गया है ॥

यहाँ से 'विभाषा' का अधिकार २।२।२६ तक जाता है । इसे 'महाविभाषा' कहते हैं । 'पञ्चम्या' की अनुवृत्ति भी २।१।१२ तक जाती है ॥

आङ् मर्यादाभिविध्योः ॥२।१।१२॥

अव्ययीभाव

आङ् अ० ॥ मर्यादाभिविध्योः ७।२॥ स०—मर्यादा च अभिविधिश्च मर्यादा-भिविधी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा, पञ्चम्या, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—मर्यादाभिविध्योः वर्तमानं आङ् इत्येष शब्दः समर्थेन पञ्चम्यन्तेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः, आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः । अभिविधौ—आकुमारं यशः पाणिनेः, आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः ॥

भाषार्थः—[मर्यादाभिविध्योः] मर्यादा और अभिविधि अर्थ में वर्तमान [आङ्] आङ् शब्द समर्थ पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह समास अव्ययीभावसंज्ञक होता है ॥ उदाहरण में पूर्व सूत्र के समान पञ्चमी विभक्ति हुई है, तथा आङ्मर्यादावचने (१।४।८८) से आङ् की कमप्रवचनीय संज्ञा हुई है । मर्यादा एवं अभिविधि के विषय में आङ् मर्यादा० (१।४।८८) सूत्र देखें ॥

लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये ॥२।१।१३॥

अव्ययीभाव

लक्षणेन ३।१॥ अभिप्रती १।२॥ आभिमुख्ये ७।१॥ अनु०—विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अभिप्रती इत्येतौ शब्दौ आभिमुख्ये वर्तमानौ लक्षणवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति, अग्निम् अभि । प्रत्यग्नि, अग्निम् प्रति । अग्नि लक्ष्यीकृत्य शलभाः पतन्ति इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[लक्षणेन] लक्षणवाची सुबन्त के साथ [आभिमुख्ये] आभिमुख्य अर्थ में वर्तमान [अभिप्रती] अभि प्रति शब्दों का विकल्प से समास हो जाता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥

उदा०—अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति (अग्नि को लक्ष्य करके पतङ्गे गिरते हैं),

अग्निम् अभि । प्रत्यग्नि (अग्नि की ओर), अग्निम् प्रति ॥ प्रत्यग्नि की सिद्धि परि० १।१।४० में कर चुके हैं ॥

यहाँ से 'लक्षणेन' की अनुवृत्ति २।१।१५ तक जाती है ॥

अव्ययीभाव

अनुर्यत्समया ॥२।१।१४॥

अनुः १।१॥ यत्समया अ० ॥ स०—यस्य समया, यत्समया, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—लक्षणेन, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अनुः यस्य समीपवाची तेन लक्षणभूतेन समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययी-भावश्च समासो भवति ॥ उदा०—अनुवनम् अशनिर्गतः, अनुपर्वतम् । वनस्य अनु, पर्वतस्य अनु ॥

भाषार्थः—[यत्समया] जिसका समीपवाची [अनुः] अनु सुबन्त हो, उस लक्षणवाची सुबन्त के साथ अनुशब्द विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥

उदा०—अनुवनम् अशनिर्गतः (वन के समीप बिजली चमकी), अनुपर्वतम् । वनस्य अनु, पर्वतस्य अनु ॥ समास होने से अव्ययीभावश्च (२।४।१८) से नपुंसक लिङ्ग हो गया है ॥

यहाँ से 'अनुः' की अनुवृत्ति २।१।१५ तक जाती है ॥

अव्ययीभाव

यस्य चायामः ॥२।१।१५॥

यस्य ६।१॥ च अ० ॥ आयामः १।१॥ अनु०—अनुः, लक्षणेन, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः, अव्ययीभावः ॥ अर्थः—अनुर्यस्यायामः=दीर्घतावाची तेन लक्षण-वाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—अनुगङ्गा वाराणसी, गङ्गाया अनु । अनुयमुनं मथुरा, यमुनाया अनु ॥

भाषार्थः—अनु शब्द [यस्य] जिसका [आयामः] दीर्घतावाची हो, ऐसे लक्षणवाची समर्थ सुबन्त के साथ [च] भी अनु शब्द विकल्प करके समास को प्राप्त हो, और वह अव्ययीभाव समास हो ॥

उदा०—अनुगङ्गा वाराणसी, गङ्गाया अनु । अनुयमुनं मथुरा, यमुनाया अनु (गङ्गा की लम्बाई के साथ-साथ वाराणसी बसी हुई है । तथा यमुना की लम्बाई के साथ साथ मथुरा बसी हुई है) ॥ पूर्ववत् ही समास होने से ह्रस्व यहाँ भी जानें ॥

अव्ययीभाव

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च ॥२।१।१६॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि १।३॥ च अ० ॥ स०—तिष्ठद्गु प्रभृति येषां तानि तिष्ठद्गुप्रभृतीनि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अव्ययीभावः समासः ॥ अर्थः—तिष्ठद्गु

इत्येवमादीनि समुदायरूपाणि अव्ययीभावसंज्ञाकानि निपात्यन्ते ॥ उदा०—तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहनाय स=तिष्ठद्गु कालः । वहन्ति गावो यस्मिन् काले स=वहद्गु कालः ॥

भाषार्थः—[तिष्ठद्गुप्रभृतीनि] तिष्ठद्गु इत्यादि समुदायरूप शब्दों की [च] भी अव्ययीभाव संज्ञा निपातन से होती है ॥ गण में ये शब्द जैसे पढ़े हैं, वैसे ही साधु समझने चाहिएं । विग्रह अर्थप्रदर्शन के लिए है ॥

उदा०—तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहनाय स=तिष्ठद्गु कालः (जिस समय गौएं दोहन के लिए अपने स्थान पर ठहरती हैं) । वहन्ति गावो यस्मिन् काले स=वहद्गु कालः ॥ अव्ययीभाव संज्ञा होने से पूर्ववत् सु का लुक् होता है । तिष्ठद्गु आदि में गोस्त्रियोरूप (१।२।४८), तथा एच इग्रस्वादेशे (१।१।४७) से 'गो' को ह्रस्व भी हो जायेगा ॥

पारे मध्ये षष्ठ्या वा ॥२।१।१७॥

अव्ययीभाव

पारे मध्ये उभयत्र लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ षष्ठ्या ३।१॥ वा अ० ॥ अनु०—अव्ययीभावः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पारमध्यशब्दो षष्ठ्यन्तेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्येते, अव्ययीभावश्च समासो भवति, तत्सन्नियोगेन चैतयोरेकारान्तत्वं निपात्यते ॥ षष्ठीसमासापवादसूत्रमिदम् । वा वचनात् सोऽपि भवति । महाविभाषया तु विग्रहवाक्यविकल्पो भवति । तेन त्रीणि रूपाणि सिद्धयन्ति ॥ उदा०—पारेगङ्गम्, पारं गङ्गायाः । षष्ठीसमासपक्षे—गङ्गापारम् ॥ मध्येगङ्गम्, मध्यं गङ्गायाः । षष्ठीसमासपक्षे—गङ्गामध्यम् ॥

भाषार्थः—[पारे मध्ये] पार मध्य शब्दों का [षष्ठ्या] षष्ठ्यन्त सुबन्त के साथ [वा] विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है, तथा अव्ययीभाव समास के साथ-साथ इन शब्दों को एकारान्तत्व भी निपातन से हो जाता है ॥ प्रकृत महाविभाषा से विग्रह वाक्य का विकल्प होता है, तथा सूत्र में कहे 'वा' से षष्ठी तत्पुरुष समास भी पक्ष में पक्ष होता है, क्योंकि यह सूत्र षष्ठीसमास का अपवाद है ॥ षष्ठीसमास पक्ष में गङ्गा की (१।२।४३ से) उपसर्जन संज्ञा हुई है, सो उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से गङ्गा का पूर्वनिपात हुआ है । नपुंसकलिङ्ग होने से सु को अतोऽम् (७।१।२४) से अम् आदेश हुआ है । अव्ययीभाव समास पक्ष में तो पूर्ववत् गङ्गा को ह्रस्वत्व, तथा अम् हो जायेगा, कोई विशेष नहीं है ॥

उदा०—पारेगङ्गम् (गङ्गा के पार), पारं गङ्गायाः । षष्ठीसमास-पक्ष में

—गङ्गापारम् । मध्येगङ्गम् (गङ्गा के बीच में), मध्यं गङ्गायाः । षष्ठीसमास-
पक्ष में—गङ्गामध्यम् ॥

अव्ययीभाव

सङ्ख्या वंश्येन ॥२।१।१८॥

सङ्ख्या १।१॥ वंश्येन ३।१॥ अनु०—विभाषा, अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ वंशे भवः वंश्यः, दिगाविभ्यो यत् (४।३।५४) इति यत्प्रत्ययः ॥ अर्थः—संख्यावाचिसुबन्तं वंश्यवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ, द्विमुनि व्याकरणस्य । त्रिमुनि व्याकरणस्य ॥

भाषार्थः—[संख्या] संख्यावाची सुबन्त [वंश्येन] वंश्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥

उदा०—द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ, द्विमुनि व्याकरणस्य (व्याकरण के दो मुनि=पाणिनि तथा कात्यायन) । त्रिमुनि व्याकरणस्य (व्याकरण के तीन मुनि=पाणिनि पतञ्जलि और कात्यायन) ॥

‘वंश’ विद्या अथवा जन्म से प्राणियों के एकरूपता होने को कहते हैं । सो उदाहरण में दोनों मुनियों की विद्या से समानता होने से एक ही वंश है । विभक्ति-लुक् ही समास का प्रयोजन है ॥

यहाँ से ‘संख्या’ की अनुवृत्ति २।१।१६ तक जाती है ॥

अव्ययीभाव

नदीभिश्च ॥२।१।१९॥

नदीभिः ३।१॥ च अ० ॥ अनु०—संख्या, विभाषा, अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—संख्यावाचिसुबन्तं नदीवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—सप्तानां गङ्गानां समाहारः=सप्तगङ्गम् । द्वयोः यमुनयोः समाहारः=द्वियमुनम् । पञ्चनदम् । सप्तगोदावरम् ॥

भाषार्थः—संख्यावाची सुबन्त [नदीभिः] नदीवाची समर्थ सुबन्तों के साथ [च] भी विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास अव्ययीभावसंज्ञक होता है ॥

उदा०—सप्तानां गङ्गानां समाहारः=सप्तगङ्गम् (गङ्गा की सात धारार्यें जैसा कि हरिद्वार में हैं) । द्वयोः यमुनयोः समाहारः=द्वियमुनम् (यमुना की दो शाखायें) । पञ्चनदम् (पांच नदियों का जहाँ संगम हो) । सप्तगोदावरम् (गोदावरी नदी की सात धारार्यें) ॥ पञ्चनदम् तथा सप्तगोदावरम् में गोदावर्याश्च नद्याश्च०

(का० ५।४।७५) से समासान्त अच् प्रत्यय होकर, यस्येति च (६।४।१४८) से ईकार का लोप हो जाता है ॥

यहाँ से 'नदीभिः' की अनुवृत्ति २।१।२० तक जायेगी ॥

अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् ॥२।१।२०॥ *अव्ययीभाव*

अन्यपदार्थे ७।१॥ च अ० ॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स०—अन्यच्चादः पदं चेति अन्य-पदम्, कर्मधारयः । अन्यपदस्यार्थः अन्यपदार्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—नदीभिः, अव्ययीभावः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अन्यपदार्थे गम्यमाने संज्ञायां विषये सुबन्तं नदीवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, अव्ययीभावश्च समासो भवति ॥ उदा०—उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् ॥

भाषार्थः—[अन्यपदार्थे] अन्यपदार्थ गम्यमान होने पर [च] भी [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में सुबन्त का नदीवाची समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है, और वह अव्ययीभाव समास होता है ॥

यहाँ 'विभाषा' के आने पर भी नित्यसमास ही होता है । क्योंकि विग्रहवाक्य से संज्ञा की प्रतीति ही नहीं हो सकती । अतः हम अनुवृत्ति में विभाषा पद नहीं लाये हैं ॥

उदा०—उन्मत्तगङ्गम् (जिस देश में गङ्गा उन्मत्त होकर बहती है, वह देश) । लोहितगङ्गम् ॥

तत्पुरुषः ॥२।१।२१॥

तत्पुरुष

तत्पुरुषः १।१॥ अनु०—सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अधिकारोऽयम् । इतोऽग्रे यः समासः स तत्पुरुषसंज्ञको भवतीति वेदितव्यम्, २।२।२३ इति यावत् ॥ उदाहरणानि अग्रे वक्ष्यन्ते ॥

भाषार्थः—यह अधिकार और संज्ञासूत्र है । यहाँ से आगे जो समास कहेंगे, उसकी [तत्पुरुषः] तत्पुरुष संज्ञा जाननी चाहिए ॥

विशेषः—तत्पुरुष समास प्रायः उत्तरपदार्थ-प्रधान होता है । यथा—राजपुरुषः में षष्ठीतत्पुरुष है । सो यहाँ पर 'पुरुष' की प्रधानता है, क्योंकि राजपुरुषम् आनय कहने पर लोग पुरुष को लाते हैं, राजा को नहीं लाते । इससे पता लगता है कि यहाँ उत्तरपद 'पुरुष' की ही प्रधानता है ॥

द्विगुश्च ॥२।१।२२॥

द्विगु

द्विगुः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—तत्पुरुषः ॥ अर्थः—द्विगुसमासस्तत्पुरुषसंज्ञको

भवति ॥ संज्ञासूत्रमिदम् ॥ उदा०—पञ्चराजम्, दशराजम् । द्व्यहः, त्र्यहः । पञ्च-
गवम्, दशगवम् ॥

भाषार्थः—[द्विगुः] द्विगु समास की [च] भी तत्पुरुष संज्ञा होती है ॥
संख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से द्विगु-संज्ञा का विधान किया है । इस सूत्र से तत्पुरुष
संज्ञा भी हो जाती है ॥ *श्रित अतीत पतित गत अत्यस्त प्राप्त आपन्न*

द्वितीया तत्पुरुष द्वितीया श्रितातीतपतितगतत्यस्तप्राप्तापन्नैः ॥२।१।२३॥

द्वितीया १।१॥ श्रितातीतपतितगतत्यस्तप्राप्तापन्नैः ३।३॥ स०—श्रितातीत०
इत्यत्रेतररेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—
द्वितीयान्तं सुबन्तं श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न इत्येतैः समर्थैः
सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कष्टं श्रितः,
कष्टश्रितः । अरण्यम् अतीतः, अरण्यातीतः । कूपं पतितः, कूपपतितः । नगरं गतः,
नगरगतः । तरङ्गान् अत्यस्तः, तरङ्गात्यस्तः । आनन्दं प्राप्तः, आनन्दप्राप्तः । सुखम्
आपन्नः, सुखापन्नः ॥

भाषार्थः—[द्वितीया] द्वितीयान्त सुबन्त [श्रितातीतपतितगतत्यस्तप्राप्तापन्नैः]
श्रित इत्यादि समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह
समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥

उदा०—कष्टं श्रितः, कष्टश्रितः (कष्ट को प्राप्त हुआ) । अरण्यम् अतीतः,
अरण्यातीतः (जङ्गल को उलङ्घन कर गया) । कूपं पतितः, कूपपतितः (कूँए में
गिरा हुआ) । नगरं गतः, नगरगतः (नगर को गया हुआ) । तरङ्गान् अत्यस्तः,
तरङ्गात्यस्तः (लहरों में फँका हुआ) । आनन्दं प्राप्तः, आनन्दप्राप्तः (आनन्द को
प्राप्त हुआ) । सुखम् आपन्नः, सुखापन्नः (सुख को प्राप्त हुआ) ॥

यहाँ से 'द्वितीया' की अनुवृत्ति २।१।२८ तक जाती है ॥

स्वयं क्तेन ॥२।१।२४॥

तत्पुरुष

स्वयम् अ० ॥ क्तेन ३।१॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा,
समासः ॥ अर्थः—स्वयमित्येतद् अव्ययम् क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन सम-
स्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—स्वयं घाती पादौ, स्वयंघाती । स्वयं
भुक्तम्, स्वयंभुक्तम् ॥

भाषार्थः—[स्वयम्] स्वयं इस अव्यय शब्द का [क्तेन] क्तान्त समर्थ
सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ स्वयं
शब्द अव्यय है, अतः यहाँ 'द्वितीया' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं बिठाया है । क्योंकि
अव्यय द्वितीयान्त हो ही नहीं सकता ॥

उदा०—स्वयंघोतो पादो (स्वयं घोये हुये दो पैर) । स्वयंभुक्तम् (स्वयं खाया हुआ) ॥

यहाँ से 'क्तेन' की अनुवृत्ति २।१।२७ तक जायेगी ॥

खट्वा क्षेपे ॥२।१।२५॥

तत्पुरुष

खट्वा १।१॥ क्षेपे ७।१॥ अनु०—क्तेन, द्वितीया, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—द्वितीयान्तः खट्वाशब्दः क्षेपे गम्यमाने क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—खट्वारूढोऽयं दुष्टः । खट्वाप्लुतः ॥

भाषार्थः—[क्षेपे] निन्दा गम्यमान हो, तो [खट्वा] द्वितीयान्त खट्वा शब्द क्तान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—खट्वारूढोऽयं दुष्टः (बिना गुरुजनों की आज्ञा के ही यह दुष्ट गृहस्थ में चला गया) । खट्वाप्लुतः (कुमार्गगामी हो गया) ॥ विद्या पढ़कर गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये । जो ऐसा नहीं करता वह निन्दा का पात्र है । उसी को यहाँ 'खट्वारूढः' कहा है, सो यहाँ क्षेप गम्यमान है ॥ यहाँ विग्रह-वाक्य से क्षेप की प्रतीति नहीं होती, अतः यहाँ विभाषा का सम्बन्ध अधिकार आते हुये भी नहीं बैठता । अतः यह भी नित्य समास है ॥

सामि ॥२।१।२६॥

तत्पुरुष

सामि अ० ॥ अनु०—क्तेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सामि इत्येतदव्ययम् क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—सामिकृतम् । सामिपीतम् । सामिभुक्तम् ॥

भाषार्थः—[सामि] सामि इस अव्यय शब्द का क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ यहाँ भी सामि शब्द के अव्यय होने से 'द्वितीया' पद का सम्बन्ध नहीं बैठा है ॥ उदा०—सामिकृतम् (आधा किया हुआ) । सामिपीतम् । सामिभुक्तम् ॥

कालाः ॥२।१।२७॥

तत्पुरुष

कालाः १।३॥ अनु०—क्तेन, द्वितीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कालवाचिनो द्वितीयान्ताः शब्दाः क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ अनत्यन्तसंयोगार्थमिदं वचनम्, अत्यन्त-संयोगे ह्युत्तरसूत्रेण क्रियते ॥ उदा०—अहरतिसृता मुहूर्त्ताः । अहस्सङ्क्रान्ताः । रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः । रात्रिसङ्क्रान्ताः । मासप्रमितश्चन्द्रमाः, मासं प्रमातुमारब्धः प्रतिपच्चन्द्रमा इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[कालाः] कालवाची द्वितीयान्त शब्द का वतान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास हो जाता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ अनत्यन्त-संयोग में समास हो जाये, इसलिये यह सूत्र है । अत्यन्तसंयोग में तो अगले सूत्र से समास प्राप्त ही था । उदाहरणों में अनत्यन्तसंयोग कैसे है, यह परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से 'कालाः' की अनुवृत्ति २।१।२८ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष

अत्यन्तसंयोगे च ॥२।१।२८॥

अत्यन्तसंयोगे ७।१॥ च अ० ॥ स०—अत्यन्तः संयोगः अत्यन्तसंयोगः, तस्मिन्, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—कालाः, द्वितीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अत्यन्तसंयोगः=कृत्स्नसंयोगः, तस्मिन् गम्यमाने कालवाचिनो द्वितीयान्ताः शब्दाः समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—मुहूर्त्तं सुखम्=मुहूर्त्तसुखम् । सर्वरात्रकल्याणी । सर्वरात्रशोभना ॥

भाषार्थः—[अत्यन्तसंयोगे] अत्यन्त संयोग गम्यमान होने पर [च] भी कालवाची द्वितीयान्त शब्दों का समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है । अत्यन्त संयोग से अभिप्राय लगातार संयोग से है ।

उदा०—मुहूर्त्तं सुखम्=मुहूर्त्तसुखम् (मुहूर्त्तभर सुख) । सर्वरात्रं कल्याणी =सर्वरात्रकल्याणी (कल्याणप्रद सारी रात) । सर्वरात्रशोभना (सुन्दर सारी रात) । सर्वरात्रि शब्द से यहाँ अहः सर्वकदेशसं० (५।४।८७) से समासान्त अच् प्रत्यय होकर 'सर्वरात्र' बना है ॥

तृतीया

तत्पुरुष

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ॥२।१।२९॥

तृतीया १।१॥ तत्कृत लुप्ततृतीयान्तनिर्देशः ॥ अर्थेन ३।१॥ गुणवचनेन ३।१॥ स०—तेन कृतम् तत्कृतम्, तृतीयातत्पुरुषः । गुणमुक्तवान् गुणवचनः, तेन, (उपपद) तत्पुरुषः ॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—तृतीयान्तं सुबन्तं तत्कृतेन=तृतीयान्तार्थकृतेन गुणवचनेन, अर्थशब्देन च सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—शङ्कुलया खण्डः=शङ्कुलाखण्डः । किरिणा काणः=किरिकाणः । अर्थशब्देन—घान्येन अर्थः=घान्यार्थः ॥

भाषार्थः—[तृतीया] तृतीयान्त सुबन्त [तत्कृतार्थेन गुणवचनेन] तत्कृत=तृतीयान्तार्थकृत गुणवाची शब्द के साथ, तथा अर्थ शब्द के साथ समास को प्राप्त होता है और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

विशेषः—जिसने पहले गुण को कहा था, किन्तु अब तद्वान् द्रव्य को ही कहता है, उसे 'गुणवचन' कहते हैं । जैसे कि उदाहरण में खण्ड तथा काणशब्द क्रमशः खण्डन

(तोड़ना) तथा निमीलन (बन्द करना) गुण को पहले कहते थे, किन्तु अब 'खण्ड-गुण' अर्थात् खण्ड है गुण जिसका, तथा 'काणगुण' काण है गुण जिसका, उस द्रव्य को कहते हैं। सो खण्ड और काण गुणवचन शब्द हैं। यहाँ खण्डगुणोऽस्यास्तीति, काण-गुणोऽस्यास्तीति इस अर्थ में खण्ड तथा काण शब्द से मतुप् प्रत्यय (५।२।६४ से) आया था, पर उसका गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक् (५।२।६४ वा०) इस वार्तिक से लुक् हो जाता है ॥ तत्कृतार्थेन, यहाँ महाभाष्यकार ने योगविभाग किया है, अर्थात् 'तत्कृतेन' को गुणवचनेन का विशेषण माना है, एवं 'अर्थेन' इसको अलग माना है। सो अर्थ हुआ—“अर्थ शब्द के साथ भी समास होता है”, जिसका उदाहरण है—‘धान्यार्थः’। तत्कृत का अर्थ हुआ—तृतीयान्तार्थकृत। जंसे कि उदाहरण में शङ्कुलया (सरोते से), किरिणा (बाण से) तृतीयान्त हैं, सो तत्कृत ही खण्डत्व (टुकड़ा) एवं काणत्व (काना) है, अतः यहाँ समास हो गया है ॥ उदा०—शङ्कुलाखण्डः (सरोते के द्वारा किया हुआ खण्ड=टुकड़ा)। किरिकाणः (बाण के द्वारा काना किया)। धान्यार्थः (धान्य से प्रयोजन) ॥

तृतीया यहाँ से 'तृतीया' की अनुवृत्ति २।१।३४ तक जायगी ॥ पूर्वसदृशसमोनाथकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णः ॥ २।१।३० ॥ कल्प निपुण मिश्र श्लक्ष्णौ

पूर्वसदृश...श्लक्ष्णः ३।३॥ स०—पूर्वसदृश० इत्यत्रेतरैतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—तृतीयान्तं सुबन्तं पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण, मिश्र, श्लक्ष्ण इत्येतैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—मासेन पूर्वः=मासपूर्वः, संवत्सरपूर्वः। मात्रा सदृशः=मातृसदृशः, भ्रातृसदृशः। मात्रा समः=मातृसमः। ऊनार्थ—कार्षापणेन ऊनं रूप्यं=कार्षापणोनम् रूप्यम्, कार्षापणन्यूनम्। वाचा कलहः=वाक्कलहः, असिकलहः। वाचा निपुणः=वाङ्निपुणः, विद्यानिपुणः। गुडेन मिश्रः=गुडमिश्रः, तिलमिश्रः। आचारेण श्लक्ष्णः=आचारश्लक्ष्णः ॥

भाषार्थः—तृतीयान्त सुबन्त का [पूर्वसदृशसमोनाथकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णः] पूर्वादि सुबन्तों के साथ विकल्प से समास हो जाता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—मासपूर्वः (एक मास पूर्व का), संवत्सरपूर्वः। मातृसदृशः (माता के तुल्य), भ्रातृसदृशः। मातृसमः (माता के समान), भ्रातृसमः। ऊनार्थ में—कार्षापणोनं रूप्यम् (कार्षापण से कम रुपया), कार्षापणन्यूनम्। वाक्कलहः (वाणी के द्वारा झगड़ा), असिकलहः (तलवार से लड़ाई)। वाङ्निपुणः (वाणी में निपुण), विद्यानिपुणः। गुडमिश्रः (गुड़ मिलाया हुआ), तिलमिश्रः। आचारश्लक्ष्णः (आचार से अच्छा) ॥

तृतीया तत्पुरुष

कर्तृकरणे कृता बहुलम् ॥२॥१॥३॥

कर्तृकरणे ७।१॥ कृता ३।१॥ बहुलम् १।१॥ स०—कर्त्ता च करणं च कर्तृ-
करणम्, तस्मिन्, समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—तृतीया, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥
अर्थः—कर्तरि करणे च या तृतीया तदन्तं सुबन्तं समर्थेन कृदन्तेन सुबन्तेन सह बहुलं
समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—अहिना हतः=अहिहतः, वृकहतः ।
करणे—दात्रेण लूनं=दात्रलूनम्, परशुना छिन्नः=परशुछिन्नः, नखैर्निभिन्नः=
नखनिभिन्नः ॥

भाषार्थः—[कर्तृकरणे] कर्तृवाची और करणवाची जो तृतीयान्त सुबन्त, वे
समर्थ [कृता] कृदन्त सुबन्त के साथ [बहुलम्] बहुल करके समास को प्राप्त होते
हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—अहिना हतः, में हननक्रिया का कर्त्ता अहि है। उस अहि कर्त्ता में तृतीया
कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से हुई है, अतः यह कर्तृवाची ही है ॥ दात्रेण
लूनः, में लवन क्रिया का करण कारक दात्र है। सो यहाँ पूर्वोक्त सूत्र से करण कारक
में तृतीया है, अतः यह करणवाची है ॥ हतः इत्यादि षत-प्रत्ययान्त हैं, 'षत' की
कृदतिङ् (३।१।६३) से कृत् संज्ञा हो गई ॥

अहिना हतः=अहिहतः (सांप के द्वारा मारा हुआ), वृकहतः । करणे—
दात्रेण लूनं=दात्रलूनम् (दरांती से काटा हुआ), परशुना छिन्नः=परशुछिन्नः
(कुल्हाड़ी से काटा हुआ), नखैर्निभिन्नः=नखनिभिन्नः (नाखूनों के द्वारा तोड़
कर निकाला हुआ) ॥

विशेष—बहून् अर्थान् लातीति बहुलम्, जो बहुत अर्थों को प्राप्त करावे, उसे
'बहुल' कहते हैं। जो कि चार प्रकार का होता है। जिसका लक्षण निम्न प्रकार है—

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव ।

विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

अर्थात् कहीं पर विधि न प्राप्त होते हुये भी कार्य होना, कहीं विधि प्राप्त होने पर
भी कार्य न होना, कहीं विकल्प से होना, तथा कहीं और ही हो जाना, यह चार प्रकार
का 'बहुल' देखने में आता है। सो जहाँ-जहाँ बहुल हो, वहाँ ऐसे ही कार्य जानना ॥

यहाँ से 'कर्तृकरणे' की अनुवृत्ति २।१।३२ तक जायेगी ॥

तृतीया तत्पुरुष

कृत्यैरधिकार्थवचने ॥२॥१॥३॥

कृत्यैः ३।३॥ अधिकार्थवचने ७।१॥ स०—अधिकः (अध्यारोपितः) अर्थः

अधिकार्यः, तस्य वचनम् अधिकार्यवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्तृकरणे, तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कर्तृवाचि करणवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं समर्थः कृत्यसंज्ञकप्रत्ययान्तैः सुबन्तैः सह अधिकार्यवचने गम्यमाने विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कार्कः पेया=काकपेया नदी; शुना लेह्यः=श्वलेह्यः कूपः । करणे—वाष्पेण छेद्यानि=वाष्पछेद्यानि तृणानि; कण्टकेन सञ्चेयः=कण्टकसञ्चेय ओदनः ॥

भाषार्थः—कर्त्तावाची तथा करणवाची जो तृतीयान्त सुबन्त, वह समर्थ [कृत्यः] कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्तों के साथ विकल्प से [अधिकार्यवचने] अधिकार्यवचन गम्यमान होने पर समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

किसी की स्तुति या निन्दा में कुछ बढ़कर अधिक बात बोल देना 'अधिकार्यवचन' होता है । पेया लेह्यः इत्यादि में यत् और ण्यत् प्रत्यय हुए हैं, सो कृत्याः (३।१।६५) से कृत्यसंज्ञक हैं ॥

उदा०—कार्कः पेया=काकपेया नदी (इतने थोड़े जलवाली नदी, जिसे कोए भी पी डालें), शुना लेह्यः=श्वलेह्यः कूपः (कुत्ते के चाट जाने योग्य कूआ, अर्थात् समीप जलवाला) । करण में—वाष्पेण छेद्यानि=वाष्पछेद्यानि तृणानि (भाप से भी टूट जानेवाले कोमल तिनके); कण्टकेन सञ्चेयः=कण्टकसञ्चेय ओदनः (इतने थोड़े चावल, जो कांटे से भी इकट्ठे हो जायें) ॥

ऊपर के दो उदाहरणों में कर्त्ता में तृतीया है, और निन्दा में अधिकार्यवचनता है । तथा पिछले दो उदाहरणों में करण में तृतीया है, और प्रशंसा में अधिकार्यवचनता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

अग्नेन व्यञ्जनम् ॥२।१।३३॥

तृतीया तत्पुरुष

अग्नेन ३।१॥ व्यञ्जनम् १।१॥ अनु०—तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—व्यञ्जनवाचि तृतीयान्तं सुबन्तं अन्नवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—दध्ना उपसिक्त ओदनः=दध्योदनः; क्षीरोदनः ॥

भाषार्थः—[व्यञ्जनम्] व्यञ्जनवाची तृतीयान्त सुबन्त [अग्नेन] अन्नवाची

१. वस्तुतः इतने थोड़े जलवाली नदी हो ही नहीं सकती, जिसे कोए ही पी जायें । यहाँ ऐसा कहना ही अधिकार्यवचनता है । इसी प्रकार और उदाहरणों में भी समर्थ ।

समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—दध्ना उपसिक्त ओदनः=दध्योदनः (वही मिला हुआ चावल); क्षीरोदनः ॥ दध्योदनः में यणादेश, तथा क्षीरोदनः में वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश हुआ है ॥

तृतीया तत्पुरुष भक्ष्येण मिश्रीकरणम् ॥२।१।३४॥

भक्ष्येण ३।१॥ मिश्रीकरणम् १।१॥ अनु०—तृतीया, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—मिश्रीकरणवाची तृतीयान्तं सुबन्तं भक्ष्यवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—गुडेन मिश्रा घानाः=गुडघानाः; गुडपृथुकाः ॥

भाषार्थः—[मिश्रीकरणम्] मिश्रीकरणवाची तृतीयान्त सुबन्त [भक्ष्येण] भक्ष्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—गुडेन मिश्रा घानाः=गुडघानाः (गुड़ मिले हुए घान=गुडघानी); गुडपृथुकाः (गुड से मिला हुआ च्यूड़ा=भक्ष्यविशेष) ॥

चतुर्थी तत्पुरुष चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ॥२।१।३५॥

चतुर्थी १।१॥ तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ३।३॥ स०—तस्मै इदम् तदर्थम्, चतुर्थीतत्पुरुषः । तदर्थं च अर्थश्च बलिश्च हितञ्च सुखञ्च रक्षितञ्च तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितानि, तैः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—चतुर्थ्यन्तं सुबन्तं तदर्थं, अर्थं, बलि, हित, सुख, रक्षित इत्येतैः समर्थैः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ 'तद्' इति पदेन चतुर्थ्यन्तस्यार्थः परामृश्यते । तदर्थेन प्रकृतिविकारभावे समास इष्यते ॥ उदा०—तदर्थं—यूपाय दारु=यूपदारु; कुण्डलाय हिरण्यम्=कुण्डलहिरण्यम् । अर्थं—ब्राह्मणार्थं पयः, ब्राह्मणार्थं यवागूः । बलि—इन्द्राय बलिः=इन्द्रबलिः, कुबेरबलिः । हित—गोभ्यो हितं=गोहितम् । सुख—गोभ्यः सुखं=गोसुखम्; अश्वसुखम् । रक्षित—पुत्राय रक्षितम्=पुत्ररक्षितम्; अश्वरक्षितम् ॥

भाषार्थः—[चतुर्थी] चतुर्थ्यन्त सुबन्त [तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः] तदर्थं

१—'अर्थ' शब्द के साथ नित्यसमास वार्तिक (२।१।३५) से कहा है, अतः 'ब्राह्मणार्थ' का विग्रह नहीं दिखाया है ॥

तथा अर्थ बलि हित सुख रक्षित इन समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—तदर्थ (यहां विकार का प्रकृति के साथ समास दृष्ट है)—यूपाय दारू=यूपदारू (खम्भे के लिए जो लकड़ी), कुण्डलाय हिरण्यम्=कुण्डलहिरण्यम् (कुण्डल के लिए जो सोना) । अर्थ—ब्राह्मणार्थं पयः (ब्राह्मण के लिये दूध), ब्राह्मणार्था यवागूः (ब्राह्मण के लिये लप्सी) । बलि—इन्द्राय बलिः=इन्द्रबलिः (इन्द्र देवता के लिये जो बलि), कुबेरबलिः । हित—गोभ्यो हितं=गोहितम् (गायों के लिये जो हित) । सुख—गोभ्यः सुखं=गोमुखम् (गायों के लिये जो सुख), अश्व-सुखम् । रक्षित—पुत्राय रक्षितम्=पुत्ररक्षितम् (पुत्र के लिये रक्षित), अश्वरक्षितम् ।

पञ्चमी भयेन ॥२१३६॥

पञ्चमी तत्पुरुष

पञ्चमी १।१॥ भयेन ३।१॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयशब्देन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—वृकेभ्यो भयम्=वृकभयम्, चौरभयम् ॥

भाषार्थः—[पञ्चमी] पञ्चम्यन्त सुबन्त समर्थ [भयेन] भयशब्द सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—वृकेभ्यो भयम्=वृकभयम् (भेड़ियों से भय), चौरभयम् ॥

यहां से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति २।१।३८ तक जायेगी ॥

पञ्चमी तत्पुरुष अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः ॥२१।३७॥

अपेतापोढ,
मुक्त, पतित
अपत्रस्त

अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तै ३।३॥ अल्पशः अ० ॥ स०—अपेतापोढ० इत्यत्रेतर-रेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पञ्चमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अल्पं पञ्चम्यन्तं सुबन्तम् अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त इत्येतैः समर्थः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—दुःखाद् अपेतः=दुःखापेतः, सुखापेतः । घनाद् अपोढः=घनापोढः । दुःखाद् मुक्तः=दुःखमुक्तः । स्वर्गात् पतितः=स्वर्गपतितः । तरङ्गाद् अपत्रस्तः=तरङ्गापत्रस्तः ॥

भाषार्थः—[अल्पशः] अल्प पञ्चम्यन्त सुबन्त [अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैः] अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित, अपत्रस्त इन समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ सूत्र में 'अल्पशः' कहने का अभिप्राय यह है कि=अल्प थोड़े ही पञ्चम्यन्त सुबन्तों का समास होता है, सब पञ्चम्यन्तों का नहीं । यथा प्रासादात् पतितः इस पञ्चम्यन्त का समास नहीं होता है ॥

उदा०—दुःखापेतः (दुःख से दूर), सुखापेतः । घनापोढः (घन से बाधित) ।

दुःखमुक्तः (दुःख से छूट गया) । स्वर्गपतितः (स्वर्ग से गिरा हुआ) । तरङ्गापन्नस्तः (तरङ्गों से फँका हुआ) ॥

स्तोक-अन्तिक दूर

पञ्चमी तत्पुरुष

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ॥२॥१॥३८॥

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि १।३॥ क्तेन ३।१॥ स०—स्तोकश्च अन्तिकश्च दूरश्चेति स्तोकान्तिकदूराः, तेऽर्थः येषां ते स्तोकान्तिकदूरार्थाः, स्तोकान्तिकदूरार्थश्च कृच्छ्रश्च तानि स्तो...कृच्छ्राणि, बहुव्रीहिगर्भेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—पञ्चमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—स्तोक, अन्तिक, दूर इत्येवमर्थाः शब्दाः कृच्छ्रशब्दश्च पञ्चम्यन्ताः क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—स्तोकाद् मुक्तः=स्तोकान्मुक्तः; अल्पान्मुक्तः । अन्ति-काद् आगतः=अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः । दूराद् आगतः=दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः । कृच्छ्राद् मुक्तः=कृच्छ्रान्मुक्तः; कृच्छ्राद् लब्धः=कृच्छ्राल्लब्धः ॥

भाषार्थः—[स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि] स्तोक अन्तिक और दूर अर्थवाले पञ्चम्यन्त सुबन्त, तथा कृच्छ्र शब्द जो पञ्चम्यन्त सुबन्त, उनका समर्थ क्तान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ समासपक्ष में सुपो घातु० (२।४।७१) से जो पञ्चमी का लुक् प्राप्त था, उसका पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः (६।३।२) से अलुक् अर्थात् लुक् नहीं हुआ । समास होने से यही लाभ हुआ कि एकपद तथा एकस्वर हो गया ॥ स्तोकान्मुक्तः, में द् को न् यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से हुआ है । दूरादागतः, में त् को द् भलां जशोन्ते (८।२।३६) से हो गया है ॥

उदा०—स्तोकान्मुक्तः (थोड़े से ही छूट गया), अल्पान्मुक्तः । अन्तिकादागतः (समीप से आया हुआ), अभ्याशादागतः (पास से आया हुआ) । दूरादागतः (दूर से आया), विप्रकृष्टादागतः । कृच्छ्रान्मुक्तः (थोड़े से छूट गया), कृच्छ्राल्लब्धः ॥

सप्तमी तत्पुरुष

सप्तमी शौण्डेः ॥२॥१॥३९॥

सप्तमी १।१॥ शौण्डेः ३।३॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सप्तम्यन्तं सुबन्तं शौण्डादिभिः समर्थः सुबन्तैः सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—अक्षेषु शौण्डः=अक्षशौण्डः । अक्षधूर्तः । अक्षकितवः ॥

भाषार्थः—[सप्तमी] सप्तम्यन्त सुबन्त [शौण्डेः] शौण्ड इत्यादि समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ शौण्ड में बहुवचन निर्वेश होने से यहाँ शौण्डादिगण लिया गया है ॥

उदा०—अक्षशौण्डः (छूत-क्रीडा में चतुर) । अक्षधूर्तः । अक्षकितवः ॥

यहाँ से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति २।१।४७ तक जायेगी ॥

सिद्धशुष्कपक्वबन्धश्च ॥२।१।४०॥

सप्तमी तत्पुरुष

सिद्धशुष्कपक्वबन्धः ३।३॥ च अ० ॥ स०—सिद्धशुष्क० इत्यत्रेतरतरेत्योगद्वन्द्वः ॥

अनु०—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सिद्ध शुष्क पक्व बन्ध इत्येतैः समर्थैः सुबन्तैः सह सप्तम्यन्तं सुबन्तं विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—ग्रामे सिद्धः=ग्रामसिद्धः, नगरसिद्धः । आतपे शुष्कः=आतपशुष्कः, छायायां शुष्कः=छायाशुष्कः । स्थाल्यां पक्वः=स्थालीपक्वः । यूपे बन्धः=यूपबन्धः, चक्रबन्धः ॥

भाषार्थः—[सिद्धशुष्कपक्वबन्धः] सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध इन समर्थ सुबन्तों के साथ [च] भी सप्तम्यन्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—ग्रामसिद्धः (ग्राम में बना), नगरसिद्धः । आतपशुष्कः (धूप में सूखा हुआ), छायाशुष्कः । स्थालीपक्वः (बटलोई में पकाया हुआ) । यूपबन्धः (यज्ञ के खम्भे में बाँधा हुआ), चक्रबन्धः (चक्र में बाँधा हुआ) ॥

ध्वाङ्क्षेण क्षेपे ॥२।१।४१॥

सप्तमी तत्पुरुष

ध्वाङ्क्षेण ३।१॥ क्षेपे ७।१॥ अनु०—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सप्तम्यन्तं सुबन्तं ध्वाङ्क्षवाचिना समर्थेन सुबन्तेन सह क्षेपे गम्यमाने विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव=तीर्थध्वाङ्क्षः, तीर्थे काक इव=तीर्थकाकः, तीर्थवायसः ॥

भाषार्थः—सप्तम्यन्त सुबन्त [ध्वाङ्क्षेण] ध्वाङ्क्ष=(कौआ)वाची समर्थ सुबन्त के साथ [क्षेपे] क्षेप=निन्दा गम्यमान होने पर विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—तीर्थध्वाङ्क्षः (जैसे कौआ एक स्थान पर नहीं रह सकता, उसी प्रकार जो छात्र एक स्थान पर न पढ़कर यत्र-तत्र सर्वत्र पढ़ता फिरे, वह तीर्थ-ध्वाङ्क्षः कहलाता है), तीर्थकाकः, तीर्थवायसः ॥

कृत्येऋणे ॥२।१।४२॥

सप्तमी तत्पुरुष

कृत्यैः ३।३॥ ऋणे ७।१॥ अनु०—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सप्तम्यन्तं सुबन्तं कृत्यप्रत्ययान्तैः समर्थैः सुबन्तैः सह ऋणे गम्य-

१. विद्यार्थी का यत्र तत्र भागना ही यहाँ क्षेप है ॥

माने विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—मासे देयम् ऋणं = मासदेयम् ऋणम् । संवत्सरदेयम्, त्र्यहदेयम् ॥

भाषार्थः—सप्तम्यन्त सुबन्त [कृत्यैः] कृत्यप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्तों के साथ [ऋणे] ऋण गम्यमान होने पर विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—मासे देयम् ऋणं = मासदेयम् ऋणम् (महीने भर में चुका दिया जानेवाला ऋण) । संवत्सरदेयम्, त्र्यहदेयम् ॥ देयम् में यत् प्रत्यय अचो यत् (३।१।६७) से हुआ है । सो कृत्याः (३।१।६५) से वह कृत्यसंज्ञक है ॥

सप्तमी तत्पुरुष संज्ञायाम् ॥२।१।४३॥

संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—सप्तमी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सप्तम्यन्त सुबन्त संज्ञायां विषये समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—अरण्येतिलकाः । अरण्येमाषाः । वनेकिंशुकाः । वनेबिल्वकाः । कूपेपिशाचकाः ॥

भाषार्थः—सप्तम्यन्त सुबन्त [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में समर्थ सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ यहाँ महाविभाषा का अधिकार आते हुये भी नित्य समास ही होता है । क्योंकि विग्रह-वाक्य से संज्ञा की प्रतीति ही नहीं होती है ॥

उदा०—अरण्येतिलकाः (जङ्गली तिल) । अरण्येमाषाः (जङ्गली उड़द) । वनेकिंशुकाः (जङ्गली टेसू के फूल) । वनेबिल्वकाः (पूर्ववत् ही अर्थ जानें) । कूपे-पिशाचकाः (यहाँ भी पूर्ववत् जानें) ॥ सर्वत्र उदाहरणों में हलदन्तात् साप्तम्याः० (६।३।७) से विभक्ति का अलुक् हुआ है ॥

सप्तमी तत्पुरुष क्तेनाहोरात्रावयवाः ॥२।१।४४॥

क्तेन ३।१॥ अहोरात्रावयवाः १।३॥ स०—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रौ, तयोर-वयवाः अहोरात्रावयवाः, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सप्तम्यन्ताः अहरवयववाचिनः रात्र्यवयववाचिनश्च शब्दाः क्तप्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—पूर्वाह्णे कृतम् = पूर्वाह्णकृतम्, मध्याह्नकृतम् । पूर्वरात्रे कृतम् = पूर्वरात्रकृतम्, मध्यरात्रकृतम् ॥

भाषार्थः—[अहोरात्रावयवाः] दिन के अवयववाची एवं रात्रि के अवयववाची

सप्तम्यन्त सुबन्तों का [क्तेन] क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥

उदा०—पूर्वाह्णे कृतम्=पूर्वाह्निकृतम् (दिन के पूर्व भाग में किया हुआ),
मध्याह्निकृतम् । पूर्वात्रे कृतम्=पूर्वात्रकृतम् (रात्रि के पूर्व भाग में किया हुआ),
मध्यरात्रिकृतम् ॥

यहाँ से “क्तेन” की अनुवृत्ति २।१।४६ तक जाती है ॥

तत्र ॥२।१।४५॥

सप्तमी तत्पुरुष

तत्र अ० ॥ अनु०—क्तेन, सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थ—‘तत्र’ इति सप्तम्यन्तं सुबन्तं क्तप्रत्ययान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—तत्रभुक्तम् । तत्रपीतम् । तत्रकृतम् ॥

भाषार्थः—[तत्र] ‘तत्र’ इस सप्तम्यन्त शब्द का क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ समास विकल्प से होता है, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥ समास होने से एकपद एकस्वर हो जाता है । पक्ष में पृथक्-पृथक् पद भी रहते हैं ॥

उदा०—तत्रभुक्तम् (वहाँ खाया) । तत्रपीतम् (वहाँ पिया) । तत्र कृतम् ॥

क्षेपे ॥२।१।४६॥

सप्तमी तत्पुरुष

क्षेपे ७।१॥ अनु०—क्तेन, सप्तमी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थ—सप्तम्यन्तं सुबन्तं क्तान्तेन समर्थेन सुबन्तेन सह क्षेपे गम्यमाने विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—अवतप्तेनकुलस्थितं तव एतत् । प्रवाहेमूत्रितम् । भस्मनिहुतम् ॥

भाषार्थः—सप्तम्यन्त सुबन्त क्तान्त समर्थ सुबन्त के साथ [क्षेपे] क्षेप(निन्दा) गम्यमान होने पर समास को विकल्प से प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ उदा०—अवतप्तेनकुलस्थितं तव एतत् (तपी हुई भूमि में जिस प्रकार नेवला अस्थिर होकर इधर-उधर भागता है, क्षणभर नहीं ठहरता, उसी प्रकार तुम्हारा कार्य है, अर्थात् अत्यन्त चञ्चल है) । प्रवाहेमूत्रितम् (बहते पानी में मूत्र करने के समान तुम्हारा किया काम है, अर्थात् निष्फल है) । भस्मनिहुतम् (भस्म में—राख में आहुति डालने के समान तुम्हारा काम निष्फल है) ॥

तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६।३।१२) से अवतप्ते इत्यादियों में सप्तमी का अलुक्

हुआ है। नकुलस्थितं इत्यादि क्तान्त शब्द हैं। अत्यन्त चञ्चलता आदि ही यहाँ क्षेप है। कार्यों को आरम्भ करके जो धैर्य से उसे पूरा न कर इधर-उधर भागे, उसके लिये यह कहा है ॥

यहाँ से 'क्षेपे' की अनुवृत्ति २।१।४७ तक जायेगी ॥

सप्तमी

तत्पुरुष

पात्रेसंमितादयश्च ॥२।१।४७॥

पात्रेसंमितादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—पात्रेसंमित आदिर्येषां ते पात्रेसंमितादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—क्षेपे, सप्तमी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पात्रेसंमिताः इत्यादयः शब्दाः क्षेपे गम्यमाने समुदाया एव निपात्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा—पात्रेसंमिताः । पात्रेबहुलाः ॥

भाषार्थः—[पात्रेसंमितादयः] पात्रेसंमित इत्यादि शब्द [च] भी क्षेप गम्यमान होने पर समुदायरूप से, अर्थात् जैसे गण में पठित हैं, उसी प्रकार निपातन किये जाते हैं, और तत्पुरुषसंज्ञक होते हैं ॥ चकार यहाँ अवधारण के लिए है ॥

उदा०—पात्रेसंमिताः (भोजन के समय में ही जो इकट्ठे हो जावें, किसी कार्य के समय नहीं) । पात्रेबहुलाः (भोजनकाल में ही जो आवें, किसी कार्य में नहीं) ॥ पूर्व काल एक सर्व जरत पुराण नव केवलाः समानाधिकरणेन

समानाधिकरण
तत्पुरुष

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन ॥२।१।४८॥

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः १।३॥ समानाधिकरणेन ३।१॥ स०—पूर्वकाल० इत्यत्रेतेरेतरयोगद्वन्द्वः । समानमधिकरणं यस्य स समानाधिकरणः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पूर्वकाल, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल इत्येते सुबन्ता समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह विभाषा सामस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—स्नातश्चानुभुक्तश्च=स्नातानुभुक्तः, कृष्टसमीकृतम् । एकश्चासौ वैद्यश्च=एकवैद्यः, एकभिक्षा । सर्वे च ते मनुष्याः=सर्वमनुष्याः, सर्वदेवाः । जरश्चासौ हस्ती च=जरद्वस्ती, जरदश्वः । पुराणं च तदन्नञ्च=पुराणान्नम्, पुराणावसथम् । नवञ्च तदन्नं च=नवान्नम्, नवावसथम् । केवलञ्च तदन्नं च=केलान्नम् ॥

भाषार्थः—[पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः] पूर्वकाल, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल इन सुबन्तों का [समानाधिकरणेन] समानाधिकरण सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ समानाधिकरण की व्याख्या १।२।४२ में कर आये हैं ॥ यह सूत्र विशेषण० (२।१।४६) का अपवाद है ॥

उदा०—स्नातश्चानुभुक्तश्च=स्नातानुभुक्तः (पहले स्नान किया, पीछे खाया),

कृष्टसमीकृतम् (पहले खेत को जोता, पीछे बराबर किया) । एकश्चासौ वंशश्च = एकवंशः (एक ही है, और वही वंश है), एकभिक्षा । सर्वे च ते मनुष्याः = सर्वमनुष्याः (सब मनुष्य), सर्वदेवाः । जरश्चासौ हस्ती च = जरद्वस्ती (बूढ़ा हाथी), जरदश्वः । पुराणं च तदन्नं च = पुराणान्नम् (पुराना अन्न), पुराणावसथम् (पुराना गृह) । नवञ्च तदन्नं च = नवान्नम् (नया अन्न), नवावसथम् । केवलञ्च तदन्नं च = केवलान्नम् (केवल अन्न) ॥ जरद्वस्ती में ह् को घ् भगो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६१) से हुआ है ॥

यहाँ से 'समानाधिकरणेन' की अनुवृत्ति पाद के अन्त २।१।७१ तक जाती है ॥

दिवसङ्ख्ये संज्ञायाम् ॥२।१।४६॥ सप्तमी तत्पुरुष

दिवसङ्ख्ये १।२॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स०—दिक् च सङ्ख्या च दिक्सङ्ख्ये, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—दिग्वाचिनः सङ्ख्यावाचिनश्च सुबन्ताः समानाधिकरणेन समर्थेन सुबन्तेन सह संज्ञायां विषये समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—पूर्वा चासौ इषुकामशमी च = पूर्वेषुकामशमी, अपरेषुकामशमी । सङ्ख्या—पञ्च च ते आम्नाः = पञ्चाः; सप्त च ते ऋषयः = सप्तर्षयः ॥

भाषार्थः—[दिवसङ्ख्ये] दिग्वाची और सङ्ख्यावाची जो सुबन्त वे समानाधिकरण समर्थ सुबन्त के साथ [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥

उदा०—पूर्वा चासौ इषुकामशमी च = पूर्वेषुकामशमी (किसी ग्राम की संज्ञा है), अपरेषुकामशमी । सङ्ख्या—पञ्च च ते आम्नाः = पञ्चाः (ग्राम के पाँच वृक्ष = संज्ञाविशेष), सप्तर्षयः (सात ऋषि) ॥ पूर्वेषुकामशमी में समानाधिकरण समास होने से तत्पुरुषः समा० (१।२।४२) से कर्मधारय संज्ञा होकर 'पूर्वा' को पुंवत् कर्मधारय० (६।३।४१) से पुंवद्भाव हुआ है । आद्गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर पूर्वेषुकामशमी बना है ॥

यहाँ से 'दिवसङ्ख्ये' की अनुवृत्ति २।१।५० तक जाती है ॥

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च ॥२।१।५०॥ सप्तमी तत्पुरुष

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे ७।१॥ च अ० ॥ स०—तद्धितस्यार्थस्तद्धितार्थः, षष्ठीतत्पुरुषः । तद्धितार्थश्च उत्तरपदञ्च समाहारश्च तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारम्, तस्मिन्, समाहारो

द्वन्द्वः ॥ अनु०—द्विसङ्ख्ये, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—तद्धितार्थे—तद्धितोत्पत्तिविषये उत्तरपदे च परतः समाहारे चाभिधेये, द्विसङ्ख्ये सुबन्ते समर्थेन समानाधिकरणवाचिना सुबन्तेन सह विभाषा समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—पूर्वस्यां शालायां भवः—पूर्वशालः आपरशालः । सङ्ख्या—तद्धितार्थे—पञ्चानां नापितानाम् अपत्यम्—पाञ्चनापितिः; पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—पञ्चकपालः ॥ दिक्—उत्तरपदे—पूर्वा शाला प्रिया यस्य—पूर्वशालाप्रियः । सङ्ख्या—उत्तरपदे—पञ्च गावो धनं यस्य स पञ्चगवधनः; पञ्चनावप्रियः ॥ समाहारे दिक्शब्दो नास्तीति नोदाह्रियते । सङ्ख्या—समाहारे—पञ्चानां पूलानां समाहारः—पञ्चपूली, दशपूली; पञ्चानां कुमारीणां समाहारः—पञ्चकुमारि, दशकुमारि; अष्टानाम् अध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी ॥

भाषार्थः—[तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे] तद्धितार्थ का विषय उपस्थित होने पर, उत्तरपद परे रहते, तथा समाहार वाच्य होने पर [च] भी दिशावाची तथा सङ्ख्यावाची सुबन्तों का समर्थ समानाधिकरणवाची सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

द्विगु

सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः ॥२॥१॥५॥१॥

सङ्ख्यापूर्वः १।१॥ द्विगुः १।१॥ स०—सङ्ख्या पूर्वा यस्मिन् स सङ्ख्यापूर्वः बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे इत्यत्र सङ्ख्यापूर्वो यः समासः स द्विगुसंज्ञको भवति ॥ पूर्वसूत्रस्यायं शेषः ॥ उदा०—अत्र पूर्वसूत्रस्यैवोदाहरणानि बोद्धव्यानि । अन्यच्च—पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य—पञ्चेन्द्रः, दशेन्द्रः ॥

भाषार्थः—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहार में जो [सङ्ख्यापूर्वः] सङ्ख्यापूर्व समास है, वह [द्विगुः] द्विगुसंज्ञक होता है ॥ यह सूत्र पूर्वसूत्र का शेष है ॥ पञ्चेन्द्रः की सिद्धि हम परि० १।२।४६ पर दिखा चुके हैं, शेष उदाहरण पूर्वसूत्र के ही हैं ॥

सप्तमी तत्पुरुष

कुत्सितानि कुत्सनैः ॥२॥१॥५॥२॥

कुत्सितानि १।३॥ कुत्सनैः ३।३॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कुत्सितवाचीनि सुबन्तानि कुत्सनवचनैः समानाधिकरणैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—वैयाकरणश्चासौ खसूचिश्च—वैयाकरणखसूचिः । याज्ञिककितवः । मीमांसकदुर्दुर्लभः ॥

भाषार्थः—[कुत्सितानि] कुत्सितवाची (निन्दावाची) सुबन्त [कुत्सनैः] कुत्सनवाची (निन्दावाची) समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥

यहाँ से पहले-पहले के सब सूत्र विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२।१।५६) के अन्वय है। उस सूत्र से समास करते, तो "खसूचिः" आदि के विशेषणवाची उपसर्जन-संज्ञक होने से उनका पूर्वनिपात होता। यहाँ परनिपात हो गया, यही पृथक् सूत्र बनाने का प्रयोजन है। ऐसा सर्वत्र इन सूत्रों में जानना चाहिये ॥

उदा०—वैयाकरणखसूचिः (आकाश की ओर देखनेवाला वैयाकरण, अर्थात् ऐसा वैयाकरण जो कि व्याकरण की बात पूछने पर आकाश की ओर देखने लगे, बता न सके)। याज्ञिककितवः (ऐसा याज्ञिक जो यज्ञ के अनधिकारियों के यहाँ भी यज्ञ कराये)। मीमांसकदुर्बुद्धः (नास्तिक मीमांसक) ॥

यहाँ से 'कुत्सनैः' की अनुवृत्ति २।१।५३ तक जाती है ॥

पापाणके कुत्सितैः ॥२।१।५३॥ समानाधिकरणं तत्पुरुष

पापाणके १।२॥ कुत्सितैः ३।३॥ स०—पापञ्च अणकञ्च पापाणके, इतरेतर-योगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कुत्सनैः, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पाप अणक इत्यतो कुत्सनवाचिनो सुबन्तो कुत्सितवाचिभिः समानाधिकरणैः सुबन्तै सह विभाषा समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ पूर्वसूत्रस्यापवादोऽयम् ॥ उदा०—पापश्चास्तै नापितश्च=पापनापितः, पापकुलालः। अणकनापितः, अणककुलालः ॥

भाषार्थः—[पापाणके] पाप और अणक जो कुत्सनवाची सुबन्त, वे समानाधिकरण [कुत्सितैः] कुत्सितवाची सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। कुत्सनवाची पाप अणक शब्द थे ही, सो समास पूर्वसूत्र से हो ही जाता, पुनः आरम्भ पूर्वनिपातार्थ है ॥ उदा०—पापनापितः (पापी नाई), पापकुलालः। अणकनापितः (निन्दित नाई), अणककुलालः (निन्दित कुम्हार) ॥

समानाधिकरणं तत्पुरुष

उपमानानि सामान्यवचनैः ॥२।१।५४॥

उपमानानि १।३॥ सामान्यवचनैः ३।३॥ स०—सामान्यम् उक्तवन्त इति सामान्यवचनाः, तैः, तत्पुरुषः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—उपमानवाचीनि सुबन्तानि सामानाधिकरणैः सामान्यवचनैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उपमीयते अनेन इति उपमानम् ॥ उदा०—घन इव श्यामः=घनश्यामो देवदत्तः। शस्त्री इव श्यामा=शस्त्रीश्यामा देवदत्ता ॥

भाषार्थः—[उपमानानि] उपमानवाची सुबन्त [सामान्यवचनैः] सामान्यवाची

समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

जिस वस्तु से किसी की उपमा दी जाये, वह वस्तु उपमान होती है। तथा जिसकी दी जाय, वह उपमेय होता है। उदाहरणों में घन तथा शस्त्री उपमान, व देवदत्त तथा देवदत्ता उपमेय हैं ॥ जिस विशेष गुण को लेकर उपमेय में उपमान का साम्य दिखाया जाये, वह सामान्य = साधारण धर्म कहलाता है। यथा पूर्वोक्त एक उदाहरण में शस्त्री के श्यामत्व गुण का साम्य देवदत्ता में दिखाया है। श्यामत्व गुण से विशिष्ट श्यामा है, सो श्यामा सामान्यवचन है। अतः उसके साथ समास हुआ है ॥ जो शब्द उनकी समानता को बताये, वह तद्वाचक शब्द कहलाता है, जैसे—इव, यथा। ये ४ बातें उपमालङ्कार में होती हैं ॥

उदा०—घनश्यामो देवदत्तः (बादलों की तरह काला देवदत्त)। शस्त्रीश्यामा देवदत्ता (शस्त्री = आरी के समान जो काली देवदत्ता स्त्री) ॥

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ॥२॥१॥५५॥

समानाधिकरण
तत्पुरुष

उपमितं १।१॥ व्याघ्रादिभिः ३।३॥ सामान्याप्रयोगे ७।१॥ स०—व्याघ्र आदिर्येषां ते व्याघ्रादयः, तैः, बहुव्रीहिः। न प्रयोगः अप्रयोगः, सामान्यस्य अप्रयोगः सामान्याप्रयोगः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सामान्यस्य = साधारणधर्म-वाचिशब्दस्य अप्रयोगे = अनुच्चारणे सति, उपमितं = उपमेयवाचि सुबन्तं समानाधिकरणैः व्याघ्रादिभिः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—पुरुषोऽयं व्याघ्र इव = पुरुषव्याघ्रः। पुरुषोऽयं सिंह इव = पुरुषसिंहः ॥

भाषार्थः—[सामान्याप्रयोगे] साधारणधर्मवाची शब्द के अप्रयोग = अनुच्चारण होने पर [उपमितम्] उपमेयवाची सुबन्त का समानाधिकरण [व्याघ्रादिभिः] व्याघ्रादि सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ पूर्वसूत्र का यह अपवादसूत्र पूर्वनिपातार्थ है ॥

उदा०—पुरुषव्याघ्रः (व्याघ्र के समान शूरवीर पुरुष); पुरुषसिंहः ॥ उदाहरण में पुरुष उपमेय, और व्याघ्र उपमान है। साधारणधर्म शूरता है, अर्थात् शूरत्व को लेकर उपमा दी गई। सो उसका यहाँ अप्रयोग है जहाँ प्रयोग होगा वहाँ समास नहीं होगा ॥

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ॥२॥१॥५६॥

विशेषणं १।१॥ विशेष्येण ३।१॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—विशेषणवाचि सुबन्तं विशेष्यवाचिना

पादः]

द्वितीयोऽध्यायः

समानाधिकरण तत्पुरुष १८१

समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह बहुलं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—
नीलञ्च तदुत्पलञ्च = नीलोत्पलम् । रक्तोत्पलम् ॥ बहुलवचनात् क्वचित् नित्यसमास
एव—कृष्णसर्पः, लोहितशालिः ॥

भाषार्थः—[विशेषणम्] विशेषणवाची सुबन्त [विशेष्येण] विशेष्यवाची
समानाधिकरण सुबन्त के साथ [बहुलम्] बहुल करके समास को प्राप्त होता है,
और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ 'बहुल' की व्याख्या हम २।१।३१ में कर चुके हैं ॥
जो किसी की विशेषता को बताये, वह विशेषण अर्थात् भेदक होता है, तथा जिसकी
विशेषता बताये वह विशेष्य होता है ॥

उदा०—नीलोत्पलम् (नीला कमल) । रक्तोत्पलम् (लाल कमल) । कृष्णसर्पः
(काला साँप) । लोहितशालिः (लाल धान) ॥ उदाहरण में नील उत्पल की
विशेषता को बताता है, अतः वह विशेषण है । तथा उत्पल विशेष्य है, सो समास
हो गया है ॥

यहाँ से "विशेषणं विशेष्येण" की अनुवृत्ति २।१।५७ तक जाती है ॥

पूर्व-अपर-प्रथम-चरम-जघन्य-समान-मध्य-मध्यम-वीराश्च ॥ २।१।५७ ॥

पूर्वापर...—वीराः १।३॥ च अ० ॥ स०—पूर्वापर० इत्यत्रेतरयोर्गद्वन्द्वः ॥

अनु०—विशेषणं विशेष्येण, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा,
समासः ॥ अर्थः—पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर
इत्येते विशेषणवाचिनः सुबन्ताः समानाधिकरणैः विशेष्यवाचिभिः सुबन्तैः सह विभाषा
समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—पूर्वश्चासौ पुरुषश्च=पूर्वपुरुषः ।
अपरपुरुषः । प्रथमपुरुषः । चरमपुरुषः । जघन्यपुरुषः । समानपुरुषः । मध्यपुरुषः ।
मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः ॥

भाषार्थः—[पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराः] पूर्व, अपर, प्रथम,
चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर इन विशेषणवाची सुबन्तों का [च] भी
विशेष्यवाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है, और
वह तत्पुरुष समास होता है ॥ पूर्वसूत्र से ही समास सिद्ध था, पुनः यह सूत्र
प्रपञ्चाय है ॥

उदा०—पूर्वपुरुषः (पहला पुरुष) । अपरपुरुषः (दूसरा पुरुष) । प्रथम
पुरुषः । चरमपुरुषः (अन्तिम पुरुष) । जघन्यपुरुषः (क्रूर पुरुष) । समानपुरुषः
(समान पुरुष) । मध्यपुरुषः (बीच का आदमी) । मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः
(वीर पुरुष) ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

श्रेण्यादयः कृतादिभिः ॥२११५८॥

श्रेण्यादयः १।३॥ कृतादिभिः ३।३॥ स०—श्रेणिः आदिर्येषां ते श्रेण्यादयः, बहुव्रीहिः। कृत आदिर्येषां ते कृतादयः, तैः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—श्रेण्यादयः सुबन्ताः समानाधिकरणैः कृतादिभिः सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—अश्रेणयः श्रेणयः कृताः=श्रेणिकृताः। एककृताः ॥

भाषार्थः—[श्रेण्यादयः] श्रेण्यादि सुबन्त [कृतादिभिः] कृतादि समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है। उदा०—श्रेणिकृताः (जो पंक्ति में नहीं थे, उन्हें पंक्ति में किया)। एककृता (जो एक नहीं थे, उनको एक किया गया) ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् ॥२११५९॥

क्तेन ३।१॥ नञ्विशिष्टेन ३।१॥ अनञ् १।१॥ स०—नञ् एव विशिष्टः नञ्विशिष्टः, तेन, बहुव्रीहिः। न विद्यते नञ् यस्मिन् सोऽनञ्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अनञ् क्तान्तं सुबन्तं नञ्विशिष्टेन क्तान्तेन समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह विकल्पेन समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कृतं च तदकृतं च=कृताकृतम्। भुक्ताभुक्तम्। पीतापीतम् ॥

भाषार्थः—[अनञ्] अनञ्क्तान्त सुबन्त [नञ्विशिष्टेन] नञ्विशिष्ट (अर्थात् जिस शब्द में नञ् ही विशेष हो, अन्य सब प्रकृतिप्रत्यय आदि द्वितीय पद के तुल्य हों) समानाधिकरण [क्तेन] क्तान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—कृताकृतम् (जो किया न किया बराबर हो)। भुक्ताभुक्तम् (जो खाया न खाया एक हो)। पीतापीतम् ॥ उदाहरण 'कृताकृतम्' आदि में पूर्वपद नञ्-रहित, तथा उत्तरपद नञ्विशिष्ट है। उत्तरपद में पूर्वपद से केवल नञ् ही विशेष है, अन्य सब प्रकृति प्रत्ययादि तुल्य हैं ॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्ट

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः ॥२११६०॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः १।३॥ पूज्यमानैः ३।३॥ स०—सत् च महत् च परमश्च उत्तमश्च उत्कृष्टश्च सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—सत्, महत्,

परम, उत्तम, उत्कृष्ट इत्येते सुबन्ताः समानाधिकरणैः पूज्यमानैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—सन् चासौ पुरुषश्च=सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः ॥

भाषार्थः—[सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः] सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट सुबन्त समानाधिकरण [पूज्यमानैः] पूज्यमानवाची (पूजा के योग्य) सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥ ये सब सूत्र २।१।५६ के प्रपञ्च हैं ॥

उदा०—सत्पुरुषः (सज्जन पुरुष) । महापुरुषः । परमपुरुषः (परम पुरुष) । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः (अच्छा पुरुष) ॥ महापुरुषः में महत् को आन्महत्ः समानाधिकरण० (६।३।४४) से आत्व होता है, जो कि अलोन्यस्य (१।१।५१) से अन्य अल् के त् को हुआ है ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् ॥२।१।६१॥

वृन्दारकनागकुञ्जरैः ३।३॥ पूज्यमानम् १।१॥ स०—वृन्दारकश्च नागश्च कुञ्जरश्च वृन्दारकनागकुञ्जराः, तैः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पूज्यमानवाचि सुबन्तं वृन्दारक नाग कुञ्जर इत्येतैः समानाधिकरणैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—गोश्चासौ वृन्दारकश्च=गोवृन्दारकः, अश्व-वृन्दारकः । गोनागः, अश्वनागः । गोकुञ्जरः, अश्वकुञ्जरः ॥

भाषार्थः—[पूज्यमानम्] पूज्यमानवाची सुबन्त [वृन्दारकनागकुञ्जरैः] वृन्दारक नाग कुञ्जर इन समानाधिकरणवाची सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ गो अश्व पूज्यमानवाची थे, सो समास होकर उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से इनका पूर्व निपात हुआ है ॥

उदा०—गोवृन्दारकः (उत्तम बैल), अश्ववृन्दारकः । गोनागः (उत्तम बैल), अश्वनागः । गोकुञ्जरः (उत्तम बैल), अश्वकुञ्जरः ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने ॥२।१।६२॥

कतरकतमौ १।२॥ जातिपरिप्रश्ने ७।१॥ स०—कतरश्च कतमश्च कतरकतमौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । जातेः परितः प्रश्नः, जातिपरिप्रश्नः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—जातिपरिप्रश्नेऽर्थे वर्तमानौ कतर-कतमशब्दौ समर्थेन समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह विभाषा

समस्येते तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कतरः कठः=कतरकठः, कतर-
कलापः । कतमकठः, कतमकलापः ॥

भाषार्थः—[जातिपरिप्रश्ने] जातिपरिप्रश्न, अर्थात् जाति के विषय में विविध
प्रश्न में वृत्तमान जो [कतरकतमौ] कतर कतम शब्द, वे समानाधिकरणवाची समर्थ
सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—कतरकठः (इन दोनों में कौन कठ है), कतरकलापः । कतमकठः
(इन सब में कौन कठ है), कतमकलापः ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

किं क्षेपे ॥२॥१६३॥

किम् १।१॥ क्षेपे ७।१॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्,
सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—किम् इत्येतत् सुबन्तं क्षेपे गम्यमाने समानाधिकरणेन
सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कथंभूतः सखा
=किसखा योऽभिद्रुहति, किराजा यो न रक्षति ॥

भाषार्थः—[किम्] किं सुबन्त का [क्षेपे] निन्दा गम्यमान होने पर समाना-
धिकरणवाची समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष
समास होता है ॥

उदा०—किसखा यो अभिद्रुहति (वह कौंसा मित्र है अर्थात् मित्र नहीं है, जो
द्रोह करता है), किराजा यो न रक्षति (वह कौंसा राजा है, जो प्रजा की रक्षा
नहीं करता) ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्वष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रि-
याध्यापकधूर्तर्जातिः ॥२॥१६४॥

पोटायुवति... धूर्तः ३।३॥ जातिः १।१॥ स०—पोटा च युवतिश्च स्तोकश्च
कतिपयं च गृष्टिश्च धेनुश्च तशा च वेहच्च वष्कयणी च प्रवक्ता च श्रोत्रियश्च
अध्यापकश्च धूर्तश्च पोटा...धूर्तः, तैः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समाना-
धिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्. सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पोटा, युवति, स्तोक,
कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहद्, वष्कयणी, प्रवक्तृ, श्रोत्रिय, अध्यापक, धूर्त इत्येतैः
समानाधिकरणैः सुबन्तैः सह जातिवाचि सुबन्तं विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो
भवति ॥ उदा०—इभा चासौ पोटा च=इभपोटा । इभयुवतिः । अग्निस्तोकः ।
उदश्वित्कतिपयम् । गोगृष्टिः । गोधेनुः । गोवशा । गोवेहत् । गोवष्कयणी । कठ-
प्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । कठाध्यापकः । कठधूर्तः ॥

भाषार्थः—[जातिः] जातिवाची जो सुबन्त वह [पोटायुवति...धूर्तः]

पोटा युवति आदि समानाधिकरण समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥ इभ, गो, कठ आदि जातिवाची सुबन्त हैं ॥ यहाँ पर जाति विशेष्य है, पोटादि शब्द विषयेण हैं, सो २।१।५६ से समास प्राप्त था । पुनर्वचन विशेष्यवाचियों का पूर्वनिपात (२।२।३०) हो, विशेषण-वाचियों का नहीं, इसलिये है ॥

उदा०—इभपोटा (वन्ध्याहथिनी) । इभयुवतिः (नौजवान हथिनी) । अग्नि-स्तोकः (थोड़ी अग्नि) । उदशिवत्कतिपयम् (कुछ मट्ठा) । गोगृष्टिः (एकबार प्रसूता गौ) । गोधेनुः (तत्काल व्याई हुई गौ) । गोवशा (वन्ध्या गौ) । गोवेहत् (गर्भ-पातिनी गौ) । गोवक्ष्यणी (तरुण हैं बछड़े जिसके ऐसी गौ) । कठप्रवक्ता (कठ व्याख्याता) । कठश्रोत्रियः (कठ वेद पढ़नेवाला) । कठाध्यापकः (कठ अध्यापक) । कठधूर्तः (कठ धूर्त) ॥

यहाँ से 'जातिः' की अनुवृत्ति २।१।६५ तक जायेगी ॥

प्रशंसावचनैश्च ॥२।१।६५॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

प्रशंसावचनैः ३।३॥ च अ० ॥ अनु०—जातिः, समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—जातिवाचि सुबन्तं प्रशंसावचनैः समानाधिकरणैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणश्चासौ तेजस्वी च=ब्राह्मणतेजस्वी । ब्राह्मणशूरः । गोप्रकाण्डम् । गोमंत-ल्लिका । गोमर्चिका ॥

भाषार्थः—जातिवाची सुबन्त [प्रशंसावचनैः] प्रशंसावाची समानाधिकरण सुबन्तों के साथ [च] भी विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ प्रकाण्ड, मतल्लिका आदि प्रशंसावाची शब्द हैं ॥

समानाधिकरण

युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः ॥२।१।६६॥

तत्पुरुष

युवा १।१॥ खलतिपलितवलिनजरतीभिः ३।३॥ स०—खलतिश्च पलितश्च वलिनश्च जरती च खलति...जरत्यः, ताभिः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषाः सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—युवशब्दः खलति, पलित, वलिन, जरती इत्येतैः समानाधिकरणैः सुबन्तैः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—युवा खलतिः=युवखलतिः । युवा पलितः=युवपलितः । युवा वलिनः=युववलिनः । युवतिः जरती=युवजरती ॥

भाषार्थः—[युवा] युवन् शब्द [खलतिपतितवलिनजरतीभिः] खलति, पलित, वलिन, जरती इन समानाधिकरण सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—युवखलतिः (नौजवान गऊजा पुरुष) । युवपलितः (नौजवान सफे बालोंवाला) । युववलिनः (नौजवान भुर्रावाला) । युवजरती (नौजवानी में ही बूढ़ी हुई स्त्री) ॥ 'युवन् सु खलति सु, इस अवस्था में समास होकर नलोपः प्राति० (दा२।७) से युवन् के न् का लोप हो गया, शेष पूर्ववत् है ॥ स्त्रीलिङ्ग में 'युवति खलती' तथा 'युवति जरती' का समास होने पर १।२।४२ से कर्मधारय संज्ञा होकर, पुं वत् कर्मधारय० (६।३।४०) से पुं वद्भाव होकर युव रहा गया । शेष पूर्ववत् समर्थ ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष कृत्यतुल्याख्या अजात्या ॥२।१।६७॥

कृत्यतुल्याख्याः १।३॥ अजात्या ३।१॥ स०—तुल्यमाक्षत इति तुल्याख्याः, उपपदतत्पुरुषः । कृत्याश्च तुल्याश्चाश्च कृत्यतुल्याख्याः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कृत्यप्रत्ययान्ताः तुल्यपर्यायाश्च सुबन्ता अजातिवाचिना समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—भोज्यं चादः उष्णञ्च=भोज्योष्णम् । भोज्यलवणम् । पानीयशीतम् ॥ तुल्याख्याः—तुल्यश्वेतः, तुल्यमहान् । सदृशश्वेतः, सदृशमहान् ॥

भाषार्थः—[कृत्यतुल्याख्याः] कृत्यप्रत्ययान्त सुबन्त, तथा तुल्य के पर्यायवाची सुबन्त [अजात्या] अजातिवाची समानाधिकरण समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—भोज्योष्णम् (खाने योग्य गर्म पदार्थ) । भोज्यलवणम् (भोजन योग्य नमकीन पदार्थ) । पानीयशीतम् (पीने योग्य शीतल पदार्थ) ॥ तुल्य की आख्यावाले—तुल्यश्वेतः (बराबर सफेद), तुल्यमहान् (बराबर महान्) । सदृशश्वेतः, सदृशमहान् ॥ भुजघातु से ण्यत् (३।१।१२४) प्रत्यय होकर भोज्य, तथा पा घातु से अनीयर् प्रत्यय होकर पानीय बना है । ये प्रत्यय कृत्याः (३।१।६५) से कृत्यसंज्ञक हैं । उष्ण लवणादि शब्द अजातिवाची हैं, सो पूर्ववत् समास हो गया है ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष वर्णो वर्णेन ॥२।१।६८॥

वर्णः १।१॥ वर्णेन ३।१॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—वर्णविशेषवाचि सुबन्त वर्णविशेषवाचिना समाना-

धिकरणेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—

कृष्णश्चासौ सारङ्गश्च = कृष्णसारङ्गः । लोहितसारङ्गः । कृष्णशबलः । लोहितशबलः ॥

भाषार्थः—[वर्णः] वर्णविशेषवाची सुबन्त [वर्णेन] वर्णविशेषवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास को विकल्प से प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—कृष्णसारङ्गः (काला और चितकबरा) । लोहितसारङ्गः (लाल और चितकबरा) । कृष्णशबलः (काला और चितकबरा) । लोहितशबलः ॥

कुमारः श्रमणादिभिः ॥२॥१६६॥ समानाधिकरण तत्पुरुष

कुमारः १॥१॥ श्रमणादिभिः ३॥३॥ स०—श्रमणा आदिर्येषां ते श्रमणादयः, तैः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कुमारशब्दः समानाधिकरणः श्रमणादिभिः समर्थः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कुमारी चासौ श्रमणा च = कुमारश्रमणा । कुमारप्रव्रजिता ॥

भाषार्थः—[कुमारः] कुमार शब्द समानाधिकरण [श्रमणादिभिः] श्रमणादि समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—कुमारश्रमणा (कुमारी तपस्विनी) । कुमारप्रव्रजिता (कुमारी संन्यासिनी) ॥ सूत्र २॥१६६ की सिद्धि के समान ही यहाँ भी पुंवद्भाव हुआ है ॥

चतुष्पादो गर्भिण्या ॥२॥१७०॥ समानाधिकरण तत्पुरुष

चतुष्पादः १॥३॥ गर्भिण्या ३॥१॥ स०—चत्वारः पादा यासां ताः चतुष्पादः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—चतुष्पाद्वाचिनः सुबन्ताः समानाधिकरणेन गर्भिणीशब्देन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—गौश्चासौ गर्भिणी च = गोगर्भिणी । महिषगर्भिणी । अजगर्भिणी ॥

भाषार्थः—[चतुष्पादः] चतुष्पादवाची (चार पैर हैं जिनके, पशु आदि) जो सुबन्त, वह समानाधिकरण [गर्भिण्या] गर्भिणी सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥

उदा०—गोगर्भिणी (गर्भिणी गाय) । महिषगर्भिणी (गर्भिणी भैंस) । अजगर्भिणी (गर्भिणी बकरी) ॥

समानाधिकरण तत्पुरुष

मयूरव्यंसकादयश्च ॥२॥१७१॥

मयूरव्यंसकादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—मयूरव्यंसक आदिर्येषां, ते मयूरव्यंसकादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—समानाधिकरणेन, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—मयूरव्यंसकादयो गणशब्दाः समानाधिकरणे तत्पुरुषसञ्ज्ञका भवन्ति, समुदाया एव निपात्यन्ते ॥ उदा०—मयूरव्यंसकः । छात्रव्यंसकः ॥

भाषार्थः—[मयूरव्यंसकादयः] मयूरव्यंसकादि गणपठित समुदायरूप शब्द [च] भी समानाधिकरण तत्पुरुषसंज्ञक होते हैं ॥

उदा०—मयूरव्यंसकः (बहुत चालाक मोर) । छात्रव्यंसकः (चालाक विद्यार्थी) ॥

॥ इति प्रथमः पादः ॥

२काधिकरण तत्पुरुष

द्वितीयः पादः

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ॥२॥२१॥

पूर्वापराधरोत्तरम् १।१॥ एकदेशिना ३।१ एकाधिकरणे ७।१ (तृतीयार्थे सप्तमी) ॥ स०—पूर्व च अपरं च अधरं च उत्तरं च पूर्वापराधरोत्तरम्, समाहारो द्वन्द्वः । एकं च तदधिकरणम् च एकाधिकरणम्, तस्मिन्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । एकदेशोऽस्यास्तीति एकदेशी, तेन एकदेशिना ॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पूर्व, अपर, अधर, उत्तर इत्येते सुबन्ताः एकाधिकरणवाचिना—एकद्रव्यवाचिना एकदेशिना समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ षष्ठीसमासापवादः ॥ उदा०—पूर्व कायस्य=पूर्वकायः, नद्याः पूर्व=पूर्वनदी । अपरं कायस्य=अपरकायः, वृक्षस्य अपरं=अपरवृक्षम् । कायस्य अधरं=अधरकायः, गृहस्य अधरं=अधरगृहम् । उत्तरं कायस्य=उत्तरकायः ॥

भाषार्थः—[पूर्वापराधरोत्तरम्] पूर्व, अपर, अधर, उत्तर ये सुबन्त [एकाधिकरणे] एकाधिकरणवाची=एकद्रव्यवाची [एकदेशिना] एकदेशी (=अवयवी) समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ॥ एकदेश=अवयव जिसमें हो वह एकदेशी कहलाता है, अर्थात् समुदाय (=अवयवी) । अवयवी के एक द्रव्य होने पर ही समास होगा, अनेक द्रव्य होने पर नहीं । जैसे 'छात्राणां पूर्वम्' में अवयवी छात्र अनेक हैं, अतः समास नहीं होगा ॥

उदा०—पूर्वकायः (शरीर का पूर्वभाग), पूर्वनदी । अपरकायः (शरीर का अपर भाग), अपरवृक्षम् । अधरकायः (शरीर का निचला भाग), अधरगृहम् ।

उत्तरकायः (शरीर का उत्तर भाग) ॥ उदाहरणों में काय नदी इत्यादि एकदेशी हैं । क्योंकि उन्हीं का अवयव पूर्व उत्तर है, सो अवयववाले हैं । और एक अधिकरण (=द्रव्य) भी हैं अनेक नहीं ॥ यह सूत्र षष्ठीसमास का अपवाद है । षष्ठीसमास होता, तो काय वा नदी का उपसर्जन पूर्वम् (२।२।३०) से पूर्वनिपात होता, अब पर निपात ही होता है ॥

यहाँ से 'एकदेशिनैकाधिकरणे' की अनुवृत्ति २।२।३ तक जायेगी ॥

अर्धं नपुंसकम् ॥२।२।२॥ एकाधिकरणं तत्पुरुष

अर्धम् १।१॥ नपुंसकम् १।१॥ अनु०—एकदेशिनैकाधिकरणे, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—नपुंसकलिङ्गे वर्त्तमानो योऽर्द्धशब्दः, स एकाधिकरणवाचिना एकदेशिना सुबन्तेन सह विभाषां समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ समप्रविभागे अर्द्धशब्दो नपुंसके वर्त्तते, ततोऽन्यत्र पुल्लिङ्गः ॥ अयमपि षष्ठीसमासापवादः ॥ उदा०—पिप्पल्याः अर्द्धम् = अर्द्धपिप्पली । अर्द्धकोशातकी ॥

भाषार्थः—[अर्द्धम्] अर्द्ध शब्द [नपुंसकम्] नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान हो, तो एकाधिकरणवाची एकदेशी सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ अर्द्ध शब्द आधे को कहने में नपुंसकलिङ्ग होता है, उससे अन्यत्र पुल्लिङ्ग होता है ॥ यह भी षष्ठीसमास का अपवादसूत्र है ॥

उदा०—अर्द्धपिप्पली (पिप्पली का आधा) । अर्द्धकोशातकी (आधी तुरई) ॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् ॥२।२।३॥ तत्पुरुष

द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याणि १।३॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—द्वितीय० इत्यत्रे-तरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—एकदेशिनैकाधिकरणे, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, तुर्य इत्येते सुबन्ताः एकाधिकरणवाचिना एकदेशिसुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ षष्ठीसमासापवादोऽयम् ॥ अन्यतरस्याम् ग्रहणेन पक्षे सोऽपि भवति, महाविभाषया तु विग्रहवाक्य-विकल्पः ॥ उदा०—द्वितीयं भिक्षायाः = द्वितीयभिक्षा । षष्ठीसमासपक्षे—भिक्षा-द्वितीयम् । तृतीयं भिक्षायाः = तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयम् । चतुर्थं भिक्षायाः = चतुर्थ-भिक्षा, भिक्षाचतुर्थम् । तुर्यं भिक्षायाः = तुर्यभिक्षा, भिक्षातुर्यम् ॥

भाषार्थः—[द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याणि] द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, तुर्य सुबन्त एकाधिकरणवाची एकदेशी सुबन्त के साथ [अन्यतरस्याम्] विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

यह सूत्र षष्ठीसमास का अपवाद है । महाविभाषा का अधिकार आ रहा है,

उससे विग्रहवाक्य भी रहेगा । और 'अन्यतरस्याम्' कहने से पक्ष में षष्ठीसमास भी होगा । षष्ठीसमास होने पर षष्ठ्यन्त शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्वनिपात होगा, यही विशेष है ॥

उदा०—द्वितीयभिक्षा (भिक्षा का दूसरा भाग), भिक्षाद्वितीयम् । तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयम् । चतुर्थभिक्षा, भिक्षाचतुर्थम् । तुर्यभिक्षा (भिक्षा का चौथा भाग), भिक्षातुर्यम् ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति २।२।४ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ॥२।२।४॥

प्राप्तापन्ने १।२॥ च अ० ॥ द्वितीयया ३।१॥ स०—प्राप्तश्च आपन्नं च प्राप्तापन्ने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अन्यतस्याम्, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—प्राप्त आपन्न इत्येतौ सुबन्ती द्वितीयान्तेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—प्राप्तो जीविकां=प्राप्त-जीविकः । द्वितीयासमासपक्षे—जीविकाप्राप्तः । आपन्नो जीविकाम्=आपन्नजीविकः, जीविकापन्नः ॥

भाषार्थः—[प्राप्तापन्ने] प्राप्त आपन्न सुबन्त [च] भी [द्वितीयया] द्वितीयान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

यह सूत्र द्वितीयातत्पुरुष (२।१।२३) का अपवाद है ॥ उदाहरण में एक-विभक्ति चापूर्वनिपाते (१।२।४४) से जीविका शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होकर गोस्त्रियोरुपर्जनस्य (१।२।४८) से ह्रस्व हो जाता है ॥

उदा०—प्राप्तजीविकः (जीविका को प्राप्त किया) । द्वितीयासमास-पक्ष में — जीविकाप्राप्तः । आपन्नजीविकः (जीविका को प्राप्त किया), जीविकापन्नः ॥

तत्पुरुष

कालाः परिमाणिना ॥२।२।५॥

कालाः १।३॥ परिमाणिना ३।१॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ परिमाणस्यास्तीति परिमाणी, तेन ॥ अर्थः—परिमाणवाचिनः कालशब्दाः परिमाणवाचिना सुबन्तेन सह विभाषा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—मासो जातस्य=मासजातः । संवत्सरजातः । द्व्यहजातः । त्र्यहजातः ॥

भाषार्थः—परिमाणवाची [कालाः] काल शब्द [परिमाणिना] परिमाणवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

यह सूत्र भी षष्ठीसमास का अपवाद है ॥ जात शब्द परिमाणी है, अर्थात् परिमाण=मास या संवत्सर का अवधारण उसी में है ॥ यहाँ परिमाणी के साथ समास कहने से सामर्थ्य से कालवाची शब्द भी परिमाण ही होंगे ॥ उदा०—मास-जातः (एक महीने का पैदा हुआ) । संवत्सरजातः (एक साल का पैदा हुआ) । द्व्यहजातः । त्र्यहजातः ॥

नञ् ॥२।२।६॥

नञ् तत्पुरुष

नञ् अ० ॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—नञ् इत्येतदव्ययं समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—न ब्राह्मणः=अब्राह्मणः । अक्षत्रियः ॥

भाषार्थः—[नञ्] नञ् इस अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—अब्राह्मणः (जो ब्राह्मण नहीं) । अक्षत्रियः (जो क्षत्रिय नहीं) ॥

ईषदकृता ॥२।२।७॥

तत्पुरुष

ईषत् अ० ॥ अकृता ३।१॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—'ईषत्' इत्ययं शब्दोऽकृदन्तेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—ईषच्चासौ कडारः=ईषत्कडारः । ईषत्पिङ्गलः । ईषद्विकटः । ईषदुन्नतः ॥

भाषार्थः—[ईषत्] ईषत् शब्द [अकृता] अकृदन्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥

उदा०—ईषत्कडारः (थोड़ा पीला) । ईषत्पिङ्गलः (थोड़ा पीला) । ईषद्विकटः (थोड़ा बिगड़ा हुआ) । ईषदुन्नतः (थोड़ा उन्नत) ॥

षष्ठी ॥२।२।८॥

षष्ठी तत्पुरुष

षष्ठी १।१॥ अनु०—तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—राजः पुरुषः=राजपुरुषः । ब्राह्मणकम्बलः ॥

भाषार्थः—[षष्ठी] षष्ठ्यन्त सुबन्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।२।४३ में देखें ॥

यहाँ से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति २।२।१७ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष

याजकादिभिश्च ॥२।२।१॥

याजकादिभिः ३।३॥ च अ० ॥ स०—याजक आदिर्येषां ते याजकादयः, तैः याजकादिभिः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—षष्ठी, तत्पुरुषः, विभाषा, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—षष्ठ्यन्तं सुबन्तं याजकादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह विभाषा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणस्य याजकः=ब्राह्मणयाजकः । ब्राह्मणपूजकः ॥

भाषार्थः—षष्ठ्यन्तं सुबन्तं [याजकादिभिः] याजकादि सुबन्तों के साथ [च] भी विकल्प से समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥ समास पूर्व सूत्र से ही प्राप्त था, पुनर्वचन तृजकाम्यां कर्त्तरि (२।२।१५) से निषेध प्राप्त होने पर पुनः षष्ठीसमास प्राप्त कराने के लिये है ॥

उदा०—ब्राह्मणयाजकः (ब्राह्मण का यज्ञ करानेवाला) । ब्राह्मणपूजकः (ब्राह्मण की पूजा करनेवाला) ॥

[षष्ठीसमास-निषेध-प्रकरणम्]

तत्पुरुष निषेध न निर्धारणे ॥२।२।१०॥

न अ० ॥ निर्धारणे ७।१॥ अनु०—षष्ठी, तत्पुरुषः सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—निर्धारणे वर्त्तमानं षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह न समस्यते ॥ उदा०—मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः । कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा । धावन्नध्वगानां शीघ्रतमः ॥

भाषार्थः—जाति गुण अथवा क्रिया के द्वारा समुदाय में से एक के पृथक् करने को 'निर्धारण' कहते हैं ॥ [निर्धारणे] निर्धारण में वर्त्तमान षष्ठ्यन्तं सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास [न] नहीं होता है ॥ यह सारा प्रकरण षष्ठी (२।२।८) सूत्र से समास प्राप्त होने पर निषेध के लिये है ॥

उदा०—मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः (मनुष्यों में क्षत्रिय शूरतम होते हैं) । कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा (गौओं में काली गौ उत्तम और खूब दूध देनेवाली होती है) । धावन्नध्वगानां शीघ्रतमः (रास्ता चलनेवालों में दौड़नेवाला शीघ्रगामी होता है) ॥

उदाहरण में सारे मनुष्यों में से क्षत्रियों को शूर कहा है, सो निर्धारण अर्थ है । अतः मनुष्य और क्षत्रिय का समास नहीं हुआ । इन उदाहरणों में यतश्च निर्धारणम् (२।३।४१) से षष्ठी विभक्ति हुई है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति २।२।१६ तक जायेगी ॥

पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन ॥२।२।११॥

पूरणगुण ... करणेन ३।१॥ स०—सुहितोऽर्थो येषां ते सुहितार्थाः, बहुव्रीहिः । पूरणं च गुणश्च सुहितार्थाश्च सत् च अव्ययञ्च तव्यश्च समानाधिकरणञ्च पूरणगुण-सुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणम्, तेन, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाचि, सुहितार्थ=तृप्त्यर्थक, सत्, अव्यय, तव्यप्रत्ययान्त समानाधिकरणवाचि इत्येतैः सुबन्तैः सह षष्ठ्यन्तं सुबन्तं न समस्यते ॥ उदा०—छात्राणां पञ्चमः । छात्राणां दशमः । गुण—बलाकायाः शौक्यम् । काकस्य काष्ण्यम् । सुहितार्थ—फलानां सुहितः । फलानां तृप्तः । मद्—ब्राह्मणस्य कुर्वन् । ब्राह्मणस्य कुर्वाणः । अव्यय—ब्राह्मणस्य कृत्वा । ब्राह्मणस्य हृत्वा । तव्य—ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् । समानाधिकरण—शुकस्य माराविदस्य । राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य । पाणिनेः सूत्रकारस्य ॥

भाषार्थः—[पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन] पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाची शब्द, सुहित=तृप्ति अर्थवाले, सत्संज्ञक प्रत्यय, अव्यय, तव्यप्रत्ययान्त, तथा समानाधिकरणवाची शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त सुबन्त समास को प्राप्त नहीं होता है ॥

उदा०—छात्राणां पञ्चमः (छात्रों में पाँचवाँ), छात्राणां दशमः । गुण—बलाकायाः शौक्यम् (बगुले की सफेदी), काकस्य काष्ण्यम् । सुहितार्थ—फलानां सुहितः (फलों की तृप्ति), फलानां तृप्तः । मद्—ब्राह्मणस्य कुर्वन् (ब्राह्मण का कार्य करता हुआ), ब्राह्मणस्य कुर्वाणः । अव्यय—ब्राह्मणस्य कृत्वा (ब्राह्मण का कार्य करके), ब्राह्मणस्य हृत्वा । तव्य—ब्राह्मणस्य कर्तव्यम् (ब्राह्मण के करने योग्य) । समानाधिकरण—शुकस्य माराविदस्य (माराविद नाम के तोते का), राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य (पाटलिपुत्रक राजा का), पाणिनेः सूत्रकारस्य ॥

पञ्चमः आदि में तस्य पूरणे डट् (५।२।४८) से डट् प्रत्यय, तथा नान्तादसङ्ख्या० (५।२।४९) से मट् आगम पूरण अर्थ में हुआ है । शौक्यम् आदि गुणवाची शब्द हैं । तो सत् (३।२।१२७) से शतृ शानच् प्रत्ययों की सत् संज्ञा कही है । कुर्वन् कुर्वाणः में शतृ शानच् प्रत्यय हुए हैं । कृत्वा हृत्वा में 'क्त्वा' प्रत्यय है, उसकी क्त्वातोऽनुत्कसुनः (१।१।३६) से अव्यय संज्ञा है, सो समास नहीं हुआ । शुकस्य माराविदस्य आदि समानाधिकरणवाले शब्द हैं, क्योंकि वही शुक है और वही माराविद नामवाला है । इसी प्रकार औरों में भी समझना चाहिये ॥

क्तेन च पूजायाम् ॥२।२।१२॥

अष्टमी तत्पुरुष

क्तेन ३।१॥ च अ० ॥ पूजायाम् ७।१॥ अनु०—न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्,

सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—पूजायां यः क्तप्रत्ययो विहितः, तेन सह षष्ठी न समस्यते ॥
मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च (३।२।१८८) इत्यनेन विहितः क्तप्रत्ययोऽत्र पूजाशब्देन लक्ष्यते ॥
उदा०—राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः ॥

भाषार्थः—[पूजायाम्] पूजा के अर्थ में जो [क्तेन] क्त प्रत्यय का विधान है, उसके साथ [च] भी षष्ठ्यन्त सुबन्त समास को प्राप्त नहीं होता ॥ मतिबुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च इस सूत्र से जो क्त विहित है, उसी का उपलक्षण यहाँ पर पूजायाम् शब्द से किया गया है ॥ उदा०—राज्ञां मतः (राजाओं का माना हुआ) । राज्ञां बुद्धः (राजाओं का जाना हुआ) । राज्ञां पूजितः (राजाओं का पूजित) ॥

यहाँ से 'क्तेन' की अनुवृत्ति २।२।१३ तक जायेगी ॥

षष्ठी-तत्पुरुषनिषेधाधिकरणवाचिना च ॥२।२।१३॥

अधिकरणवाचिना ३।१॥ च अ० ॥ अनु०—क्तेन, न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अधिकरणवाचिना क्तेन सह षष्ठी न समस्यते ॥
उदा०—इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् ॥

भाषार्थः—[अधिकरणवाचिना] अधिकरणवाची क्तप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ [च] भी षष्ठ्यन्त सुबन्त समास को प्राप्त नहीं होता ॥

उदा०—इदमेषां यातम् (यह इनके जाने का रास्ता) । इदमेषां भुक्तम् (यह इनके भोजन का स्थान) ॥ क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगति० (३।४।७६) सूत्र से अधिकरण में क्त विधान किया गया है ॥

तत्पुरुषनिषेधा

कर्मणि च ॥२।२।१४॥

कर्मणि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कर्मणि या षष्ठी सा समर्थेन सुबन्तेन सह न समस्यते ॥ उभय-प्राप्तौ कर्मणि (२।३।६६) इत्यनेन या कर्मणि षष्ठी विधीयते, तस्या एवात्र ग्रहणम् ॥
उदा०—आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । रोचते मे मोदकस्य भोजनं बालेन ॥

भाषार्थः—[कर्मणि] कर्म में जो षष्ठी विहित है, वह [च] भी समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त नहीं होती ॥

उदा०—आश्चर्यो गवां दोहो अगोपालकेन (अगोपालक का दूध दुहना आश्चर्य का विषय है) । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन (मुझे देवदत्त का चावल खाना

प्रिय है)। रोचते मे मोदकस्य भोजनं बालेन (मुझे बालक का लड्डू खाना प्रिय है) ॥
‘गवाम्, ओदनस्य’ आदि में उभयप्राप्ती कर्मणि (२।३।६६) सूत्र से कर्म में षष्ठी
हुई है, सो उनका प्रकृत सूत्र से भोजन आदि समर्थ सुबन्तों के साथ समास नहीं
हुआ है ॥

यहाँ से ‘कर्मणि’ की अनुवृत्ति २।२।१५ तक जायेगी ॥

तृजकाम्यां कर्त्तरि ॥२।२।१५॥

षष्ठी - तत्पुरुष निषेध

तृजकाम्या ३।२॥ कर्त्तरि ७।१॥ स०—तृज० इत्यत्रेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—
कर्मणि, न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कर्त्तरि यो तृच्-अको
ताभ्यां सह कर्मणि या षष्ठी सा न समस्यते ॥ उदा०—पुरां भेत्ता । अर्पां स्रष्टा ।
यवानां लावकः । कूपस्य खनकः ॥

भाषार्थः—[कर्त्तरि] कर्त्ता में जो [तृजकाम्याम्] तृच् और अकप्रत्ययान्त
सुबन्त उनके साथ कर्म में जो षष्ठी वह समास को नहीं प्राप्त होती ॥ यहाँ कर्त्तृ-
कर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्म में षष्ठी होती है ॥

उदा०—पुरां भेत्ता (पुरों को तोड़नेवाला) । अर्पां स्रष्टा (जलों को उत्पन्न
करनेवाला) । यवानां लावकः (जी को काटनेवाला) । कूपस्य खनकः (कूप को
खोदनेवाला) ॥

यहाँ से ‘अकः’ की अनुवृत्ति २।२।१७ तक जायेगी ॥

‘कर्त्तरि च ॥२।२।१६॥

तत्पुरुष - निषेध

कर्त्तरि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—अक, न, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा,
समासः ॥ अर्थः—कर्त्तरि या षष्ठी साऽकान्तेन सह न समस्यते ॥ उदा०—तव
शायिका । मम जागरिका ॥

भाषार्थः—[कर्त्तरि] कर्त्ता में जो षष्ठी, वह [च] भी अकप्रत्ययान्त सुबन्त के
साथ समास को प्राप्त नहीं होती है ॥ ‘वु’ को युवोरनाको (७।१।१) से जो अक
हुआ है, उसका ही इन दोनों सूत्रों में ग्रहण है ॥

नित्यं क्रीडाजीविकयोः ॥२।२।१७॥

तत्पुरुष

नित्यं १।१॥ क्रीडाजीविकयोः ७।२॥ स०—क्रीडा च जीविका च क्रीडाजीविके,
तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अक, षष्ठी, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥

१. २।२।१५, १६ इन दो सूत्रों का व्याख्यान काशिका में महाभाष्य के विरुद्ध
होने से मान्य नहीं ॥ देखो—अष्टा० भाष्य स्वामी द० कृत, पृ० २४४ ।

अर्थः—क्रीडार्थे जीविकार्थे च षष्ठ्यन्तं सुबन्तं अकान्तेन सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—उद्दालकपुष्पभञ्जिका । वारणपुष्पप्रचायिका । जीविकायाम्—दन्तलेखकः । नखलेखकः ॥

भाषार्थः—[क्रीडाजीविकयोः] क्रीडा और जीविका अर्थ में षष्ठ्यन्त सुबन्त अक अन्तवाले सुबन्त के साथ [नित्यम्] नित्य ही समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है । विभाषा का अधिकार आ रहा था । अतः उसकी निवृत्ति के लिये यहाँ नित्य शब्द का ग्रहण है । सो पक्ष में विग्रह-वाक्य नहीं बनेगा ॥ षष्ठी (२।२।८) सूत्र से यहाँ समास प्राप्त ही था, पुनः यह सूत्र क्रीडाविषय में नित्य समास हो जावे, पक्ष में विग्रहवाक्य न रहे इसलिये है । तथा जीविका-विषय में षष्ठीसमास का तूजकाम्यां कर्त्तरि (२।२।१५) से निषेध प्राप्त था, वहाँ भी समास हो जावे, इसलिये यह सूत्र है ॥

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति २।२।१६ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष

कुगतिप्रादयः ॥२।२।१८॥

कुगतिप्रादयः १।३॥ स०—प्र आदिर्येषां ते प्रादयः, कुश्च गतिश्च प्रादयश्च कुगतिप्रादयः, बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः ॥ अनु०—नित्यं, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—कुशब्दो, गतिसंज्ञकाः, प्रादयश्च शब्दाः समर्थेन सुबन्तेन सह नित्यं समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कुब्राह्मणः, कुपुरुषः । गतिः—उररीकृत्य, उररीकृतम् । प्रादयः—दुष्पुरुषः । सुपुरुषः । अतिपुरुषः ॥

भाषार्थः—[कुगतिप्रादयः] कु, गतिसंज्ञक और प्रादि शब्द समर्थ सुबन्त के साथ समास को नित्य ही प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुषसंज्ञक समास होता है ॥

उदा०—कुब्राह्मणः (बुरा ब्राह्मण), कुपुरुषः (बुरा पुरुष) । गतिः—उररीकृत्य (स्वीकार करके), उररीकृतम् । प्रादयः—दुष्पुरुषः (दुष्ट पुरुष) । सुपुरुषः (अच्छा पुरुष) । अतिपुरुषः (अच्छा पुरुष) ॥

यहाँ कु शब्द अव्यय लिया गया है । उररीकृत्य की गति संज्ञा ऊर्यादिच्चिडाच-श्च (१।४।६०) से होती है । इनकी सिद्धि १।४।५६ के समान ही जानें ॥

तत्पुरुष

उपपदमतिङ् ॥२।२।१९॥

उपपदम् १।१॥ अतिङ् १।१॥ स०—न तिङ् अतिङ्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नित्यं, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अतिङन्तम् उपपदं समर्थेन शब्दान्तरेण सह नित्यं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—कुम्भं करोति=कुम्भकारः, नगरकारः ॥

भाषार्थः—[अतिङ्] तिङ्भिन्न जो [उपपदम्] उपपद, वह समर्थ शब्दान्तर के साथ नित्य समास को प्राप्त होता है, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥
उदा०—कुम्भकारः (कुम्हार), नगरकारः (नगर बनानेवाला) ॥

सिद्धि परि० १।१।३८ में की गई स्वादुङ्कारम् के समान ही है। भेद केवल यहाँ इतना है कि कर्मण्यण् (३।२।१) से अण् प्रत्यय हुआ है, णमुल् नहीं। शेष उसी के समान है ॥

यहाँ से 'उपपदम्' की अनुवृत्ति २।२।२२ तक जायेगी ॥

अमैवाव्ययेन ॥२।२।२०॥

तत्पुरुष

अमा ३।१॥ एव अ० ॥ अव्ययेन ३।१॥ अनु०—उपपदम्, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—अव्ययेन उपपदस्य यः समासः, सोऽमन्तेन अव्ययेनैव सह भवति, नान्येन ॥ उदा०—स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—यह सूत्र नियमार्थ है। [अव्ययेन] अव्यय के साथ उपपद का यदि समास होता है, तो वह [अमा] अमन्त अव्यय के साथ [एव] ही होता है, अन्य अव्ययों के साथ नहीं ॥

उदाहरणों की सिद्धि कृन्मेजन्तः (१।१।३८) के परि० में देखें। कृन्मेजन्तः से ही इनकी अव्यय संज्ञा होती है। स्वादुम् आदि मकारान्त शब्द उपपद हैं ॥

विशेषः—यहाँ उपपद का समास पूर्वसूत्र से सिद्ध था। अतः नियम हो जाता है। पुनः 'एवकार अमन्त उपपद का ही विशेषण हो,' इस इष्ट का अवधारण करने के लिये है। अर्थात् जिस सूत्र के द्वारा केवल अम् (णमुलादि) प्रत्यय का ही विधान हो, वहीं तदन्त के साथ समास हो। क्त्वा णमुल् दोनों प्रत्ययों का जहाँ एक साथ विधान हो, वहाँ इस सूत्र से समास न हो। यथा—अग्ने भुक्त्वा, अग्ने भोजम्, यहाँ विभाषाऽप्रेप्रथम० (३।४।२४) से दोनों प्रत्ययों का विधान है, अतः प्रकृत सूत्र से समास नहीं हुआ ॥

यहाँ से 'अमैवाव्ययेन' की अनुवृत्ति २।२।२१ तक जायेगी ॥

तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् ॥२।२।२१॥

तत्पुरुष

तृतीयाप्रभृतीनि १।३॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—तृतीया प्रभृति येषां तानि तृतीयाप्रभृतीनि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अमैवाव्ययेन, उपपदम्, तत्पुरुषः, सुप्, सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—उपपदशस्तृतीयायाम् (३।४।४७) इति सूत्रमारभ्य यानि उपपदानि, तानि

तृतीयाप्रभृतीनि उपपदानि अमन्तेनैवाव्ययेन सह अन्यतरस्यां समस्यन्ते ॥ उदा०—
मूलकोपदंशं भुङ्क्ते, मूलकेन उपदंशं भुङ्क्ते । उच्चैःकारम् आचष्टे, उच्चैः कारम् ।
यष्टिग्राहम्, यष्टि ग्राहम् ॥

भाषार्थः—[तृतीयाप्रभृतीनि] तृतीयाप्रभृति उपदंशस्तृतीयायाम् (३।४।४७)
सूत्र से आरम्भ करके अन्वच्यानुलोम्ये (३।४।६४ तक) जो उपपद हैं, वे अमन्त
अव्यय के साथ ही [अन्यतरस्याम्] विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं ॥

उदा०—मूलकोपदंशं भुङ्क्ते (मूली को दाँत से काटकर खाता है), मूलकेन
उपदंशं भुङ्क्ते । उच्चैःकारम् आचष्टे (दुःख की बात को भी ऊँचे स्वर से कहता
है), उच्चैः कारम् । यष्टिग्राहं (लाठी लेकर), यष्टि ग्राहम् ॥

पूर्वसूत्र की तरह 'उपदंशम्' आदि की अव्यय संज्ञा मकारान्त होने से है। उपदंशस्तृ०
(३।४।४७) से उपपूर्वक 'दंश दशने' धातु से णमुल् प्रत्यय हुआ है । उच्चैःकारम् में कृ
धातु से अव्ययेऽयथाभि० (३।४।५६) से णमुल् हुआ है । वृद्धि आदि पूर्ववत् हुई हैं ।
ग्रह धातु से द्वितीयायाञ्च (३।४।५३) से णमुल् प्रत्यय हुआ है । सो ये सब अमन्त
अव्यय हैं, अतः मूलक आदि उपपद रहते विकल्प से समास हुआ है । असमासपक्ष
में 'उच्चैःकारम्' उदाहरण में स्वर का भेद पड़ता है ॥ यहाँ महाविभाषा के आते
हुये भी अन्यतरस्याम् 'नित्य' पद की अनुवृत्ति को हटाने के लिये है ।

यहाँ से 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति २।२।२२ तक जायेगी ॥

तत्पुरुष

क्त्वा च ॥२।२।२२॥

क्त्वा ३।१॥ च अ० ॥ अनु०—तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्, तत्पुरुषः, सुप्,
सह सुपा, समासः ॥ अर्थः—तृतीयाप्रभृतीनि उपपदानि क्त्वाप्रत्ययान्तेन सह अन्य-
तरस्यां समस्यन्ते. तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ उदा०—उच्चैःकृत्य, उच्चैः कृत्वा ॥

भाषार्थः—तृतीयाप्रभृति जो उपपद वे [क्त्वा] क्त्वाप्रत्ययान्त शब्दों के साथ
[च] भी विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं, और वह तत्पुरुष समास होता है ॥
पूर्वसूत्र से अमन्त में प्राप्त था, अतः यह सूत्र अन्यत्र भी विधान करे, इसलिये है ॥

उदा०—उच्चैःकृत्य (ऊँचा करके), उच्चैः कृत्वा ॥

समासपक्ष में क्त्वा को ल्यप् ७।१।३७ से हो गया । तथा असमासपक्ष में नहीं
हुआ ॥ यहाँ से तत्पुरुष समास का अधिकार समाप्त हुआ ॥

[बहुव्रीहि-समास-प्रकरणम्]

बहुव्रीहि

शेषो बहुव्रीहिः ॥२॥२॥२३॥

शेषः १॥१॥ बहुव्रीहिः १॥१॥ अर्थः—उक्तादन्यः शेषः । शेषः समासो बहुव्रीहि-संज्ञको भवति, इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अग्र एवोदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—जो ऊपर समास कहा गया है, उससे जो अन्य वह शेष है । [शेषः] शेष समास [बहुव्रीहिः] बहुव्रीहि-संज्ञक होता है, यह अधिकार २॥२॥२३ तक जानना चाहिये ॥

अनेकमन्यपदार्थे ॥२॥२॥२४॥

बहुव्रीहि

अनेकम् १॥१॥ अन्यपदार्थे ७॥१॥ स०—न एकम् अनेकम्, नञ्त्तत्पुरुषः । अन्य-च्चादः पदम् अन्यपदम्, तस्य अर्थः अन्यपदार्थः, तस्मिन्, कर्मधारयगर्भेष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः ॥ अर्थः—अन्यपदार्थे वर्तमानम् अनेकं सुबन्तं परस्परं विभाषा समस्यते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥ उदा०—प्राप्तम् उदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढो रथो येन स ऊढरथोज्ज्वलान् । उपहृतः पशुः यस्मै स उपहृतपशुः । उद्धृतो दानो यस्याः सा उद्धृतोदना स्थाली । चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः, शबलगुः । वीराः पुरुषाः यस्मिन् स वीरपुरुषको ग्रामः ॥

भाषार्थः—[अन्यपदार्थे] अन्यपदार्थ में वर्तमान [अनेकम्] अनेक सुबन्त परस्पर समास को विकल्प से प्राप्त होते हैं, और वह समास बहुव्रीहि-संज्ञक होता है ॥

उदा०—प्राप्तोदको ग्रामः (प्राप्त हो गया है पानी जिस गाँव को) । ऊढरथो-ज्ज्वलान् (जिसके द्वारा रथ ले जाया गया ऐसा बल) । उपहृतपशुः (जिसके लिये पशु भेंट किया गया ऐसा पुरुष) । उद्धृतोदना स्थाली (जिस से चावल निकाल लिया गया, वह बटलोई) । चित्रगुः, शबलगुः । वीरपुरुषको ग्रामः (वीर पुरुषोंवाला गाँव) ॥

बहुव्रीहि समास में अन्यपद का अर्थ प्रधान होता है । जैसा कि चित्रगुः उदाहरण में चित्रा गावः दो पद थे, सो चित्रगुः का अर्थ न चित्रित है न गौ है, प्रत्युत किसी तीसरे ही पदार्थ का 'जिसकी चित्रित गावें हैं', उसका बोध होता है । अतः अन्य पदार्थ का ही प्रधानत्व है । इसी प्रकार सब उदाहरणों में समझें ॥ सूत्र में 'अनेकम्' इसलिये कहा है कि दो पदों से अधिकों का भी बहुव्रीहि समास हो जाये ॥ चित्रगुः आदि की सिद्धि परि० १॥२॥४८ पर देखें ॥

बहुव्रीहि

सङ्ख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये ॥२।२।२५॥

सङ्ख्यया ३।१॥ अव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः १।३॥ सङ्ख्येये ७।१॥ स०—
अव्ययञ्च आसन्नश्च अदूरश्च अधिकश्च सङ्ख्या च अव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः,
इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः ॥ अर्थः—अव्यय,
आसन्न, अदूर, अधिक, सङ्ख्या इत्येते सुबन्ताः सङ्ख्येये वर्तमानया संख्यया सह
विभाषा समस्यन्ते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥ उदा०—उपदशाः । उपविशाः ।
आसन्नदशाः । आसन्नविशाः । अदूरदशाः । अदूरविशाः । अधिकदशाः । अधिकविशाः ।
संख्या—द्वित्राः, त्रिचतुराः, द्विदशाः ॥

भाषार्थः—[सङ्ख्येये] सङ्ख्येय में वर्तमान जो [सङ्ख्यया] सङ्ख्या उसके
साथ [अव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः] अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक तथा सङ्ख्या
का समास विकल्प से हो जाता है, और वह बहुव्रीहिसमास होता है ॥ जिस पदार्थ
का गणन किया जाये, वह सङ्ख्येय कहाता है । दशानां समीप ये ते उपदशाः, यहाँ
दस जो पदार्थ गणन किये गये हैं वे सङ्ख्येय हुये, उनके जो समीप हैं, वे उपदशाः
हैं । इस प्रकार सङ्ख्येय में वर्तमान दशन् सङ्ख्या है ॥

बहुव्रीहि

दिङ्नामान्यन्तराले ॥२।२।२६॥

दिङ्नामानि १।३॥ अन्तराले ७।१॥ स०—दिशां नामानि दिङ्नामानि,
षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः ॥ अर्थः—दिङ्नामानि
सुबन्तानि अन्तराले वाच्ये परस्परं विभाषा समस्यन्ते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥
उदा०—दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं सा दक्षिणपूर्वा दिक् । पूर्वोत्तरा ।
उत्तरपश्चिमा, पश्चिमदक्षिणा ॥

भाषार्थः—[दिङ्नामानि] दिशा के नामवाची सुबन्तों का [अन्तराले] अन्त-
राल अर्थात् दो दिशाओं के बीच की दिशा (कोना) वाच्य हो, तो परस्पर विकल्प
से समास होता है, और वह बहुव्रीहिसमास होता है ॥ उदाहरणों की सिद्धियाँ परि०
१।१।२७ में देखें ॥

बहुव्रीहि

तत्र तेनेदमिति सरूपे ॥२।२।२७॥

तत्र अ०॥ तेन ३।१॥ इदम् १।१॥ इति अ०॥ सरूपे १।२॥ स०—समानं रूपं ययोस्ते
सरूपे, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्, समासः ॥ अर्थः—‘तत्र’ इति
सप्तम्यन्ते सरूपे पदे, ‘तेन’ इति तृतीयान्ते सरूपे पदे, इदम् इत्येतस्मिन् अर्थे विभाषा
समस्येते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥ उदा०—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं

प्रवृत्तं=केशाकेशि, कचाकचि । दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं=दण्डादण्डि,
मुसलामुसलि ॥

भाषार्थः—[तत्र] सप्तम्यन्त, तथा [तेन] तृतीयान्त [सरूपे] सरूप दो
सुबन्त परस्पर [इदम्] 'यह' [इति] इस अर्थ में विकल्प से समास को प्राप्त होते
हैं, और वह बहुव्रीहिसमास होता है ॥

उदा०—केशाकेशि (एक-दूसरे के केशों को पकड़-पकड़कर जो युद्ध हो वह
युद्ध), कचाकचि । दण्डादण्डि (दोनों ओर से डण्डों से जो युद्ध हो वह युद्ध),
मुसलामुसलि ॥ उदाहरणों में केशेषु केशेषु दण्डैश्च दण्डैश्च आदि परस्पर दोनों
सरूप पद हैं, इदम्='यह' अर्थ है ही, सो समास हो गया ॥ केश आदि में दीर्घ
अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३५) से होता है । तथा बहुव्रीहिसमास होने से यहाँ
इच् कर्मव्यतिहारे (५।४।१२७) से समासान्त इच् प्रत्यय होकर केशाकेशि बना है ।
तिष्ठद्गु० (२।१।१६) गण में पाठ होने से इच्प्रत्ययान्त की अव्ययीभाव संज्ञा
होती है । अतः उदाहरणों में नपुंसकलिङ्ग, तथा विभक्ति का लुक् होता है ॥

तेन सहेति तुल्ययोगे ॥२॥२॥२॥

तेन ३।१॥ सह अ० ॥ इति अ० ॥ तुल्ययोगे ७।१॥ स०—तुल्येन योगः
तुल्ययोगः, तस्मिन्, ...तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—बहुव्रीहिः, विभाषा, सुप्,
समासः ॥ अर्थः—तुल्ययोगे वर्तमानं सह इत्येतद् अव्ययं तेनेति तृतीयान्तेन सुबन्तेन
सह विभाषा समस्यते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति ॥ उदा०—सह पुत्रेण आगतः=
सपुत्रः । सच्छात्रः । सकर्मकरः ॥

भाषार्थः—[सह] सह [इति] यह अव्यय [तुल्ययोगे] तुल्ययोग में वर्तमान
हो, तो [तेन] तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है, और वह समास
बहुव्रीहि-संज्ञक होता है ॥

उदा०—सपुत्रः (पुत्र के साथ) । सच्छात्रः (छात्र के साथ) । सकर्मकरः
(नोकर के साथ) ॥

तुल्य=समान (आगमन आदि क्रिया के साथ) योग अर्थात् सम्बन्ध को
'तुल्ययोग' कहते हैं। सो उदाहरण में 'पुत्र के साथ पिता आया है' यहाँ आगमन क्रिया
के साथ पिता-पुत्र दोनों का समान सम्बन्ध है, जो सह के द्वारा द्योतित होता है । अतः
तुल्ययोग में सह वर्तमान है । पुत्रेण में तृतीया सहयुक्तेऽप्रधाने (२।३।१६) से हुई

है। सह को स भाव वोपसर्जनस्य (६।३।८०) से हुआ है। सच्छात्रः में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, तथा स्तोः श्चुना० (८।३।३६) से श्चुत्व हुआ है। शेष पूर्ववत् है ॥

६०६

चार्थे द्वन्द्वः ॥२।२।२६॥

चार्थे ७।१॥ द्वन्द्वः १।१॥ स०—चस्य अर्थः चार्थः। तस्मिन् चार्थे, षष्ठी-तत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा, सुप्, समासः। अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४) इत्यतः 'अनेकम्' मण्डूकप्लुतगत्यानुवर्तते ॥ अर्थः—चार्थे वर्तमानम् अनेकं सुबन्तम् परस्परं विभाषा समस्यते, द्वन्द्वश्च समासो भवति ॥ समुच्चयः, अन्वाचयः, इतरेतरयोगः, समाहारः इति चत्वारः चकारस्यार्थाः। तत्रेतरयोगे, समाहारे च समासो भवति नान्यत्र, सामर्थ्याभावात् ॥ उदा०—रामश्च लक्ष्मणश्च इति रामलक्ष्मणौ। रामश्च लक्ष्मणश्च भरतश्च शत्रुघ्नश्चेति रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः ॥ समाहारे—पाणी च पादौ च=पाणिपादम् ॥

भाषार्थः—[चार्थे] च के द्वारा द्योतित अर्थों में वर्तमान अनेक सुबन्तों का परस्पर विकल्प से समास हो जाता है, और वह [द्वन्द्वः] द्वन्द्व समास होता है ॥

'च' के द्वारा चार अर्थ द्योतित होते हैं—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग, और समाहार। इतरेतरयोग और समाहार में द्वन्द्व समास होता है, समुच्चय अन्वाचय में नहीं, सामर्थ्य का अभाव होने से ॥ द्वन्द्वसमास में सारे पदों के अर्थ प्रधान होते हैं ॥

उदा०—रामलक्ष्मणौ (राम और लक्ष्मण)। रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः (राम लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न)। समाहार में—पाणिपादम् (हाथ और पैर) ॥

'राम सु लक्ष्मण सु' इस अवस्था में समासादि होकर पूर्ववत् ही रामलक्ष्मणौ बन गया। पाणिपादम्, यहाँ द्वन्द्वश्च प्राणि० (२।४।२) से एकवद्भाव हो जाता है ॥

उपसर्जन

उपसर्जनं पूर्वम् ॥२।२।३०॥

उपसर्जनम् १।१॥ पूर्वम् १।१॥ अनु०—समासः ॥ अर्थः—उपसर्जनसंज्ञकं समासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ तथा चैवोदाहृतम् ॥

भाषार्थः—[उपसर्जनम्] उपसर्जनसंज्ञक शब्द का समास में [पूर्वम्] पहले प्रयोग करना चाहिये ॥ प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२।४३) से उपसर्जन संज्ञा होती है ॥

यहाँ ऊपर से 'समासः' जो प्रथमान्त आ रहा था, वह अर्थ के अनुसार विभक्ति-विपरिणाम होकर सप्तमी में बदल जाता है ॥

यहाँ से 'उपसर्जनम्' की अनुवृत्ति २।२।३१ तक, तथा 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति २।२।३८ तक जायेगी ॥

राजदन्तादिषु परम् ॥२।२।३१॥

राजदन्तादिषु ७।३॥ परम् १।१॥ स०—राजदन्त आदिर्येषां ते राजदन्तादयः, तेषु, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपसर्जनम् ॥ अर्थः—राजदन्तादिषु गणशब्देषु उपसर्जनं परं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—दन्तानां राजा=राजदन्तः । वनस्य अग्रे=अग्रेवणम् ॥

भाषार्थः—[राजदन्तादिषु] राजदन्तादि गणशब्दों में उपसर्जनसंज्ञक का [परम्] पर प्रयोग होता है । पूर्वसूत्र से पूर्वनिपात प्राप्त होने पर इस सूत्र का आरम्भ है । अतः यहाँ 'पूर्वम्' पद की अनुवृत्ति आते हुये भी नहीं बिठाई ॥

उदा०—राजदन्तः (दाँतों का राजा) । अग्रेवणम् (वन के आगे) ॥

दन्तानां राजा, आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास है । सो दन्तानाम् उपसर्जन-संज्ञक है, अतः पूर्व प्रयोग न होकर परप्रयोग हुआ है । अग्रे में निपातन से सप्तमी का अलुक् माना है । वनं पुरगामिश्रकासिधकासारिका० (८।४।४) से वनं के न को ण हो गया है ॥

द्वन्द्वे चि ॥२।२।३२॥

द्वन्द्वे ७।१॥ चि १।१॥ अनु०—पूर्वम् ॥ अर्थः—द्वन्द्वसमासे घिसंज्ञकं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—पटुश्च गुप्तश्चेति=पटुगुप्तौ । मृदुगुप्तौ ॥

भाषार्थः—[द्वन्द्वे] द्वन्द्वसमास में [चि] घि-संज्ञक का पहले प्रयोग करना चाहिये ॥ द्वन्द्वसमास में सभी पद प्रधान होते हैं, सो किसी का भी पूर्व प्रयोग हो सकता है । अतः इस सूत्र ने नियम किया कि घ्यन्त का ही पूर्व प्रयोग हो ॥

उदा०—पटुगुप्तौ (चतुर और गुप्त) । मृदुगुप्तौ ॥ शेषो घ्यसखि (१।४।४७) से पटु तथा मृदु की घि-संज्ञा है ॥

यहाँ से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति २।२।३४ तक जायेगी ॥

अजाद्यदन्तम् ॥२।२।३३॥

अजाद्यदन्तम् १।१॥ स०—अच् आदिर्यस्य तत् अजादि, बहुव्रीहिः । अत् अन्ते यस्य तत् अदन्तम्, बहुव्रीहिः । अजादि चादः अदन्तं च अजाद्यदन्तम्, कर्मधारय-

तत्पुरुषः । अनु०—द्वन्द्वे, पूर्वम् ॥ अर्थः—द्वन्द्वसमासे अजाद्यदन्तं शब्दरूपं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—उष्ट्रखरम् । उष्ट्रशशकम् ॥

भाषार्थः—द्वन्द्वसमास में [अजाद्यदन्तम्] अजाद्यदन्त शब्दरूप का पूर्वं प्रयोग होता है ॥

उदा०—उष्ट्रखरम् (ऊँट और गधा) । उष्ट्रशशकम् (ऊँट और खरगोश) ॥ उदाहरणों में उष्ट्र शब्द अजादि तथा अदन्त है, अतः वह पहले आया है । खर एवं शशक केवल अदन्त हैं, अतः पूर्वं प्रयोग नहीं हुआ है ॥ यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ द्वन्द्वसमास में कई अजाद्यदन्त शब्द होंगे, वहाँ 'बहुषु अनियमः' इस वचन से कोई भी अजाद्यदन्त पहले आ सकता है । जैसे—उष्ट्ररथेन्द्राः, इन्द्ररथोष्ट्राः ॥

अल्पाक्षर पूर्व प्रयोग अल्पाक्षरम् ॥२॥२॥३४॥

अल्पाक्षरम् १।१॥ स०—अल्पोऽच् यस्मिन् तत् अल्पाच्, बहुव्रीहिः ॥ द्वे इमे अल्पाची, इदमनयोरतिशयेन अल्पाच्, तत् अल्पाक्षरम् । द्विवचनविभज्यो० (५।३।५७) इत्यनेन तरप् प्रत्ययः ॥ अनु०—द्वन्द्वे, पूर्वम् ॥ अर्थः—द्वन्द्वे समासे अल्पाक्षरं शब्दरूपं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—प्लक्षन्यग्रोधी । धवखदिरपलाशाः ॥

भाषार्थः—[अल्पाक्षरम्] अल्पाक्षर शब्दरूप का द्वन्द्वसमास में पूर्वं प्रयोग होता है ॥

उदा०—प्लक्षन्यग्रोधी (पिलखन और बटवृक्ष) । धवखदिरपलाशाः ॥

प्लक्ष और न्यग्रोध में प्लक्ष अल्प अक्षवाला है, तथा धवखदिरपलाशाः में धव अल्पाक्षर है, सो ये पहले आये हैं ॥ द्वन्द्वसमास में अनियम प्राप्त होने पर इन सूत्रों ने नियम कर दिया ॥

सप्तमीविशेषण सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ ॥२॥२॥३५॥

सप्तमीविशेषणे १।२॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ स०—सप्तमी च विशेषणञ्च सप्तमीविशेषणे, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्वम् ॥ अर्थः—बहुव्रीहिसमासे सप्तम्यन्तं विशेषणञ्च पूर्वं प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—कण्ठे स्थितः कालो यस्य स कण्ठेकालः । उरसिलोमा । विशेषणम्—चित्रगुः, शबलगुः ॥

भाषार्थः—[बहुव्रीहौ] बहुव्रीहिसमास में [सप्तमीविशेषणे] सप्तम्यन्त जो पद, तथा विशेषणवाची जो पद हो, उसका पूर्वं प्रयोग करना चाहिये ॥

बहुव्रीहिसमास में सभी पद उपसर्जन होते हैं। अतः कोई भी पद उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से पहले आ सकता था । कोई नियम नहीं था, सो यह सूत्र बनाया ॥

उदा०—कण्ठेकालः (कण्ठ में स्थित है काला पदार्थ जिसके) । उरसिलोमा (छाती में बाल हैं जिसके) । विशेषणम्—चित्रगुः, शबलगुः ॥ उदाहरणों में कण्ठे उरसि सप्तम्यन्त होने से पहले आये हैं । यहाँ अमूर्द्धमस्तकात् स्वा० (६।३।१०) से विभक्ति का अलुक् हुआ है । सप्तम्युपमान० (वा० २।२।२४) इस वार्त्तिक से समास, तथा स्थित शब्द का लोप हुआ है ॥ चित्र तथा शबल यह गौ के विशेषण हैं, सो पहले आये हैं ॥

यहाँ से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति २।२।३७ तक जायेगी ॥

निष्ठा ॥२।२।३६॥

रु, तन्तु पूर्व प्रयोग

निष्ठा १।१॥ अनु०—बहुव्रीहौ, पूर्वम् ॥ अर्थः—निष्ठान्तं शब्दरूपं बहुव्रीहौ समासे पूर्व प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—कटः कृतोऽनेन कृतकटः । भिक्षितभिक्षः । अवमुक्तोपानत्कः । ग्राहूतसुब्रह्मण्यः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहिसमास में [निष्ठा] निष्ठान्त शब्दरूप का पहले प्रयोग होता है ॥ उदा०—कृतकटः (जिसने चटाई बना ली है) । भिक्षितभिक्षः (जिसने भिक्षा याचन करली है) । अवमुक्तोपानत्कः (जिसने जूता उतार दिया है) । ग्राहूतसुब्रह्मण्यः (जिसने सुब्रह्मण्य को बुलाया है) ॥ कृत तथा भिक्षित आदि निष्ठान्त शब्द हैं ॥

यहाँ से 'निष्ठा' की अनुवृत्ति २।२।३७ तक जायेगी ॥

आहिताग्नि-पूर्व प्रयोग

वाहिताग्न्यादिषु ॥२।२।३७॥

वा अ० ॥ आहिताग्न्यादिषु ७।३॥ स०—आहिताग्निः आदिर्येषां ते आहिताग्न्यादयः, तेषु, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—निष्ठा, बहुव्रीहौ, पूर्वम् ॥ अर्थः—पूर्वेण नित्यं पूर्वनिपाते प्राप्ते विकल्प उच्यते ॥ आहिताग्न्यादिषु निष्ठान्तं शब्दरूपं बहुव्रीहौ समासे पूर्व वा प्रयोक्तव्यम् ॥ उदा०—आहितोऽग्निः येन स आहिताग्निः, अग्न्याहितः । जातपुत्रः, पुत्रजातः ॥

भाषार्थः—[आहिताग्न्यादिषु] आहिताग्न्यादिगण में पठित निष्ठान्त शब्दों का बहुव्रीहिसमास में [वा] विकल्प से पूर्व प्रयोग करना चाहिये, अर्थात् पूर्वप्रयोग तथा परप्रयोग दोनों होंगे ॥ पूर्वसूत्र से नित्य ही निष्ठान्त का पूर्वप्रयोग प्राप्त था, विकल्प कह दिया ॥ उदा०—आहिताग्निः (जो अग्न्याधान कर चुका), अग्न्याहितः । जातपुत्रः (जिसके पुत्र उत्पन्न हुआ), पुत्रजातः ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति २।२।३८ तक जायेगी ॥

कडाराः कर्मधारये ॥२।२।३८॥

कडाराः १।३॥ कर्मधारये ७।१॥ अनु०—वा, पूर्वम् ॥ अर्थः—कर्मधारये समासे कडारादयः शब्दा वा पूर्व प्रयोक्तव्याः ॥ उदा०—कडारश्चासौ जैमिनिश्च कडारजैमिनिः, जैमिनिकडारः ॥

भाषार्थः—[कर्मधारये] कर्मधारयसमास में [कडाराः] कडारादि शब्दों का विकल्प से पूर्वप्रयोग होता है ॥ 'कडाराः' में बहुवचन होने से कडारादिगण लिया गया है ॥ विशेषणं विशेष्येण० (२।१।५६) से समास होने पर विशेषण का पूर्व-निपात उपसर्जनं० (२।२।३०) से प्राप्त था, यहाँ विकल्प कह दिया ॥ उदा०—कडारजैमिनिः (पीला जैमिनि), जैमिनिकडारः ॥

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

[विभक्ति-प्रकरणम्]

अनुक्त

अनभिहिते ॥२।३।१॥

अनभिहिते ७।१॥ स०—न अभिहितम् अनभिहितम्, तस्मिन्, नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—अनभिहिते = अकथिते = अनुक्ते = अनिर्दिष्टे कर्मादौ विभक्तिर्भवतीत्यधिकारो वेदित्यः ॥ सामान्येन आपादपरिसमाप्तेः अधिकारोऽयं वेदितव्यः । विशेषतस्तु कारकविभक्तिष्वेव प्रवर्तते, न तु उपपदविभक्तिषु, तत्रानावश्यकत्वात् ॥ केनानभिहितम् ? तिङ्कृततद्धितसमासैः ॥ उदा०—कटं करोति । ग्रामं गच्छति ॥ 'कटम्, ग्रामम्' इत्यत्रानभिहितत्वात् कर्मणि द्वितीया (२।३।२) इति द्वितीया भवति ॥

भाषार्थः—[अनभिहिते] अनभिहित = अकथित = अनुक्त = अनिर्दिष्ट कर्मादि कारकों में आगे कही हुई विभक्तियाँ होती हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ यह अधिकार सामान्यतया पाद के अन्त तक है । पर विशेषतया कारक-विभक्तियों में ही प्रवृत्त होता है, उपपद-विभक्तियों (अर्थात् अमुक के योग में अमुक विभक्ति होती है) में अनावश्यक होने से प्रवृत्त नहीं होता ॥ अब प्रश्न होता है, किसके द्वारा अनभिहित ? सो तिङ् कृत तद्धित एवं समास के द्वारा अनभिहित लिया गया है । जैसा कि—'देवदत्तः कटं करोति' यहाँ 'करोति' तिङन्त पद में तिप् कर्त्ता में आया है । अतः उसका कर्त्ता के साथ ही समानाधिकरण है, अर्थात् कर्त्ता को ही तिङन्त पद कहता है, 'कट' कर्म को नहीं कहता । सो यह 'कट' अनभिहित कर्म हो गया, अतः कर्मणि द्वितीया (२।३।२) से अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति हो गई है ।

इसी प्रकार ग्रामं गच्छति में जानें ॥ अनभिहित कहने से अभिहित कर्मादि कारकों में विभक्तियाँ नहीं होतीं । जैसा कि—‘क्रियते कटः देवदत्तेन’ यहाँ ‘क्रियते’ में ‘त’ कर्मवाच्य में आया है । सो कर्म के साथ समानाधिकरण होने से कर्म को ही कहता है, कर्त्ता को नहीं । अतः यहाँ ‘कट’ अभिहित कर्म है । सो कट में पहले के समान द्वितीया विभक्ति नहीं हुई, अपितु प्रातिपदिकार्थ० (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति हो गई है । जो तिङ् से अभिहित है, उसका जो वचन होगा, वही क्रिया का भी होगा, यह भी समझना चाहिये ॥

इसी प्रकार कृत् में ‘कृतः कटः देवदत्तेन’ यहाँ ‘कृतः’ में ‘क्त’ कर्म में आया है, अतः कर्म को कहता है । सो कर्म कृत् के द्वारा अभिहित है । अतः उसमें द्वितीया न होकर पूर्वोक्तानुसार प्रथमा हो गई है । देवदत्त कर्त्ता ‘क्त’ के द्वारा अभिहित नहीं है, अतः अनभिहित कर्त्ता में कर्त्तृकरणयो० (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति हुई है ॥ इसी प्रकार तद्धित तथा समास के विषय में भी समझ लेना चाहिये । यह सब द्वितीयावृत्ति का विषय है, अतः अधिक नहीं दिया ।

कर्मणि द्वितीया ॥२।३।२॥

द्वितीया

कर्मणि ७।१॥ द्वितीया १।१॥ अनु०—अनभिहिते ॥ अर्थः—अनभिहिते कर्मणि द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—ग्रामं गच्छति । कटं करोति ॥

भाषार्थः—अनभिहित [कर्मणि] कर्म में [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है ॥ पूर्व सूत्र में ‘कट’ अनभिहित कैसे है, यह दिखा चुके हैं । अतः कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४६) से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति इस सूत्र से हो जाती है ॥

यहाँ से ‘द्वितीया’ की अनुवृत्ति २।३।५ तक, तथा ‘कर्मणि’ की अनुवृत्ति २।३।३ तक जायेगी ॥

तृतीया च होश्छन्दसि ॥२।३।३॥

तृतीया

तृतीया १।१॥ च अ० ॥ होः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—अनभिहिते, कर्मणि, द्वितीया ॥ अर्थः—छन्दसि विषये “हु दानादनयोः” इत्येतस्य घातोरनभिहिते कर्मणि कारके तृतीया विभक्तिर्भवति, चकाराद् द्वितीया च ॥ उदा०—यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूम् अग्निहोत्रं जुहोति ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] छन्दविषय में [होः] हु धातु के अनभिहित कर्म में [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है, [च] चकार से द्वितीया विभक्ति भी होती है ॥ उदा०—यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति (लप्सी को अग्नि में डालता है), यवागूम् अग्निहोत्रं जुहोति ॥ यवागू + टा, इको यणचि (६।१।७४) लगाकर यवाग्वा बन गया ॥

निपातन

अन्तरान्तरेणयुक्ते ॥२।३।४॥

अन्तरान्तरेणयुक्ते ७।१॥ स०—अन्तरा च अन्तरेण च अन्तरान्तरेणो, ताम्भ्यां युक्तम् अन्तरान्तरेणयुक्तम्, तस्मिन्, द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वितीया ॥ अर्थः—अन्तरा अन्तरेण शब्दौ निपातौ, ताम्भ्यां योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः । अन्तरेण पुरुषकारं न किञ्चित् लभ्यते । अग्निमन्तरेण कथं पचेत् । अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः ॥

भाषार्थः—[अन्तरान्तरेणयुक्ते] अन्तरा अन्तरेण शब्द निपात हैं, उनके योग में द्वितीया विभक्ति होती है ॥ उदा०—अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः (तुम्हारे और मेरे बीच में कमण्डलु है) । अन्तरेण पुरुषकारं न किञ्चित् लभ्यते (बिना पुरुषार्थ के कुछ भी प्राप्त नहीं होता) । अग्निमन्तरेण कथं पचेत् (अग्नि के बिना कैसे पके) । अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः (तुम्हारे और मेरे बीच में कमण्डलु है) ॥

द्वितीया

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ॥२।३।५॥

कालाध्वनोः ७।२॥ अत्यन्तसंयोगे ७।१॥ स०—कालश्च अघ्वा च कालाध्वानो, तयोः कालाध्वनोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अन्तर्मतिक्रान्तोऽत्यन्तः, अत्यन्तः संयोगः अत्यन्तसंयोगः, तस्मिन्, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—द्वितीया ॥ अर्थः—कालवाचिनि शब्दे, अघ्ववाचिनि शब्दे च अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—मासम् अघीतोऽनुवाकः । मासं कल्याणी । मासं गुडधानाः । अघ्वनि—क्रोशमधीते । क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशं पर्वतः ॥

भाषार्थः—[अत्यन्तसंयोगे] अत्यन्त संयोग गम्यमान होने पर [कालाध्वनोः] कालवाची और अघ्ववाची—मार्गवाची शब्दों में द्वितीया विभक्ति होती है ॥ अत्यन्तसंयोग का अर्थ है—क्रिया गुण अथवा द्रव्य के साथ काल तथा अघ्वा का पूर्ण सम्बन्ध ॥

उदा०—मासम् अघीतोऽनुवाकः (महीनेभर अनुवाक पढ़ा) । मासं कल्याणी (मासभर सुखदायी) । मासं गुडधानाः (मासभर गुडधानी) । अघ्वा—क्रोशमधीते (कोसभर पढ़ता है) । क्रोशं कुटिला नदी (कोसभर तक नदी टेढ़ी है) । क्रोशं पर्वतः (कोस भर तक पर्वत है) ॥

यहाँ से 'कालाध्वनोः' की अनुवृत्ति २।३।७ तक, तथा 'अत्यन्तसंयोगे' की अनुवृत्ति २।३।६ तक जायेगी ॥

अपवर्गे तृतीया ॥२॥३॥६॥

तृतीया

(accomplishment of a nation)

अपवर्गे ७।१॥ तृतीया १।१॥ अनु०—कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ॥ अर्थः—
अपवर्गे गम्यमाने कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—मासेना-
नुवाकोऽधीतः, संवत्सरेणानुवाकोऽधीतः । अध्वनः—क्रोशेनानुवाकोऽधीतः, योजनेनानु-
वाकोऽधीतः ॥

भाषार्थः—पूर्वसूत्र से द्वितीया प्राप्त थी । यहाँ पर [अपवर्गे] अपवर्ग (अर्थात्
क्रिया की समाप्ति होने पर फल भी मिल जाये) प्रतीत होने पर कालवाची और
मागवाची शब्दों से अत्यन्तसंयोग गम्यमान होने पर [तृतीया] तृतीया विभक्ति
होती है ॥

उदा०—मासेनानुवाकोऽधीतः (मासभर में अनुवाक पढ़ लिया, और उसे याद
भी कर लिया), संवत्सरेणानुवाकोऽधीतः । अध्वा का—क्रोशेनानुवाकोऽधीतः,
योजनेनानुवाकोऽधीतः (कोश एवं योजनभर में अनुवाक पढ़ लिया) ॥ मासेनानुवाको-
ऽधीतः का अर्थ यह हीगा कि मासभर में अनुवाक पढ़ा, और वह अच्छे प्रकार याद
भी हो गया । सो याद हो जाना अपवर्ग हुआ ॥ अनुवाक, अष्टकादि वेद में कुछ
मन्त्रों के गणन का नाम है ॥

सप्तमी, पञ्चमी

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये ॥२॥३॥७॥

सप्तमीपञ्चम्यौ १।२॥ कारकमध्ये ७।१॥ स०—सप्तमी च पञ्चमी च
सप्तमीपञ्चम्यौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । कारकयोर्मध्यः कारकमध्ये, तास्मन्.....,
षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कालाध्वनोः ॥ अर्थः—कारकयोर्मध्ये यो कालाध्वानो तद्-
वाचिभ्यां शब्दाभ्यां सप्तमीपञ्चम्यौ विभक्ती भवतः ॥ उदा०—अद्य देवदत्तो भुक्त्वा
द्वयहे भोक्ता । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्वयहाद् भोक्ता । एव अद्ये अद्यहाद् वा भोक्ता ।
अध्वनः—इहस्थोऽयमिषवासः क्रोशे लक्ष्यं विध्यति ॥ क्रोशात् लक्ष्यं विध्यति ॥

भाषार्थः—[कारकमध्ये] दोनों कारकों के बीच में जो काल और अध्वा तद्वाची
शब्दों में [सप्तमीपञ्चम्यौ] सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति होती हैं ॥

उदा०—अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्वयहे भोक्ता (आज देवदत्त खाकर दो दिन के
पश्चात् खायेगा) । अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्वयहाद् भोक्ता । एवं अद्ये अद्यहाद् वा भोक्ता ।
अध्वा का—इहस्थोऽयमिषवासः क्रोशे लक्ष्यं विध्यति (यहाँ पर स्थित यह बाण चलाने-
वाला कोसभर पर लक्ष्य को बाँधता है) । क्रोशात् लक्ष्यं विध्यति ॥ अद्य देवदत्तो

भुक्त्वा द्वयहे भोक्ता, यहाँ कारक को शक्ति मानने से दो कारकों के मध्यवाली बात ठीक हो जाती है। क्योंकि आज की भोजनक्रिया की कर्त्तृ-शक्ति, तथा दो दिन के पश्चात् की भोजनक्रिया का कर्त्तृ-शक्ति भिन्न-भिन्न हैं, अतः कारकमध्य हो गया। इसी प्रकार इहस्थोऽयमिष्टवासः क्रोशे लक्ष्यं विध्यति, यहाँ भी 'इष्टवासः' कर्त्ता है 'लक्ष्यं' कर्म है। सो 'क्रोश' अर्थात् कर्त्ता एवं लक्ष्य कर्म कारक के मध्य में है। अतः क्रोश शब्द से सप्तमी एवं पञ्चमी हो गई है। अथवा कर्म और अपादान कारक के मध्य में है। कर्म पूर्ववत् ही है, तथा अपादान जहाँ से बाण छूटता है वह है ॥

द्वितीया

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ॥२।३।८॥

कर्मप्रवचनीययुक्ते ७।१॥ द्वितीया १।१॥ स०—कर्मप्रवचनीयैर्युक्तम् कर्म-प्रवचनीययुक्तम्, तस्मिन्..... तृतीयातत्पुरुषः ॥ अर्थः—कर्मप्रवचनीयसंज्ञकः शब्दैर्युक्ते द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् ॥

भाषार्थः—[कर्मप्रवचनीययुक्ते] कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्दों के योग में [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है ॥ उदाहरण में अनुलक्षणे (१।४।८३) से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है, अतः संहिताम् यहाँ द्वितीया विभक्ति हो गई ॥

यहाँ से 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' की अनुवृत्ति २।३।११ तक जायेगी ॥

सप्तमी

यस्मादधिकं यस्य चैश्वरवचनं तत्र सप्तमी ॥२।३।९॥

यस्मात् ५।१॥ अधिकम् १।१॥ यस्य ६।१॥ च अ० ॥ ईश्वरवचनम् १।१॥ तत्र अ० ॥ सप्तमी १।१॥ स०—ईश्वरस्य वचनम् ईश्वरवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीययुक्ते ॥ अर्थः—यस्माद् अधिकं यस्य च ईश्वरवचनं तत्र कर्मप्रवचनीययोगे सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—उपखार्या द्रोणः, उपनिष्के कार्षापणम् । अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः ॥

भाषार्थः—[यस्मात्] जिससे [अधिकम्] अधिक हो, [च] और [यस्य] जिसका [ईश्वरवचनम्] ईश्वरवचन अर्थात् सामर्थ्य हो, [तत्र] उसमें कर्मप्रवचनीय के योग में [सप्तमी] सप्तमी विभक्ति होती है ॥ पूर्वसूत्र से द्वितीया प्राप्त थी, उसका यह अपवाद है ॥

उदा०—उप खार्या द्रोणः (खारी से अधिक द्रोण), उप निष्के कार्षापणम् । अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः ।

स्व स्वामी दोनों सम्बन्धी शब्द होने से पञ्चाल तथा ब्रह्मदत्त दोनों में पर्याय से सप्तमी विभक्ति होती है ॥ उपखार्याम् आदि में उप की उपोऽधिके च (१।४।८६) से, तथा अधि ब्रह्मदत्ते में अधि की अधिरीश्वरे (१।४।९६) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा है ॥

पञ्चम्यपाङ्परिभिः ॥२।३।१०॥

पञ्चमी

पञ्चमी १।१॥ अपाङ्परिभिः ३।३॥ स०—अपश्च आङ् च परिश्च अपाङ्-
परयः, तैः……, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीययुक्ते ॥ अर्थः—अप आङ्
परि इत्येतैः कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञकैर्योगे पञ्चमी विभक्तिभवति ॥ उदा०—अप त्रिगर्तो-
म्यो वृष्टो देवः । अपाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः । परि त्रिगर्तोम्यो वृष्टो देवः ॥

भाषार्थः—कर्मप्रवचनीय-संज्ञक [अपाङ्परिभिः] अप आङ् परि के योग में
[पञ्चमी] पञ्चमी विभक्ति होती है ॥ अपपरी वर्जने (१।४.८७), तथा आङ्
मर्यादावचने (१।४।८८) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति २।३।११ तक जायेगी ॥

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ॥२।३।११॥

पञ्चमी

प्रतिनिधिप्रतिदाने १।२॥ च अ० ॥ यस्मात् ५।१॥ स०—प्रतिनिधिश्च प्रति-
दानञ्च प्रतिनिधिप्रतिदाने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पञ्चमी, कर्मप्रवचनीययुक्ते ॥
अर्थः—यस्मात् प्रतिनिधिः यस्माच्च प्रतिदानं तत्र कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी विभक्ति-
भवति ॥ उदा०—अभिमन्युरर्जुनतः प्रति, प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति ॥ प्रतिदाने—
तिलेभ्यः प्रति मापान् अस्मै प्रतियच्छति ॥

भाषार्थः—[यस्मात्] जिससे [प्रतिनिधिप्रतिदाने] प्रतिनिधित्व हो, तथा
जिससे प्रतिपादन हो, उससे [च] पञ्चमी विभक्ति होती है, ॥ उदाहरण में अर्जुन
तथा वासुदेव से प्रतिनिधित्व हुआ है । सो उसमें पञ्चमी विभक्ति होने से प्रतियोगे
पञ्चमन्नास्तसिः (५।४।४४) से तसि प्रत्यय हुआ है । प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः
(१।४।६१) से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है ॥ तिलों से उड़द बदले जा रहे
हैं, सो प्रतिदान होने से तिल में पञ्चमी विभक्ति हुई ॥

द्वितीया चतुर्थी

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ॥२।३।१२॥

गत्यर्थकर्मणि ७।१॥ द्वितीयाचतुर्थ्यौ १।२॥ चेष्टायाम् ७।१॥ अनध्वनि ७।१॥
स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः, गत्यर्थानां (घातूनां) कर्म गत्यर्थकर्म, तस्मिन्……,
बह्व्रीहिगर्भपट्ठीतत्पुरुषः । द्वितीया च चतुर्थी च द्वितीयाचतुर्थ्या, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।
न अध्वा अनध्वा, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अनभिहिते ॥ अर्थः—चेष्टाक्रियाणां
गत्यर्थानां घातूनाम् अध्ववर्जितेऽनभिहिते कर्मणि कारके द्वितीयाचतुर्थ्यौ विभक्त्या
भवतः ॥ उदा०—ग्रामं व्रजति, ग्रामाय व्रजति । ग्रामं गच्छति, ग्रामाय गच्छति ॥

भाषार्थः—[चेष्टायाम्] चेष्टा जिनकी क्रिया हो, ऐसे [गत्यर्थकर्मणि] गत्य-

यंक धातुओं के [अनध्वनि] मार्गरहित कर्म में [द्वितीयाचतुर्थ्यौ] द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति होती हैं ॥

उदा०—ग्रामं व्रजति (गाँव को जाता है) इत्यादि में व्रजादि गत्यर्थक धातु हैं । इनका कर्म ग्राम है, सो केवल द्वितीया (२।३।२) प्राप्त थी, चतुर्थी का भी विधान कर दिया है ॥ गाँव को चलकर चेष्टा करके जायेगा, अतः चेष्टा-क्रियावाली व्रज वा गम् धातु है ॥

चतुर्थी

चतुर्थी सम्प्रदाने ॥२।३।१३॥

चतुर्थी १।१॥ सम्प्रदाने ७।१॥ अनु०—अनभिहिते ॥ अर्थः—अनभिहिते सम्प्रदानकारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—माणवकाय भिक्षां ददाति । शिष्याय विद्यां ददाति । देवदत्ताय रोचते मोदकः ॥

भाषार्थः—अनभिहित [सम्प्रदाने] सम्प्रदान कारक में [चतुर्थी] चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

उदा०—माणवकाय भिक्षां ददाति (बच्चे को भिक्षा देता है) । शिष्याय विद्यां ददाति । देवदत्ताय रोचते मोदकः ॥

सम्प्रदान संज्ञा कर्मणा यमभि० (१।४।३२) से होती है । देवदत्ताय रोचते में रुच्यर्थानां प्रीय० (१।४।३३) से सम्प्रदान संज्ञा हुई है ॥

यहाँ से 'चतुर्थी' की अनुवृत्ति २।३।१८ तक जायेगी ॥

चतुर्थी

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ॥२।३।१४॥

क्रियार्थोपपदस्य ६।१॥ च अ० ॥ कर्मणि ७।१॥ स्थानिनः ६।१॥ स०—क्रियायै इयं=क्रियार्था, तत्पुरुषः । क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य स क्रियार्थोपपदः (धातुः), तस्य ..., उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः ॥ अनु०—चतुर्थी, अनभिहिते ॥ यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुज्यते शब्दः, स स्थानी ॥ अर्थः—स्थानिनः=अप्रयुज्यमानस्य क्रियार्थोपपदस्य धातोः अनभिहिते कर्मणि कारके चतुर्थी विभक्तिर्भवति ॥ कर्मणि द्वितीया प्राप्ता, चतुर्थी विधीयते ॥ उदा०—एधेभ्यो व्रजति । पुष्पेभ्यो व्रजति । वृकेभ्यो व्रजति । शशेभ्यो व्रजति ॥

भाषार्थः—[क्रियार्थोपपदस्य] क्रिया के लिये क्रिया उपपद हो जिसकी, ऐसी [स्थानिनः] अप्रयुज्यमान धातु के अनभिहित [कर्मणि] कर्म कारक में [च] भी चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

उदा०—एधेभ्यो व्रजति (इँधन को लेने के लिये जाता है) । पुष्पेभ्यो व्रजति । वृकेभ्यो व्रजति (भेड़ियों को मारने के लिये जाता है) । शशेभ्यो व्रजति ॥

उदाहरण में व्रजति क्रियार्थं क्रिया उपपद है । क्योंकि जाना इसलिये हो रहा है कि ईंधन को लाना क्रिया करे, या वृकों को मारे । सो क्रिया के लिये क्रिया हो रही है । यहाँ एघान् (आहतुं) व्रजति, वृकान् (हन्तुं) व्रजति, ऐसा चाहिये था, पर स्थानिनः = अग्रयुज्यमान कहा है । अतः आहतुं या हन्तुं का प्रयोग नहीं किया है, केवल उसका अर्थ है । यहाँ पर तुमुन्प्बुलो क्रियायाम्० (३।३।१०) से व्रजति क्रिया उपपद है, क्योंकि क्रियायाम् में सप्तमी है, उसका विशेषण क्रियार्थायाम् है । अतः तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।६२) से उपपद संज्ञा हो गई है ॥ तुमुन्प्बुलो क्रियायां० से आहतुंम् आदि में तुमुन् प्रत्यय होता है, यह सूत्र उसी का विषय है ॥

तुमर्थाच्च भाववचनात् ॥२॥३॥१५॥

तुमर्थात् ५।१॥ च अ० ॥ भाववचनात् ५।१॥ स०—तुमुनः अर्थ इवार्थो यस्य स तुमर्थः, तस्मात् ..., बहुव्रीहिः । उच्येते अनेनेति वचनः, भावस्य वचनः भाववचनः, तस्मात्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—चतुर्थी, अनभिहिते ॥ अर्थः—तुमर्थाद् भाववचन-प्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकात् चतुर्थी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—पाकाय व्रजति । त्यागाय व्रजति । सम्पत्तये व्रजति । इष्टये व्रजति ॥

भाषार्थः—[तुमर्थात्] तुमर्थ [भाववचनात्] भाववचन से [च] भी चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

उदा०—पाकाय व्रजति (पकाने के लिये जाता है) । त्यागाय व्रजति (त्याग करने के लिए जाता है) । सम्पत्तये व्रजति (सम्पन्न करने के लिए जाता है) । इष्टये व्रजति (यज्ञ करने के लिए जाता है) ॥

इस सूत्र में प्रयुक्त भाववचन शब्द सी भाववचनाश्च (३।३।११) के विषय को लक्षित किया गया है । उस सूत्र से क्रियार्थक्रिया के उपपद होने पर घञ् आदि प्रत्ययों का विधान किया है । उसी विषय में तुमुन्प्बुलो० (३।३।१०) से तुमुन् भी विहित है । अतः घञ् आदि तुमर्थ भाववचन हुए । इस प्रकार पक्तुं व्रजति, यष्टुं व्रजति के अर्थ में पाकाय व्रजति, इष्टये व्रजति के प्रयोग के लिए यह सूत्र है ॥

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वषट् योगाच्च ॥२॥३॥१६॥

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वषट् योगात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—नमश्च स्वस्ति च स्वाहा च स्वधा च अलञ्च वषट् च, इति नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वषट्, तैर्योगः नमःस्वस्ति - योगः, तस्मात्, द्वन्द्वगर्भस्तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—चतुर्थी ॥ अर्थः—नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं, वषट् इत्येतैः शब्दैर्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—नमो गुरुभ्यः, नमो देवेभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः । अग्नये स्वाहा, सोमाय

स्वाहा । स्वधा पितृभ्यः । अलं मल्लो मल्लाय । अलमित्यर्थग्रहणम् — प्रभुर्मल्लो मल्लाय । वषड् अग्नये वषड् इन्द्राय ॥

भाषार्थः [बमः स्वस्तिस्वाहास्वधालं वषड्योगात्] नमः स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा अलं, वषट् इन शब्दों के योग में [च] भी चतुर्थी विभक्ति होती है ॥

उदा० — नमो गुरुभ्यः (गुरुओं को नमस्कार है), नमो देवेभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः (प्रजा का कल्याण हो) । अग्नये स्वाहा (अग्नि देवता के लिये आहुति) । सोमाय स्वाहा (सोम के लिए आहुति) । स्वधा पितृभ्यः (पितरों के लिए अन्न) । अलं मल्लो मल्लाय (फलवान के लिए फलवान समर्थ है), प्रभुर्मल्लो मल्लाय (मल्ल मल्ल के लिए समर्थ है) । वषड् अग्नये (अग्नि के लिए हवि त्याग), वषड् इन्द्राय ॥

चतुर्थी

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ॥२।३।१७॥

मन्यकर्मणि ७।१॥ अनादरे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अप्राणिषु ७।३॥ स० — मन्यस्य कर्म मन्यकर्म तस्मिन् । षष्ठीतत्पुरुषः । न अन्नरः अनादरः, तस्मिन् अनादरे नञ्तत्पुरुषः । न प्राणिनः अप्राणिनः, तेषु, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु० — चतुर्थी ॥ अर्थः — अनादरे गम्यमाने, प्राणिर्वर्जिते मन्यते कर्मणि विभाषा चतुर्थी विभक्तिर्भवति ॥ उदा० — न त्वा तृणं मन्ये, न त्वा तृणाय मन्ये । न त्वा ब्रुस मन्ये, न त्वा ब्रुसाय मन्ये ॥

भाषार्थः — [अनादरे] अनादर गम्यमान होने पर, [मन्यकर्मणि] मन्य धातु के [अप्राणिषु] प्राणिर्वर्जित कर्म में चतुर्थी विभक्ति [विभाषा] विकल्प से होती है ॥

उदा० — न त्वा तृणं मन्ये (मैं तमको तिनके के बराबर भी नहीं समझता), न त्वा तृणाय मन्ये । न त्वा ब्रुसं मन्ये (मैं तमको ब्रुस के बराबर भी नहीं समझता) न त्वा ब्रुसाय मन्ये ॥

मन्य धातु का तृणं प्राणिर्वर्जित कर्म है, सो उसमें विकल्प से चतुर्थी हो गई है । तिनका भी नहीं समझता, ऐसा कहने से स्पष्ट अनादर है । जिस कर्म से अनादर प्रतीत होता है, उसी में चतुर्थी होती है, साधारण कर्म में नहीं । इसलिए तृणाय में चतुर्थी हुई, त्वा में नहीं ॥ विश्वादिगण की मन धातु का यहा ग्रहण है ॥ द्वितीया की प्राप्ति में यह विघात है ॥

कर्त्तृकरणयोस्तृतीया ॥२।३।१८॥

तृतीया

कर्त्तृकरणयोः ७।२॥ तृतीया १।१॥ स० — कर्त्ता च करणञ्च कर्त्तृकरणे, तयोः, इतरैतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु० — अनभिहिते ॥ अर्थः — अनभिहितयोः कर्त्तृकरणयोः

स्तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—कर्तरि—देवदत्तेन कृतम् । यज्ञदत्तेन भुक्तम् ।
कण्ठे—असिना छिनत्ति । दात्रेण लुनाति । अग्निना पचति ॥

भाषार्थः—अनभिहित [कर्तृकरणयोः] कर्ता और करण में [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है ॥ उदा०—देवदत्तेन कृतम् (देवदत्त के द्वारा किया गया) । यज्ञदत्तेन भुक्तम् । करण में—असिना छिनत्ति (तलवार के द्वारा काटता है) । दात्रेण लुनाति (दरांती के द्वारा कपटता है) । अग्निना पचति (अग्नि के द्वारा पकाता है) ॥

देवदत्तेन कृतम् में देवदत्त अनभिहित कर्ता है, क्योंकि कृतम् में 'क्त' प्रत्यय कर्म में तयोरेव कृत्यक्त० (३।४।७०) से हुआ है । सो कृतम् क्रिया का समानाधिकरण कर्म से है, न कि कर्ता से । अतः कर्ता अनभिहित—अकथित—अनुक्त है, सो तृतीया हो गई । असिना छिनत्ति आदि में क्रिया का समानाधिकरण 'करण असि' से नहीं है अतः वह भी अनभिहित करण है । साधकतमं करणम् (१।४।४२) से करण संज्ञा, तथा स्वतन्त्रः कर्ता (१।४।५४) से कर्ता संज्ञा पूर्व कह चुके हैं ॥ अनभिहिते (२।३।१) सूत्र पर अनभिहित विषय में हम पर्याप्त समझा आये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी जानें ॥

यहाँ से 'तृतीया' की अनुवृत्ति २।३।२३ तक जायेगी ॥

सहयुक्तेऽप्रधाने ॥२।३।१६॥

तृतीया

सहयुक्ते ७।१॥ अप्रधाने ७।१॥ स०—सह शब्देन युक्तम् सहयुक्तम्, तस्मिन्, तृतीयातत्पुरुषः । न प्रधानम् अप्रधानं, तस्मिन्, नञ्त्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीया ॥ अर्थः—सहयुक्तेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—पुत्रेण सह आगतः पिता । पुत्रेण सह स्थूलः । पुत्रेण सह गोमान् । पुत्रेण सार्द्धम् ॥

भाषार्थः—[सहयुक्ते] सह के अथवाची शब्दों के योग में [अप्रधाने] अप्रधान में तृतीया विभक्ति हो जाती है ॥

उदा०—पुत्रेण सह आगतः पिता (पुत्र के साथ पिता आया) । पुत्रेण सह स्थूलः (पुत्र के साथ मोटा) । पुत्रेण सह गोमान् (पुत्र के साथ गौवाला) । पुत्रेण सार्द्धम् (पुत्र के साथ) ॥

क्रिया-गुण-द्रव्य से दो पदार्थों का सम्बन्ध होने पर 'सह' का प्रयोग होता है । दोनों में से जिसका क्रियादि के साथ सम्बन्ध साक्षात् शब्द द्वारा कहा जाता है, उस को प्रधान माना जाता है । उदाहरणों में पिता का सम्बन्ध आगमनक्रिया, स्थूलता-गुण तथा गोद्रव्य के साथ शब्दों द्वारा प्रतिपादित है । इनके साथ पुत्र का सम्बन्ध

अनुमित है, अतः पुत्र अप्रधान है। सह के अर्थवाची के योग में तृतीया होती है। सो सादृष्टम् आदि के योग में भी हो गई। तथा जहाँ केवल सह का अर्थ रहे, सहाय्य शब्दों का योग न हो, वहाँ भी तृतीया हो जाती है। यथा—बूढ़ो यूना ॥

तृतीया

येनाङ्गविकारः ॥२॥३॥१०॥

येन ३।१॥ अङ्गविकारः १।१॥ अङ्गम् अस्यास्तीति अङ्गः, अशं आदिभ्योऽच् (१।२।१२७) इत्यनेन मतुवर्धे अम् प्रत्ययः ॥ स०—अङ्गस्य विकारः अङ्गविकारः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीया ॥ अर्थः—येन अङ्गेन अङ्गस्य=शरीरस्य विकारो लक्ष्यते तस्मात् तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अक्षणा काणः, पादेन खञ्जः। पाणिना कुण्ठः ॥

भाषार्थः—[येन] जिस अङ्ग (शरीरावयव) के द्वारा [अङ्गविकारः] अङ्गी अर्थात् शरीर का विकार लक्षित हो, उससे तृतीया विभक्ति होती है ॥ अङ्ग अर्थात् शरीर के अवयव हैं जिस समुदाय में, वह शरीर (समुदाय) 'अङ्ग' कहलाया। येन अर्थात् जिस अङ्ग के द्वारा, यहाँ आक्षेप से द्वितीया, अङ्ग शरीरावयववाची लिया गया है ॥ उदा०—अक्षणा काणः (आँख से काना)। पादेन खञ्जः (पैर से लंगड़ा)। पाणिना कुण्ठः (हाथ से लुञ्जा) ॥

उदाहरण में आँख शरीरावयव के द्वारा शरीर समुदाय का काणत्व विकार परिलक्षित हो रहा है, सो उसमें तृतीया हुई है। इसी प्रकार और उदाहरणों में भी समझें ॥

तृतीया

इत्थंभूतलक्षणे ॥२॥३॥२१॥

इत्थंभूतलक्षणे ७।१॥ लक्ष्यते अनेनेति लक्षणम् ॥ स०—कचित् प्रकारं प्राप्तः इत्थंभूतः, तस्य लक्षणम् इत्थंभूतलक्षणम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीया ॥ अर्थः—इत्थंभूतलक्षणे तृतीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्। अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत् ॥

भाषार्थः—[इत्थंभूतलक्षणे] इत्थंभूत का जो लक्षण उसमें तृतीया विभक्ति होती है ॥ उदा०—अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् (क्या आपने कमण्डलु लिये हुए छात्र को देखा)। अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत् (क्या आपने मेखलावाले छात्र को देखा) ॥

उदाहरण में मनुष्यत्व सामान्य है, उसमें छात्रत्व और ब्रह्मचारित्व प्रकार है, अर्थात् छात्रत्व प्रकार=धर्म को प्राप्त हुआ मनुष्य, ब्रह्मचारित्व प्रकार को प्राप्त हुआ मनुष्य, यह इत्थंभूत है। इस इत्थंभूत का कमण्डलु, और मेखला लक्षण हैं,

अर्थात् कमण्डलु से छात्र लक्षित किया जा रहा है, और मेखला से ब्रह्मचारी । अतः उनमें तृतीया हो गई है ॥ भू प्राप्ती चुराविगण धातु से क्त प्रत्यय होकर भूत शब्द बना है, अतः भूत का अर्थ प्राप्त है । इत्थम् में इदमस्थमुः (५।३।२४) से यमु प्रत्यय हुआ है ॥

संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि ॥२।३।२२॥

द्वितीया-तृतीया

संज्ञः ६।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ कर्मणि ७।१॥ अनु० — तृतीया, अनभिहिते ॥
अर्थः — सम्पूर्वस्य ज्ञाघातोरनभिहिते कर्मणि कारके तृतीया विभक्तिर्भवति विकल्पेन ॥
उदा० — मात्रा संजानीते बालः, मातरं सञ्जानीते । पित्रा संजानीते, पितरं सं-
जानीते ॥

भाषार्थः — [संज्ञः] सम्पूर्वक ज्ञा धातु के अनभिहित [कर्मणि] कर्मकारक में [अन्यतरस्याम्] विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है ॥ पक्ष में यथाप्राप्त द्वितीया विभक्ति होती है ॥

उदा० — मात्रा संजानीते बालः (बालक माता को पहचानता है), मातरं सञ्जानीते । पित्रा संजानीते, पितरं संजानीते ॥

मातृ शब्द संजानीते का कर्म है । सो उसमें द्वितीया तथा तृतीया विभक्ति हो गई है ॥ संप्रतिष्याम्० (१।३।४६) से संजानीते में आत्मनेपद हुआ है ॥

हेतौ ॥२।३।२३॥

तृतीया

हेतौ ७।१॥ अनु० — तृतीया ॥ अर्थः — हेतुवाचिशब्दे तृतीया विभक्तिर्भवति ॥
उदा० — विद्यया यशः । सत्सङ्गेन बुद्धिः । धनेन कुलम् ॥

भाषार्थः — [हेतौ] हेतुवाची शब्द में तृतीया विभक्ति होती है । जिससे किसी कार्य की सिद्धि की जाये वह 'हेतु' होता है ॥

उदा० — विद्यया यशः (विद्या के द्वारा यश प्राप्त हुआ) । सत्सङ्गेन बुद्धिः (सत्सङ्ग के द्वारा बुद्धि प्राप्त हुई) । धनेन कुलम् (धन के द्वारा कुल स्थित है) ॥
उदाहरण में विद्या के द्वारा यश प्राप्त हुआ, अतः वह हेतु है । इसी प्रकार अन्यो में भी समर्थ ॥ पूर्ववत् 'विद्या दा' आकर आडि चापः (७।३।१०५) से एत्व होकर विद्ये आ, एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगाकर विद्यया बन गया ॥ शेष पूर्ववत् है ॥

यहाँ से 'हेतौ' की अनुवृत्ति २।३।२७ तक जायेगी ॥

अकस्म्यं णे पञ्चमी ॥२।३।२४॥

अकस्मिन् ७।१॥ ऋणे ७।१॥ पञ्चमी १।१॥ अनु०—हेतो ॥ अर्थः—ऋणे वाच्ये कर्तृरहिते हेतो पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—शताद् बद्धः । सहस्राद् बद्धः ॥

भाषार्थः—[अकस्मिन्] कर्तृभिन्न हेतुवाची शब्द में [ऋणे] ऋण वाच्य होने पर [पञ्चमी] पञ्चमी विभक्ति होती है ॥

उदा०—शताद् बद्धः (सौ रुपये के ऋण से बंध गया, अर्थात् मालिक ने उसे नौकर बना लिया) । सहस्राद् बद्धः ॥

उसके बन्धन का हेतु सौ रुपये हैं, सो हेतुवाची होने से पञ्चमी हो गई है ॥ पूर्व सूत्र से हेतु में तृतीया प्राप्त थी, पञ्चमी हो गई ॥

यहाँ से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति २।३।२५ तक जाती है ॥

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ॥२।३।२५॥

विभाषा १।१॥ गुणे ७।१॥ अस्त्रियाम् ७।१॥ स०—न स्त्री अस्त्री, तस्याम् अस्त्रियाम्, नपुंसकलिङ्गः ॥ अनु०—हेतो, पञ्चमी ॥ अर्थः—अस्त्रियाम्=स्त्रीलिङ्ग विहाय पुल्लिङ्गनपुंसकलिङ्गे वर्त्तमानो यो हेतुवाची गुणवाचकशब्दः, तस्मिन् विकल्पेन पञ्चमी विभक्तिर्भवति, पक्षे तृतीया भवति ॥ पूर्वोक्तं नित्यं तृतीया प्राप्ता विकल्प्यते ॥ उदा०—जाड्याद् बद्धः, जाड्येन बद्धः । पाण्डित्यान् मुक्तः, पाण्डित्येन मुक्तः ॥

भाषार्थः—[अस्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर अर्थात् पुल्लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान जो हेतुवाची [गुणे] गुणवाचक शब्द, उसमें [विभाषा] विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है ॥

उदा०—जाड्याद् बद्धः (मूर्खता से बन्धन में फँस गया), जाड्येन बद्धः । पाण्डित्यान् मुक्तः (पाण्डित्य के कारण मुक्त हो गया), पाण्डित्येन मुक्तः ॥ जाड्य वा पाण्डित्य नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान गुणवाची शब्द हैं, तथा बन्धन वा मुक्त होने के हेतु हैं, सो पञ्चमी विभक्ति हो गई । नित्य तृतीया हेतो (२।३।२३ से) प्राप्त थी, पञ्चमी विकल्प से कर दी । अतः पञ्चमी होने के पश्चात् पक्ष में हेतो (२।३।२३) सूत्र से प्राप्त तृतीया भी हो गई ॥

षष्ठी हेतुप्रयोगे ॥२।३।२६॥

षष्ठी १।१॥ हेतुप्रयोगे ७।१॥ स०—हेतोः प्रयोगः हेतुप्रयोगः, तस्मिन्, षष्ठी-

तत्पुरुषः ॥ अनु०—हेतौ ॥ अर्थः—हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अन्नस्य हेतोर्धनिकुले वसति ॥

भाषार्थः—[हेतुप्रयोगे] हेतु शब्द के प्रयोग में, तथा जिससे हेतु द्योतित हो रहा हो, उस शब्द में [षष्ठी] षष्ठी विभक्ति होती है ॥

उदा०—अन्नस्य हेतोर्धनिकुले वसति (अन्न के कारण से धनवान् के कुल में वास करता है) । अन्न हेतु है, सो उसमें षष्ठी हो गई है ॥

यहाँ से 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' की अनुवृत्ति २।३।२७ तक जायेगी ॥

सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥२।३।२७॥

तृतीया

सर्वनाम्नः ६।१॥ तृतीया १।१॥ च अ० ॥ अनु०—षष्ठी, हेतुप्रयोगे, हेतौ ॥ अर्थः—सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया विभक्तिर्भवति, चकारात् षष्ठी च ॥ उदा०—कस्य हेतोर्वसति, केन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति, येन हेतुना वसति ॥

भाषार्थः—हेतु शब्द के प्रयोग में, तथा हेतु के विशेषणवाची [सर्वनाम्नः] सर्वनामसंज्ञक शब्द के प्रयोग में, हेतु द्योतित होने पर [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है, [च] चकार से षष्ठी विभक्ति भी होती है ॥

यहाँ पर निमित्तकारणहेतुषु सर्वासं प्रायदर्शनम् इस वार्तिक से प्रायः करके सर्वनाम विशेषणवाची शब्द प्रयुक्त होने पर, निमित्त, कारण, हेतु का प्रयोग हो तो सब विभक्तियाँ होती हैं ॥

उदा०—कस्य हेतोर्वसति (किस हेतु से बसता है), केन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति (जिस हेतु से बसता है), येन हेतुना वसति ॥

अपादाने पञ्चमी ॥२।३।२८॥

पञ्चमी

अपादाने ७।१॥ पञ्चमी १।१॥ अनु०—अनभिहिते ॥ अर्थः—अनभिहिते-अपादाने कारके पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—वृक्षात् पर्णानि पतन्ति । ग्रामाद् आगच्छति ॥

भाषार्थः—अनभिहित [अपादाने] अपादान कारक में [पञ्चमी] पञ्चमी विभक्ति होती है ॥ ध्रुवमपायेष्वा० (१।४।२४) से अपादान संज्ञा हुई है ॥

उदा०—वृक्षात् पर्णानि पतन्ति (वृक्ष से पत्ते गिरते हैं) । ग्रामाद् आगच्छति ॥

उदाहरण में आगच्छति क्रिया से अपादान अनभिहित है, अतः पञ्चमी हुई है ॥

पञ्चमी

यहाँ से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति २।३।३५ तक जायेगी ॥

अन्यारादितरर्तेदिवच्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ॥२।३।२६॥

अन्या हियुक्ते ७।१॥ स०—अन्यश्च आराच्च इतरश्च ऋते च दिक्शब्दश्च अञ्चूत्तरपदश्च आच्च आहिश्चेति अन्यारादितरर्तेदिवच्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहयः, तैर्युक्तम् अन्या.....जाहियुक्तम्, तस्मिन्, द्वन्द्वगर्भस्तृतीया-तत्पुरुषः ॥ अनु०—पञ्चमी ॥ अर्थः—अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्, आहि इत्येतैर्योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अन्यो देव-दत्तात् । अन्य इत्यर्थग्रहणं, तेन पर्यायप्रयोगेऽपि भवति—भिन्नो देवदत्तात्, अर्थान्तरं देवदत्तात् । आरात् यज्ञदत्तात् । इतरो देवदत्तात् । ऋते यज्ञदत्तात् । पूर्वो ग्रामात् पर्वतः, उत्तरो ग्रामात् । पूर्वो ग्रीष्मात् वसन्तः । अञ्चूत्तरपदे—प्राग् ग्रामात्, प्रत्यग् ग्रामात् । आच्—दक्षिणा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । आहि—दक्षिणाहि ग्रामात् । उत्तराहि ग्रामात् ॥

भाषार्थः—[अन्यारादित.....युक्ते] अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्प्रत्ययान्त तथा आहिप्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है ॥

उदा०—अन्यो देवदत्तात्, भिन्नो देवदत्तात् (देवदत्त से भिन्न), अर्थान्तरं देवदत्तात् । आरात् देवदत्तात् (देवदत्त से दूर या समीप) । आरात् यज्ञदत्तात् । इतरो देवदत्तात् (देवदत्त से इतर=भिन्न) । ऋते यज्ञदत्तात् (यज्ञदत्त के बिना) । पूर्वो ग्रामात् पर्वतः (ग्राम से पूर्व पर्वत), उत्तरो ग्रामात् । पूर्वो ग्रीष्माद् वसन्तः (ग्रीष्म से पूर्व वसन्त) । अञ्चूत्तरपद में—प्राग् ग्रामात् (ग्राम से पूर्व), प्रत्यग् ग्रामात् (ग्राम से पश्चिम) । आच्—दक्षिणा ग्रामात् (गाँव से दक्षिण), उत्तरा ग्रामात् । दक्षिणाहि ग्रामात् (ग्राम से दक्षिण) । उत्तराहि ग्रामात् ॥

प्र, प्रति पूर्वक अञ्चु षातु से ऋत्विगदधृग० (३।२।५६) से क्विन् प्रत्यय होकर दिक्शब्देभ्यः० (५।३।२७) से अस्ताति, तथा अञ्चेलुक् (५।३।३०) से उसका लुक् होकर प्राक् और प्रत्यक् शब्द बने हैं । दक्षिणा में दक्षिणादाच् (५।३।३६), तथा उत्तरा में उत्तराच्च (५।३।३८) से आच् प्रत्यय हुआ है । आहि च दूरे (५।३।३७) से दक्षिणाहि आदि में आहि प्रत्यय हुआ है ॥

षष्ठी

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ॥२।३।३०॥

षष्ठी १।१॥ अतसर्थप्रत्ययेन ३।१॥ स०—अतसोऽर्थः अतसर्थः, षष्ठीतत्पुरुषः, अतसर्थे प्रत्ययः अतसर्थप्रत्ययः, तेन, सप्तमीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—अतसर्थप्रत्ययेन

युक्ते षष्ठीविभक्तिर्भवति ॥ उदा०—दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । पुरो ग्रामस्य । पुरस्तात् ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्ठात् ग्रामस्य ॥

भाषार्थः—[अतसर्थप्रत्ययेन] अतसर्थ प्रत्यय के योग में [षष्ठी] षष्ठी विभक्ति होती है ॥ अतमुच् के अर्थ में विहित, दक्षिणोत्तराभ्यामतमुच् (५।३।२८) के अधिकार में कहे हुए प्रत्यय अतसर्थ प्रत्यय कहलाते हैं ॥

उदा०—दक्षिणतो ग्रामस्य (ग्राम के दक्षिण में) । उत्तरतो ग्रामस्य । पुरो ग्रामस्य (ग्राम के पूर्व में) । पुरस्तात् ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य (ग्राम के ऊपर) । उपरिष्ठात् ग्रामस्य ॥

दक्षिणतः, उत्तरतः में दक्षिणोत्तराभ्यामतमुच् (५।३।२८) से अतमुच् प्रत्यय हुआ है । पुरः में पूर्वाधरावरा० (५।३।३६) से पूर्व को पुर आदेश, तथा असि प्रत्यय अतसर्थ में हुआ है । दिक्शब्देभ्यः० (५।३।२७) से पुरस्तात् में अस्ताति प्रत्यय हुआ है । उपर्युपरिष्ठात् (५।३।३१) से ऊर्ध्व को उप भाव तथा रिल् रिष्ठातिल् प्रत्यय उपरि उपरिष्ठात् में हुए हैं । इन सब के योग में षष्ठी हो गई है ॥

एनपा द्वितीया ॥२।३।३१॥

द्वितीया

एनपा ३।१॥ द्वितीया १।१॥ अर्थः—एनप्रत्ययान्तेन योगे द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ पूर्वोण षष्ठी प्राप्ता द्वितीया विधीयते ॥ उदा०—दक्षिणेन ग्रामम् । उत्तरेण ग्रामम् ॥

भाषार्थः—[एनपा] एनप्रत्ययान्त शब्दों के योग में [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है ॥ एवग्रन्थतरस्यामदूरे० (५।३।३५) से एनप् प्रत्यय का विधान है । एनप् के अतसर्थ प्रत्यय होने से पूर्व सूत्र से षष्ठी प्राप्त थी, द्वितीया का विधान कर दिया ॥

उदा०—दक्षिणेन ग्रामम् (ग्राम से दक्षिण) । उत्तरेण ग्रामम् ॥

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥२।३।३२॥

तृतीया
पञ्चमी

पृथग्विनानानाभिः ३।३॥ तृतीया १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—पृथक् च विना च नाना च पृथग्विनानानाः, तैः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—पञ्चमी ॥ अर्थः—पृथक्, विना, नाना इत्येतैर्योगे तृतीया विभक्तिर्भवति अन्यतरस्यां च ॥ उदा०—पृथक् ग्रामेण, पृथक् ग्रामात् । विना घृतेन विना घृतात् । नाना देवदत्तेन, नाना देवदत्तात् ॥

भाषार्थः—[पृथग्विनानानाभिः] पृथक्, विना, नाना इन शब्दों के योग में

[तृतीया] तृतीया विभक्ति [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होती है, पक्ष में पञ्चमी भी होती है ॥

उदा०—पृथक् ग्रामेण (ग्राम से पृथक्), पृथक् ग्रामात् । बिना घृतेन (बिना घी के), बिना घृतात् । नाना देवदत्तेन (देवदत्त से भिन्न), नाना देवदत्तात् ॥

यहाँ से 'तृतीया' की अनुवृत्ति २।३।३३ तक जायेगी ॥

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य ॥२।३।३३॥

करणे ७।१॥ च अ० ॥ स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्य ६।१॥ असत्त्ववचनस्य ६।१॥ स०—स्तोकश्च अल्पश्च कृच्छ्रश्च कतिपयश्च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयम्, तस्य, समाहारो द्वन्द्वः । सत्त्वस्य वचनं सत्त्ववचनम्, न सत्त्ववचनम् असत्त्ववचनम् तस्य, नञ्त्वपुरुषः ॥ अनु०—तृतीया, पञ्चमी ॥ अर्थः—स्तोक, अल्प, कृच्छ्र, कतिपय इत्येतेभ्योऽसत्त्ववचनेभ्यः करणे कारके तृतीयापञ्चम्यो विभक्ती भवतः ॥ उदा०—स्तोकान् मुक्तः, स्तोकेन मुक्तः । अल्पान् मुक्तः, अल्पेन मुक्तः । कृच्छ्रान् मुक्तः, कृच्छ्रेण मुक्तः । कतिपयान् मुक्तः, कतिपयेन मुक्तः ॥

भाषार्थः—[स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्य] स्तोक, अल्प, कृच्छ्र, कतिपय इन [असत्त्ववचनस्य] असत्त्ववाची=अद्रव्यवाची शब्दों से [करणे] करण कारक में तृतीया [च] और पञ्चमी विभक्ति होती हैं ॥ उदा०—स्तोकान् मुक्तः, स्तोकेन मुक्तः । अल्पान् मुक्तः, अल्पेन मुक्तः । कृच्छ्रान् मुक्तः, कृच्छ्रेण मुक्तः । कतिपयान् मुक्तः (कुछ से छूट गया), कतिपयेन मुक्तः ॥

करण में तृतीया (२।३।१८) से प्राप्त ही थी, पञ्चमी का ही यहाँ विधान किया है ॥ स्तोकान् आदि में त् को न् यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से हुआ है ॥

दूरान्तिकार्थः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ॥२।३।३४॥

दूरान्तिकार्थः ३।३॥ षष्ठी १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—दूरश्च अन्तिकश्च दूरान्तिकौ, तौ अथौ येषां ते दूरान्तिकार्थाः, तैः, द्वन्द्वगर्भवद्विहीः ॥ अनु०—पञ्चमी । अर्थः—दूरार्थः अन्तिकार्थः=समीपार्थः शब्दैः योगे षष्ठीविभक्ति-विकल्पेन भवति, पक्षे पञ्चमी च ॥ उदा०—दूरं ग्रामात्, दूरं ग्रामस्य । विप्रकृष्टं ग्रामात्, विप्रकृष्टं ग्रामस्य । अन्तिक—अन्तिकं ग्रामात्, अन्तिक ग्रामस्य । समीपं ग्रामात्, समीपं ग्रामस्य । अभ्याशं ग्रामात्, अभ्याशं ग्रामस्य ॥

भाषार्थः—[दूरान्तिकार्थः] दूर अर्थवाले, तथा समीप अर्थवाले शब्दों के, योग में [षष्ठी] षष्ठी विभक्ति [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होती है, पक्ष में पञ्चमी भी होती है ॥

उदा०—दूरं ग्रामात् (ग्राम से दूर), दूरं ग्रामस्य । विप्रकृष्टं ग्रामात्, विप्रकृष्टं ग्रामस्य ॥ अन्तिकं ग्रामात् (ग्राम से समीप), अन्तिकं ग्रामस्य । समीपं ग्रामात्, समीपं ग्रामस्य । अभ्याशं ग्रामात्, अभ्याशं ग्रामस्य ॥

यहाँ से 'षष्ठ्यन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति २।३।३५ तक जायेगी ॥

पञ्चमी षष्ठी दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ॥२।३।३५॥

द्वितीया

दूरान्तिकार्थेभ्यः ५।३॥ द्वितीया १।१॥ च अ० ॥ स०—पूर्वसूत्रानुसारमेव दूरान्तिकार्थेभ्य इत्यत्र समासः ॥ अनु०—षष्ठ्यन्तरस्याम्, पञ्चमी ॥ अर्थः—दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्यः द्वितीया विभक्तिर्भवति^१, चकारात् षष्ठी च भवति विकल्पेन । अतः पक्षे पञ्चम्यपि भवति ॥ एवं विभक्तित्रयं सिद्धं भवति ॥ उदा०—दूरं ग्रामस्य, दूरस्य ग्रामस्य, दूराद् ग्रामस्य । विप्रकृष्टं विप्रकृष्टस्य विप्रकृष्टाद् वा ग्रामस्य ॥ अन्तिकं अन्तिकस्य अन्तिकाद् वा ग्रामस्य । समीपं समीपस्य समीपाद् वा ग्रामस्य ॥

भाषार्थः—[दूरान्तिकार्थेभ्यः] दूर अर्थवाले तथा समीप अर्थवाले शब्दों से [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है, [च] और चकार से षष्ठी भी होती है, तथा अन्यतरस्याम् की अनुवृत्ति होने से पक्ष में पञ्चमी भी होती है ॥ इस प्रकार तीव रूप बनते हैं । पूर्व सूत्र में दूर अन्तिक के योग में षष्ठी विकल्प से कही थी, तथा यहाँ दूरान्तिक शब्दों से द्वितीयादि कहा है, यह भेद है ॥

यहाँ से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति २।३।३६ तक जायेगी ॥

सप्तम्यधिकरणे च ॥२।३।३६॥

सप्तमी

सप्तमी १।१॥ अधिकरणे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—दूरान्तिकार्थेभ्यः, अनभिहिते ॥ अर्थः—अनभिहितेऽधिकरणे सप्तमी विभक्तिर्भवति, चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यश्च ॥ उदा०—कटे आस्ते । शकटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । दूरान्तिकार्थेभ्यः—दूरे ग्रामस्य, विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य, अभ्याशे ग्रामस्य ॥

भाषार्थः—अनभिहित [अधिकरणे] अधिकरण में [सप्तमी] सप्तमी विभक्ति होती है, तथा [च] चकार से दूरान्तिकार्थक शब्दों से भी होती है ॥ आधाराऽधिकरणम् (१।४।४५) से अधिकरण संज्ञा कही है । उस अधिकरण में यहाँ सप्तमी विभक्ति कह दी है ॥

१. यहाँ काशिकादियों में षष्ठी की अनुवृत्ति न लाकर तृतीया का समुच्चय किया है । सो प्रयोगाधीन जानन चाहिये ॥

उदा०—कटे आस्ते (चटाई पर बैठता हूँ) । शकटे आस्ते (गाड़ी में बैठता हूँ) । स्थात्यां पचति (बटलोई में पकाता हूँ) । दूरान्तिकार्यो से—दूरे ग्रामस्य, विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य, अग्न्याशे ग्रामस्य ।

यहाँ से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति २।३।४१ तक जायेगी ॥

सप्तमी

यस्य च भावेन भावलक्षणम् ॥२।२।३७॥

यस्य ६।१॥ च अ० ॥ भावेन ३।१॥ भावलक्षणम् १।१॥ स०—भावस्य लक्षणम् भावलक्षणम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—सप्तमी ॥ अर्थः—यस्य च भावेन = क्रियया भावः = क्रियान्तरं लक्ष्यते, तस्मात् सप्तमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—गोषु दुह्यमानासु गतः । दुग्धासु आगतः । अग्निषु हूयमानेषु गतः । हुतेष्वागतः ॥

भाषार्थः—[यस्य] जिसकी [भावेन] क्रिया से कोई [भावलक्षणम्] दूसरी क्रिया लक्षित की जाय, उसमें [च] भी सप्तमी विभक्ति होती है ॥ इस सूत्र में भाव का अर्थ क्रिया है ॥

उदा०—गोषु दुह्यमानासु गतः (गौओं के दोहनकाल में गया था) । दुग्धासु आगतः (दोहनकाल के पश्चात् आ गया) । अग्निषु हूयमानेषु गतः (यज्ञकाल में गया था) । हुतेष्वागतः (यज्ञकाल के बाद आ गया) ॥

उदाहरण में गौ की दोहनक्रिया से गमनक्रिया (जाना) लक्षित की जा रही है, अतः उसमें सप्तमी हो गई है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझें ॥

यहाँ से 'इस सारे सूत्र' की अनुवृत्ति २।३।३८ तक जायेगी ॥

षष्ठी, सप्तमी

षष्ठी चानादरे ॥२।३।३८॥

षष्ठी १।१॥ च अ० ॥ अनादरे ७।१॥ स०—न आदरः अनादरः, तस्मिन् अनादरे, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—यस्य च भावेन भावलक्षणम्, सप्तमी ॥ अर्थः—यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते, ततोऽनादरे गम्यमाने षष्ठी विभक्तिर्भवति, चकारात् सप्तमी च ॥ उदा०—रुदतः प्रात्राजीत्, रुदति प्रात्राजीत् । क्रोशतः प्रात्राजीत्, क्रोशति प्रात्राजीत् ॥

भाषार्थः—जिसकी क्रिया से क्रियान्तर लक्षित हो, उसमें [अनादरे] अनादर गम्यमान होने पर [षष्ठी] षष्ठी, तथा [च] चकार से सप्तमी विभक्ति भी होती है ॥

उदा०—रुदतः प्रात्राजीत् (रोते हुए को छोड़कर बिना परवाह किये परिव्राजक बन गया), रुदति प्रात्राजीत् । क्रोशतः प्रात्राजीत् (क्रोध करते हुये को छोड़कर

परिव्राजक बन गया), क्रोशति प्राप्ताजीत् ॥ खन वा क्रोशन क्रिया से क्रियान्तर (उसका जाना) लक्षित हो रहा है। तथा अनादर भी प्रकट हो रहा है, सो षष्ठी सप्तमी विभक्ति हो गई ॥

यहाँ से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति २।३।४१ तक जायेगी ॥

षष्ठी सप्तमी

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतेश्च ॥२।३।३६॥

स्वामीश्च प्रसूतैः ३।३॥ च अ० ॥ स०—स्वामी च ईश्वरश्च अधिपतिश्च दायादश्च साक्षी च प्रतिभूश्च प्रसूतश्चेति स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूताः, तैः....., इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी, सप्तमी ॥ अर्थः—स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू, प्रसूत इत्येतैः शब्दैर्योगे षष्ठीसप्तम्यो विभक्ती भवतः ॥ उदा०—गवां स्वामी, गोषु स्वामी । गवाम् ईश्वरः, गोषु ईश्वरः । गवाम् अधिपतिः, गोषु अधिपतिः । गवां दायादः, गोषु दायादः । गवां साक्षी, गोषु साक्षी । गवां प्रतिभूः, गोषु प्रतिभूः । गवां प्रसूतः, गोषु प्रसूतः ॥

भाषार्थः—[स्वामी प्रसूतैः] स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू, प्रसूत इन शब्दों के योग में [च] भी षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती है ॥

उदा०—गवां स्वामी (गौओं का स्वामी), गोषु स्वामी । गवाम् ईश्वरः (गौओं का मालिक), गोषु ईश्वरः । गवाम् अधिपतिः (गौओं का मालिक), गोषु अधिपतिः । गवां दायादः (गोरूपी पैतृक धन का अधिकारी), गोषु दायादः । गवां साक्षी (गौओं का साक्षी), गोषु साक्षी । गवां प्रतिभूः (गौओं का जामिन), गोषु प्रतिभूः । गवां प्रसूतः (गौओं का बछड़ा), गोषु प्रसूतः ॥

आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ॥२।३।४०॥

षष्ठी, सप्तमी

आयुक्तकुशलाभ्यां ३।२॥ च अ० ॥ आसेवायाम् ७।१॥ स०—आयुक्तश्च कुशलश्च आयुक्तकुशलो, ताभ्याम्....., इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी, सप्तमी ॥ अर्थः—आसेवायां गम्यमानायाम् आयुक्त कुशल इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां योगे षष्ठी-सप्तम्यो विभक्ती भवतः ॥ उदा०—आयुक्तः कटकरणस्य, आयुक्तः कटकरणे । कुशलः कटकरणस्य, कुशलः कटकरणे ॥

भाषार्थः—[आयुक्तकुशलाभ्याम्] आयुक्त तथा कुशल शब्दों के योग में [च] भी [आसेवायाम्] आसेवा=तत्परता गम्यमान हो, तो षष्ठी सप्तमी विभक्ति हो जाती है ॥

उदा०—आयुक्तः कटकरणस्य (चटाई बनाने में लगा है), आयुक्तः कटकरणे । कुशलः कटकरणस्य (चटाई बनाने में होशियार है), कुशलः कटकरणे ॥

षष्ठी, सप्तमी

यतश्च निर्धारणम् ॥२॥३॥४॥

यतः अ० ॥ च अ० ॥ निर्धारणम् १।१॥ अनु०—षष्ठी, सप्तमी ॥ अर्थः—यतः=यस्मात् निर्धारणम् (जातिगुणक्रियाभिः समुदायाद् एकस्य पृथक्करणम्) भवति, तस्मात् षष्ठीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः ॥ उदा०—मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः, मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतमः । गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा गोषु कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा । अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः, अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः ॥

भाषार्थः—[यतः] जिससे [निर्धारणम्] निर्धारण हो, उसमें [च] भी षष्ठी सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥ उदाहरणों में मनुष्य गौ तथा दौड़ते ह्वगों से निर्धारण किया जा रहा है, अतः षष्ठी सप्तमी विभक्ति हो गई हैं ॥

यहाँ से 'यतश्च निर्धारणम्' की अनुवृत्ति २।३।४२ तक जायेगी ॥

पञ्चमी

पञ्चमी विभक्ते ॥२॥३॥४॥

पञ्चमी १।१॥ विभक्ते ७।१॥ अनु०—यतश्च निर्धारणम् ॥ अर्थः—यस्मिन् निर्धारणे विभागो भवति, तत्र पञ्चमी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः सुकुमारतराः । पाटलिपुत्रकेभ्यः आद्यतराः ॥

भाषार्थः—जिस निर्धारण में [विभक्ते] विभाग किया जाये, उसमें [पञ्चमी] पञ्चमी विभक्ति हो जाती है ॥ ऊपर के सूत्र का यह अपवाद है ॥

उदा०—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः सुकुमारतराः (मथुरा के लोग पटनावालों से अधिक सुकुमार हैं) । पाटलिपुत्रकेभ्यः आद्यतराः ॥

निर्धारण के आश्रय तथा निर्धार्यमाण का विभाग होने पर ही निर्धारण होता है । फिर भी इस सूत्र में 'विभक्ते' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जिस निर्धारणाश्रय में सदा विभाग ही होता है (अन्तर्भाव कभी नहीं होता), इस प्रकार अवधारण हो सके । जैसे उदाहरण में मथुरावालों से पटनावाले सर्वथा विभक्त हैं । परन्तु पूर्व सूत्र के उदाहरणों में गौ आदि में कृष्णा आदि का गोत्व आदि के रूप में अन्तर्भाव भी होता है ॥

सप्तमी

साधुनिपुणाम्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ॥२॥३॥४॥

साधुनिपुणाम्याम् ३।२॥ अर्चायां ७।१॥ सप्तमी १।१॥ अप्रतेः ६।१॥ स०—साधुश्च निपुणश्च साधुनिपुणौ, ताम्याम्..... इतरैतरयोगद्वन्द्वः । न प्रतिः अप्रतिः,

तस्य नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—अर्चयाम्==सत्कारे गम्यमाने साधुनिपुणशब्दाभ्यां योगे सप्तमी विभक्तिर्भवति, न चेत् प्रतेः प्रयोगो भवेत् ॥ उदा०—मातरि साधुः, पितरि साधुः । मातरि निपुणः, पितरि निपुणः ॥

भाषार्थः—[अर्चयाम्] अर्चा==सत्कार गम्यमान होने पर [साधुनिपुणाभ्याम्] साधु निपुण शब्दों के योग में [अप्रतेः] प्रति का प्रयोग न हो, तो [सप्तमी] सप्तमी विभक्ति होती है ॥

उदा०—मातरि साधुः (माता के प्रति साधु है), पितरि साधुः । मातरि निपुणः (माता के प्रति कुशल है), पितरि निपुणः ॥

यहाँ से 'सप्तमी' की अनुवृत्ति २।३।४५ तक जायेगी ॥

प्रसितोत्सुकाम्यां तृतीया च ॥२।३।४४॥

तृतीया, सप्तमी

प्रसितोत्सुकाम्यां ३।२॥ तृतीया १।१॥ च अ० ॥ स०—प्रसितश्च उत्सुकश्च प्रसितोत्सुको, ताम्यां—, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सप्तमी ॥ अर्थः—प्रसित उत्सुक इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां योगे तृतीया विभक्तिर्भवति, चकारात् सप्तमी च ॥ उदा०—केशः प्रसितः, केशेषु प्रसितः । केशैरुत्सुकः, केशेषूत्सुकः ॥

भाषार्थः—[प्रसितोत्सुकाम्याम्] प्रसित उत्सुक इन शब्दों के योग में [तृतीया] तृतीया विभक्ति होती है, [च] तथा चकार से सप्तमी भी होती है ॥ उदा०—केशः प्रसितः (केशों को सम्हालने में लगा रहनेवाला), केशेषु प्रसितः । केशैरुत्सुकः (केशों के लिये उत्सुक), केशेषूत्सुकः ॥

यहाँ से 'तृतीया' की अनुवृत्ति २।३।४५ तक जायेगी ॥

नक्षत्रे च लुपि ॥२।३।४५॥

तृतीया, सप्तमी

नक्षत्रे ७।१॥ च अ० ॥ लुपि ७।१॥ अनु०—तृतीया, सप्तमी ॥ अर्थः—लुबन्तात् नक्षत्रशब्दात् तृतीयासप्तम्यो विभक्ती भवतः ॥ उदा०—पुष्येण पायसमश्नीयात्, पुष्ये पायसमश्नीयात् ॥

भाषार्थः—[लुपि] लुबन्त [नक्षत्रे] नक्षत्रवाची शब्द से [च] भी तृतीया और सप्तमी विभक्ति होती हैं ॥ नक्षत्रवाची शब्द से जहाँ काल अर्थ में प्रत्यय आकर लुप् हो जाता है, उसका इस सूत्र में ग्रहण है ॥

उदा०—पुष्येण पायसमश्नीयात् (पुष्य नक्षत्र से युक्त काल में खीर खावे), पुष्ये पायसमश्नीयात् ॥

पुष्य शब्द से नक्षत्रेण युक्तः कालः (४।२।३) से अण् प्रत्यय होकर, लुबविशेषे

(४।२।४) से उस अण् का लुप् हो गया है। अतः यह लुबन्त नक्षत्रवाची शब्द है, सो तृतीया और सप्तमी हो गई हैं ॥

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ॥२।३।४६॥

प्रातिपदि...मात्रे ७।१॥ प्रथमा १।१॥ स०—प्रातिपदिकस्य अर्थः प्रातिपदिकार्थः, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गञ्च परिमाणञ्च वचनञ्च प्रातिपदिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचनं, समाहारो द्वन्द्वः। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनञ्चादः मात्रञ्च प्राति...वचनमात्रं, तस्मिन्...कर्मधारयतत्पुरुषः। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इत्येतस्मात् नियमात् मात्रशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ॥ अर्थः—प्रातिपदिकार्थः=सत्ता। लिङ्गं=स्त्रीपुंनपुंसकानि। परिमाणं=तोलनम्। वचनम्=एकत्वद्वित्वबहुत्वानि। प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्रे, परिमाणमात्रे, वचनमात्रे च प्रथमा विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः, नीचैः। लिङ्गमात्रे—कुमारी, वृक्षः, कुण्डम्। परिमाणमात्रे—द्रोणः, खारी, आढकम्। वचनमात्रे—एकः, द्वौ, बहवः ॥

भाषार्थः—[प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे] प्रातिपदिकार्थमात्र, लिङ्गमात्र, परिमाणमात्र, तथा वचनमात्र में [प्रथमा] प्रथमा विभक्ति होती है ॥

विशेषः—यहाँ इतनी बात समझने की है कि प्रातिपदिकार्थ क्या है? प्रातिपदिकार्थ पञ्चक (सत्ता, द्रव्य, लिङ्ग, सङ्ख्या, कारक) एवं त्रिक (सत्ता, द्रव्य, लिङ्ग) तथा द्विक (सत्ता, द्रव्य) को भी कहते हैं। जब पञ्चक प्रातिपदिकार्थ मानेंगे, तो लिङ्गादि के पृथक् ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि वे सब प्रातिपदिकार्थ में ही आ गये। जब द्विक मानेंगे, तो बाकी सब पृथक्-पृथक् कहने पड़ेंगे ॥ लिङ्गमात्र आदि का यहाँ अर्थ यह है कि 'जहाँ प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्ग की भी अधिकता हो, परिमाण की भी अधिकता हो' सो लिङ्गमात्र का लिङ्गाधिक्ये, परिमाणाधिक्ये आदि अर्थ हुआ ॥

यहाँ से 'प्रथमा' की अनुवृत्ति २।३।४८ तक जायेगी ॥

सम्बोधने च ॥२।३।४७॥

सम्बोधने ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—प्रथमा ॥ अर्थः—सम्बोधने च प्रथमा विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—हे देवदत्त, हे देवदत्तौ, हे देवदत्ताः ॥

भाषार्थः—[सम्बोधने] सम्बोधन में [च] भी प्रथमा विभक्ति होती है ॥ इस प्रकार सु औ जस् सम्बोधन विभक्ति में भी आते हैं ॥ सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति आकर—हे देवदत्त सु इस अवस्था में २।३।४९ से सम्बुद्धि संज्ञा हो गई है।

तथा सम्बुद्धि संज्ञा होने से एङ्हस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) से सु का लोप हो गया है ॥

सामन्वितम् ॥२।३।४८॥

आमन्वित

सा १।१॥ आमन्वितम् १।१॥ अनु०—प्रथमा ॥ अर्थः—सा इत्यनेन सम्बोधने या प्रथमा सा निर्दिश्यते ॥ सम्बोधने या प्रथमा तदन्तं शब्दरूपं आमन्वित-सञ्ज्ञं भवति ॥ उदा०—अग्ने ॥

भाषार्थः—[सा] सम्बोधन में जो प्रथमा उसकी [आमन्वितम्] आमन्वित संज्ञा होती है ॥ आमन्वित संज्ञा होने से आमन्वितस्य च (६।१।१६२) से अग्ने को आद्युदात्त हो गया है ॥

यहाँ से 'आमन्वितम्' की अनुवृत्ति २।३।४६ तक जायेगी ॥

एकवचनं सम्बुद्धिः ॥२।३।४६॥

संबुद्धि

एकवचनम् १।१॥ सम्बुद्धिः १।१॥ अनु०—आमन्वितम् ॥ अर्थः—आमन्वित-प्रथमाविभक्त्यर्थेद् एकवचनं तत्सम्बुद्धिसञ्ज्ञकं भवति ॥ उदा०—अग्ने । वायो । देवदत्त ॥

भाषार्थः—आमन्वितसञ्ज्ञक प्रथमा विभक्ति के [एकवचनम्] एकवचन की [सम्बुद्धिः] सम्बुद्धि संज्ञा होती है ॥ सम्बुद्धि संज्ञा होने से अग्ने वायो में ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८) से गुण, तथा एङ्हस्वात् सम्बुद्धेः (६।१।६७) से सु का लोप हो गया है ॥

षष्ठी शेषे ॥२।३।५०॥

षष्ठी

षष्ठी १।१॥ शेषे ७।१॥ अर्थः—कर्मादीनि कारकाणि प्रातिपदिकार्थश्च यत्र न विवक्ष्यन्ते स शेषः । शेषे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—राज्ञः पुरुषः । कार्पासस्य वस्त्रम् । वृक्षस्य शाखा ॥

भाषार्थः—कर्मादि कारक तथा प्रातिपदिकार्थ जहाँ विवक्षित न हों, वह शेष है । [शेषे] शेष में [षष्ठी] षष्ठी विभक्ति होती है ॥ उदा०—राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष) । कार्पासस्य वस्त्रम् (रुई का वस्त्र) । वृक्षस्य शाखा (वृक्ष की शाखा) ॥

यहाँ से 'षष्ठी शेषे' की अनुवृत्ति पाद के अन्त तक जायेगी । तथा जिन-जिन सूत्रों में 'शेषे' अधिकार लगेगा, वहाँ 'अनभिहिते' अधिकार नहीं लगेगा, ऐसा जानें ॥

८/१०८१

जोऽविदर्थस्य करणे ॥२।३।५१॥

जः ६।१॥ अविदर्थस्य ६।१॥ करणे ७।१॥ स०—विद् अर्थो यस्य स विदर्थः, बहुव्रीहिः । न विदर्थः अविदर्थः, तस्य... नञ्त्तत्पुरुषः ॥ अनु०—षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—अविदर्थस्य = अज्ञानार्थस्य ज्ञाघातोः करणे कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—सपिषो जानीते । मधुनो जानीते ॥

भाषार्थः—[अविदर्थस्य] अज्ञानार्थक जो [जः] ज्ञा घातु उसके [करणे] करण कारक में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥ घी के कारण प्रवृत्ति हो रही है, अथवा—आन्ति के कारण घी समझ कर प्रवृत्ति हो रही है, अतः अज्ञानार्थ है । अकर्मकाच्च (१।३।४५) से जानीते में आत्मनेपद हुआ है ॥ शेष सर्वत्र इसलिये कहते हैं कि कारक विवक्षाधीन हैं, सो किसी कारक की विवक्षा न हो, तब शेष विवक्षित होने पर षष्ठी होगी ॥

षष्ठी

अधीगर्थदयेशां कर्मणि ॥२।३।५२॥

अधीगर्थदयेशाम् ६।३॥ कर्मणि ७।१॥ अनु०—षष्ठी शेषे ॥ स०—अधीग् अर्थो येषां घातूनां ते अधीगर्थाः । अधीगर्थाश्च दयश्च इट् च अधीगर्थदयेशः, तेषां... बहुव्रीहिर्गर्भतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—अधीगर्थ = स्मरणार्थक, दय, ईश इत्येतेषां घातूनां शेषे विवक्षिते कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—मातुरध्येति, मातुः स्मरति । सपिषो दयते । सपिष ईष्टे ॥

भाषार्थः—[अधीगर्थदयेशाम्] अधि पूर्वक इक् घातु के अर्थवाली घातुओं के, तथा दय और ईश घातुओं के [कर्मणि] कर्म कारक में, शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥ अधि पूर्वक इक् घातु स्मरण अर्थ में होती है ॥ उदा०—मातुरध्येति (माता का स्मरण करता है), मातुः स्मरति । सपिषो दयते (घी देता है) । सपिष ईष्टे (घी पर अधिकार करता है) ॥

यहाँ से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति २।३।६१ तक जायेगी ॥

षष्ठी

कृजः प्रतियत्ने ॥२।३।५३॥

कृजः ६।१॥ प्रतियत्ने ७।१॥ अर्थः—कर्मणि, षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—कृज् घातोः कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते प्रतियत्ने गम्यमाने षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—एषोदकस्य उपस्कुरुते ॥

भाषार्थः—[कृजः] कृज् घातु के कर्म में शेष विवक्षित होने पर [प्रतियत्ने] प्रतियत्न गम्यमान हो, तो षष्ठी विभक्ति होती है ॥ 'प्रतियत्न' किसी गुण को किसी और रूप में बदलने को कहते हैं ॥

उदा०—एषोदकस्य उपस्कुरुते (इंधन जल के गुण को बदलता है) ॥

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरे ॥२।३।५४॥

रुजार्थानाम् ६।३॥ भाववचनानाम् ६।३॥ अज्वरेः ६।१॥ स०—रुजा अर्थो येषां ते रुजार्थाः, तेषां... बहुव्रीहिः । भावो वचनः (कर्त्ता) येषां ते भाववचनाः, तेषाम्... बहुव्रीहिः । न ज्वरिः अज्वरिः, तस्य अज्वरेः, नञ्त्पुरुषः ॥ वक्तीति वचनः कर्त्तरि ल्युट्, तेन वचनशब्दस्य कर्त्तरि तात्पर्यम् ॥ अनु०—कर्मणि, षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—भाववचनानां=भावकर्तृकाणां रुजार्थानां धातूनां ज्वरवर्जितानां कर्मणि कारके शेषे विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—चौरस्य रुजति रोगः । चौरस्य ग्रामयति ग्रामयः ॥

भाषार्थः—[भाववचनानाम्] धात्वर्थ को कहनेवाले जो घञादिप्रत्ययान्त शब्द, वे हैं कर्त्ता जिन [रुजार्थानाम्] रुजार्थक धातुओं के, उनके कर्म में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है, [अज्वरेः] ज्वर धातु को छोड़कर ॥ उदा०—चौरस्य रुजति रोगः (रोग चोर को कष्ट देता है) । चौरस्य ग्रामयति ग्रामयः ॥ यहां भाववचन का अर्थ भावकर्तृक है । भाव का अर्थ हुआ धात्वर्थ, तथा वचन का तात्पर्य कर्त्ता से है । सो उदाहरण में 'रुज्' धातु का कष्ट भोगना जो धात्वर्थ है, वह घञ्प्रत्ययान्त 'रोग' शब्द से कहा जा रहा है । तथा रोग शब्द रुजति का कर्त्ता है, अतः चौर कर्म में षष्ठी हो गई है ॥

आशिषि नाथः ॥२।३।५५॥

आशिषि ७।१॥ नाथः ६।१॥ अनु०—कर्मणि, षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—आशिषि वर्तमानस्य नाथधातोः कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—सर्पिषो नाथते । मधुनो नाथते ॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वचन अर्थ में [नाथः] नाथ धातु के कर्म में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥ यहां 'आशीः' का अर्थ इच्छा है ॥ उदा०—सर्पिषो नाथते (घी की इच्छा करता है) । मधुनो नाथते । (शहद की इच्छा करता है) ॥

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ॥२।३।५६॥

जासिनि...पिषाम् ६।३॥ हिंसायाम् ७।१॥ स०—जासिश्च निप्रहणं च नाटश्च क्राथश्च पिट् च जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषः, तेषां... इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मणि, षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—जसुधातोः चौरादिकस्य निपूर्वकस्य प्रपूर्वकस्य हनधातोः, नाट क्राथ पिष इत्येतेषां च हिंसाक्रियाणाम् कर्मणि कारके शेषत्वेन

विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—चौरस्य उज्जासयति । दुष्टस्य निप्रहन्ति, वृषलस्य निहन्ति, चौरस्य प्रहन्ति । सञ्ज्ञातविगृहीतस्य नि प्र इत्येतस्य ग्रहणम् । चौरस्य उन्नाटयति । चौरस्य क्राथयति । चौरस्य पिनष्टि ॥

भाषार्थः—[हिंसायाम्] हिंसा क्रियावाली [जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषाम्] जसु ताडने, नि प्र पूर्वकं हन, ष्यन्त नट एवं, क्थ पिष् इन घातुओं के कर्म में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥ उदा०—चौरस्य उज्जासयति (चोर को मारता है) । दुष्टस्य निप्रहन्ति (दुष्ट को मारता है), वृषलस्य निहन्ति (नीच को मारता है), चौरस्य प्रहन्ति (चोर को मारता है) । चौरस्य उन्नाटयति (चोर को नष्ट करता है) । चौरस्य क्राथयति (चोर को मारता है) । चौरस्य पिनष्टि (चोर को मार-मार कर पीसता है) ॥ क्थ घातु घटादिगण में पढ़ी है, सो घटादयो मितः (घातुपाठ भ्वादिगण का सूत्र पृ० १२) से मित् होकर मितां ह्रस्वः (६।४।६२) से ह्रस्व प्राप्त था, पर यहाँ निपातन से वृद्धि हो जाती है । उदाहरण में चौर कर्म है, सो यहाँ षष्ठी हो गई है ॥

व्यवहृपणोः समर्थयोः ॥२।३।५७॥

व्यवहृपणोः ६।२॥ समर्थयोः ६।२॥ स०—व्यवहृ च पणश्च व्यवहृपणौ, तयोः इतरेतरयोगद्वन्द्वः । समोऽर्थो ययोः तौ समर्थौ, तयोः बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्मणि, षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—वि अव पूर्वकं यो हृच् घातुः, पण घातुश्च, तयोः समर्थयोः कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—शतस्य व्यवहरति, सहस्रस्य व्यवहरति । शतस्य पणते, सहस्रस्य पणते ॥

भाषार्थः—[व्यवहृपणोः] वि अव पूर्वकं हृ घातु, तथा पण घातु [समर्थयोः] समर्थ=समानार्थक हों, तो उनके कर्म में शेष विवक्षित होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥ वि अव पूर्वकं हृ घातु व्यवहारार्थक है, तथा पण घातु भी व्यवहार अर्थ-वाली ली गई है, सो दोनों समानार्थक हैं ॥ उदा०—शतस्य व्यवहरति (सौ रुपये व्यवहार में लाता है), सहस्रस्य व्यवहरति । शतस्य पणते (सौ रुपये व्यवहार में लाता है), सहस्रस्य पणते ॥

दिवस्तदर्थस्य ॥२।३।५८॥

दिवः ६।१॥ तदर्थस्य ६।१॥ स०—सः (व्यवहारः) अर्थो यस्य स तदर्थः, तस्य बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्मणि, षष्ठी ॥ अर्थः—तदर्थस्य=व्यवहारार्थस्य दिव्घातोः अनभिहिते कर्मणि कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—शतस्य दीव्यति, सहस्रस्य दीव्यति ॥

भाषार्थः—[तदर्थस्य] व्यवहारार्थक [दिवः] दिव् धातु के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है ॥ तदर्थ से यहाँ व्यवहृ पण् धातुओं का जो व्यवहार अर्थ है, वह लिया गया है ॥ इस तथा अगले दो सूत्रों में 'शेषे' का सम्बन्ध नहीं है ॥

उदा०—शतस्य दीव्यति (सौ रुपये व्यवहार में लाता है), सहस्रस्य दीव्यति ॥

यहाँ से 'दिवस्तदर्थस्य' की अनुवृत्ति २।३।६० तक जायेगी ॥

विभाषोपसर्ग ॥२।३।५६॥

षष्ठी, द्वितीया

विभाषा १।१॥ उपसर्ग ७।१॥ अनु०—दिवस्तदर्थस्य, कर्मणि षष्ठी ॥ अर्थः—तदर्थस्य दिव्धातोः सोपसर्गस्य कर्मणि कारके विभाषा षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ पूर्वोक्तं नित्यं प्राप्ता षष्ठी विकल्प्यते ॥ उदा०—शतस्य प्रतिदीव्यति, शतं प्रतिदीव्यति । सहस्रस्य प्रतिदीव्यति, सहस्रं प्रतिदीव्यति ॥

भाषार्थः—व्यवहारार्थक दिव् धातु [उपसर्ग] सोपसर्ग हो, तो कर्म कारक में [विभाषा] विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है, पक्ष में यथाप्राप्त द्वितीया होती है ॥

द्वितीया ब्राह्मणे ॥२।३।६०॥

द्वितीया

द्वितीया १।१॥ ब्राह्मणे ७।१॥ अनु०—दिवस्तदर्थस्य, कर्मणि षष्ठी ॥ अर्थः—ब्राह्मणविषयके प्रयोगे तदर्थस्य दिव्धातोः कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः ॥

भाषार्थः—[ब्राह्मणे] ब्राह्मणविषयक प्रयोग में व्यवहारार्थक दिव् धातु के कर्म में [द्वितीया] द्वितीया विभक्ति होती है ॥ कर्म में द्वितीया तो होती ही है, पुनर्वचन पूर्व सूत्रों से जो षष्ठी प्राप्त थी, उसके हटाने के लिए है । अतः 'गाम्' में यहाँ षष्ठी न होकर द्वितीया हो गई ॥

षष्ठी

प्रेष्यब्रूवोहविषो देवतासम्प्रदाने ॥२।३।६१॥

प्रेष्यब्रूवोः ६।२॥ हविषः ६।१॥ देवतासम्प्रदाने ७।१॥ स०—प्रेष्यश्च ब्रूश्च प्रेष्यब्रूवौ, तयोः इतरेतरयोगद्वन्द्वः । देवता सम्प्रदानं यस्य (अर्थस्य) स देवता-सम्प्रदानः, तस्मिन्, बहुव्रीहि ॥ अनु०—कर्मणि षष्ठी ॥ अर्थः—देवतासम्प्रदानेऽर्थवर्त्तमानयोः प्रेष्यब्रूवोः कर्मणो हविषो वाचकात् शब्दात् षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेक्ष्य । अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रू ३हि ॥

भाषार्थः—[देवतासम्प्रदाने] देवता सम्प्रदान है जिसका, उस क्रिया के वाचक [प्रेष्यब्रुवः] प्र पूर्वक इष धातु (दिवादि गणवाली) तथा ब्रू धातु के कर्म [हविषः] हवि के वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है ॥

षष्ठी

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥२।३।६२॥

चतुर्थ्यर्थे ७।१॥ बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—चतुर्थ्यर्थे इत्यत्र षष्ठी-तत्पुरुषः ॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थः—छन्दसि विषये चतुर्थ्यर्थे बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—दावाघाटस्ते वनस्पतीनाम् (यजु० २४।३५॥ तै० ५।५।१५।१। मै० ३।१४।१६) । ते 'वनस्पतिभ्यः' एवं प्राप्ते । कृष्णो रात्र्यै ॥

भाषार्थः—[चतुर्थ्यर्थे] चतुर्थी के अर्थ में [छन्दसि] वेदविषय में [बहुलम्] बहुल करके षष्ठी विभक्ति होती है ॥ बहुल कहने से 'रात्र्यै' यहाँ षष्ठी नहीं होती है ॥

यहाँ से 'बहुलम् छन्दसि' की अनुवृत्ति २।३।६३ तक जायेगी ॥

षष्ठी

यजेदच करणे ॥२।३।६३॥

यजेः ६।१॥ च अ० ॥ करणे ७।१॥ अनु०—बहुलं छन्दसि, षष्ठी ॥ अर्थः—यजघातोः करणे कारके वेदविषये बहुलं षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—घृतस्य यजते (कौषी० १६।५॥ श० ४।४।२।४), घृतेन यजते । सोमस्य यजते, सोमेन यजते ॥

भाषार्थः—[यजेः] यज धातु के [च] भी [करणे] करण कारण में वेदविषय में बहुल करके षष्ठी विभक्ति होती है ॥ करण में तृतीया प्राप्त थी, बहुल कहने से पक्ष में वह भी हो गई ॥

षष्ठी

कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ॥२।३।६४॥

कृत्वोऽर्थप्रयोगे ७।१॥ काले ७।१॥ अधिकरणे ७।१॥ स०—कृत्वोऽर्थः कृत्वोऽर्थः, षष्ठीतत्पुरुषः । कृत्वोऽर्थ एव अर्थो येषां ते (प्रत्ययाः) कृत्वोऽर्थाः, बहुव्रीहिः । कृत्वोऽर्थस्य प्रयोगः कृत्वोऽर्थप्रयोगः तस्मिन् ---, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—षष्ठी शेषे ॥ अर्थः—कृत्वोऽर्थानां प्रत्ययानां प्रयोगे काले अधिकरणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते । द्विरहोऽधीते । दिवसस्य पञ्च-कृत्वो भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[कृत्वोऽर्थप्रयोगे] कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थ में वत्तमान जो प्रत्यय हैं, तदन्त प्रातिपदिकों के प्रयोग में [काले] कालवाची [अधिकरणे] अधिकरण शेष की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥

उदा०—पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते (दिन में पांच बार खाता है) । द्विरहोऽधीते (दिन में दो बार पढ़ता है) । दिवसस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते ॥

अहन् तथा दिवस शब्द कालवाची अधिकरण हैं, उनमें षष्ठी हो गई है ॥ संख्यायाः क्रियाभ्यां (५।४।१७) से पञ्चकृत्वः में कृत्वसुच्, तथा द्विर् में द्वित्रिचतुर्थ्यः सुच् (५।४।१८) से कृत्वोऽर्थ में सुच् प्रत्यय हुआ है ॥

कर्तृकर्मणोः कृति ॥२।३।६५॥

षष्ठी

कर्तृकर्मणोः ७।२॥ कृति ७।१॥ स०—कर्त्ता च कर्म च कर्तृकर्मणी, तयोः , इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी, अनभिहिते ॥ अर्थः—कृतप्रयोगे अनभिहिते कर्त्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—कर्त्तरि—भवतः शायिका । भवत आसिका । कर्मणि—अपां स्रष्टा । पुरां भेत्ता । वज्रस्य भर्त्ता ॥

भाषार्थः—अनभिहित [कर्तृकर्मणोः] कर्त्ता और कर्म में [कृति] कृत् का प्रयोग होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ॥ कृदतिङ् (३।१।६३) से कृतसंज्ञक ष्वच् प्रत्यय पर्यायार्हणो (३।३।१११) से शायिका आदि में हुआ है । तथा तृच् प्रत्यय स्रष्टा आदि में हुआ है । सो इनके कर्त्ता और कर्म में षष्ठी हो गई है । पूरी सिद्धि परि० २।२।१६ में देखें ॥

यहाँ से 'कृति' की अनुवृत्ति २।३।६६ तक जायेगी ॥

उभयप्राप्तौ कर्मणि ॥२।३।६६॥

षष्ठी

उभयप्राप्तौ ७।१॥ कर्मणि ७।१॥ स०—उभयोः (कर्तृकर्मणोः) प्राप्त्यस्मिन् (कृति) सोऽयमुभयप्राप्तिः, तस्मिन् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कृति, षष्ठी, अनभिहिते ॥ अर्थः—उभयोः कर्तृकर्मणोः प्राप्त्यस्मिन् कृति तत्रानभिहिते कर्मण्येव षष्ठी विभक्तिर्भवति, न कर्त्तरीति नियम्यते ॥ उदा०—आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य पाको देवदत्तेन ॥

भाषार्थः—पूर्वसूत्र से कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त थी । सो यहाँ नियम कर दिया कि जिस कृदन्त के योग में [उभयप्राप्तौ] कर्त्ता और कर्म दोनों में एक साथ षष्ठी प्राप्त हो, वहाँ अनभिहित [कर्मणि] कर्म में षष्ठी हो, कर्त्ता में नहीं ॥ उदाहरण में दोहः पाकः घञ् प्रत्ययान्त कृदन्त हैं । अगोपालक तथा देवदत्त कर्त्ता हैं, और गौ तथा ओदन कर्म हैं । सो कृत् के योग में दोनों में (कर्त्ता और कर्म में) षष्ठी प्राप्त हुई, तब इस सूत्र से कर्म 'गौ' तथा 'ओदन' में ही षष्ठी हुई । कर्त्ता में कर्त्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया हो गई ॥

षष्ठी

क्तस्य च वर्त्तमाने ॥२।३।६७॥

क्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ वर्त्तमाने ७।१॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थः—वर्त्तमाने काले विहितस्य क्तप्रत्ययान्तस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ उदा०—राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां पूजितः ॥

भाषार्थः—[वर्त्तमाने] वर्त्तमान काल में विहित जो [क्तस्य] क्त प्रत्यय उसके प्रयोग में [च] भी षष्ठी विभक्ति होती है ॥ न लोकाव्ययनिष्ठा० (२।३।६६) से निष्ठासंज्ञक होने से क्तप्रत्ययान्त के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति प्राप्त नहीं थी । यहाँ वर्त्तमान काल में विहित क्त में प्राप्त करा दी । मतिबुद्धिपूजार्थे० (३।२।१८८) से वर्त्तमानकाल में क्त विहित है ॥

यहाँ से 'क्तस्य' की अनुवृत्ति २।३।६८ तक जायेगी॥

षष्ठी

अधिकरणवाचिनश्च ॥२।३।६८॥

अधिकरणवाचिनः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—क्तस्य, षष्ठी ॥ अर्थः—अधिकरणवाचिनः क्तप्रत्ययान्तस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति ॥ क्तोऽधिकरणे० (३।४।७६) इत्यनेनाधिकरणे क्तो विहितः ॥ उदा०—इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषां शयितम् । इदमेषां सृप्तम् ॥

भाषार्थः—[अधिकरणवाचिनः] अधिकरणवाची क्तप्रत्ययान्त के प्रयोग में [च] भी षष्ठी विभक्ति होती है ॥ २।३।६६ से षष्ठी का निषेध प्राप्त होने पर इस सूत्र का विधान है ॥ क्तोऽधिकरणे० (३।४।७६) से अधिकरण में क्त होता है ॥ उदा०—इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषां शयितम् (यह इनके सोने का स्थान) । इदमेषां सृप्तम् (यह इनके जाने का स्थान) ॥

षष्ठी निषेध

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम् ॥२।३।६९॥

न अ० ॥ लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम् ६।३॥ स०—खलोऽर्थः खलर्थः, खलर्थ एव अर्थो येषां ते खलर्थाः, बहुव्रीहिः । लश्च उश्च उकश्च अव्ययञ्च निष्ठा च खलर्थश्च तृन् चेति लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणः, तेषां....., इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थः—ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन् इत्येतेषां योगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति ॥ 'ल' ग्रहणेन ये लकारस्य स्थान आदेशाः शतृशानचौ, कानच्क्वसू किकिनौ च ते गृह्यन्ते ॥ उदा०—ओदनं पचन्, ओदनं पचमानः । कानच्—ओदनं पेचानः । क्वसु—ओदनं पेचिवान् । किकिनौ—पपिः सोमं, ददिर्गाः । उ—कटं चिकीर्षुः, ओदनं बुभुक्षुः । उक—आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः । अव्यय—कटं कृत्वा, ओदनं भुक्त्वा । निष्ठा—कटं कृतवान्, देवदत्तेन कृतम् । खलर्थ—ईषत्करः

कटो भवता, ईषत्पानः सोमो भवता । तृन्—सोमं पवमानः । नटमाघ्नानः । अधीयन् पारायणम् । कर्त्ता कटान् । वदिता जनापवादान् ॥ तृन् इत्यनेन प्रत्याहारग्रहणम्, लटः शतृ० (३।२।१२४) इत्यारभ्य आ तृनो (३।२।१३५) नकारात् ॥

भाषार्थः—[लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्] ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ, तृन् इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति [न] नहीं होती ॥ ल से लादेश शतृ शानच् कानच् ववसु कि किन् इनका ग्रहण है ॥ कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्त्ता कर्म में षष्ठी प्राप्त होने पर इस सूत्र ने निषेध कर दिया है ॥

उदा०—ओदनं पचन्, ओदनं पचमानः । कानच्—ओदनं पेचान् (उसने भात पकाया) । ववसु—ओदनं पेचिवान् । किकिन्—पपिः सोमम्, ददिर्गाः । उ—कटं चिकीर्षुः (चटाई बनाने की इच्छावाला), ओदनं बुभुक्षुः (चावल खाने की इच्छावाला) । उक—आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः (राक्षस लोग भी मुक्ति की इच्छा से वाराणसी की ओर आने की इच्छा रखते हैं, ऐसा लोग कहते हैं) । अव्यय—कटं कृत्वा (चटाई बनाकर), ओदनं भुक्त्वा । निष्ठा—कटं कृतवान् (चटाई बनाई), देवदत्तेन कृतम् (देवदत्त के द्वारा किया गया) । खलर्थ—ईषत्करः कटो भवता (आपको चटाई बनाना आसान है), ईषत्पानः सोमो भवता (आपके द्वारा सोम पीना आसान है) । तृन्—सोमं पवमानः (सोम को पवित्र करते हुए) । नट-माघ्नानः (नट को मारता हुआ) । अधीयन् पारायणम् (पारायण को पढ़ता हुआ) । कर्त्ता कटान् (चटाई को बनानेवाला) । वदिता जनापवादान् (लोगों की बुराई को कहनेवाला) ॥

लटः शतृशान० (३।२।१२४) से लट् के स्थान शतृ शानच्, लिटः कानज् वा (३।२।१०६) से लिट् के स्थान में कानच्, ववसुश्च (३।२।१०७) से ववसु आदृ-गमहन० (३।२।१७१) से कि तथा किन् प्रत्यय लिट्स्थानी हैं । अतः ये सब लादेश होने से “ल” कहने से लिए गये हैं ॥ पेचिवान् आदि की पूरी सिद्धियाँ तत्-तत् सूत्रों में ही देखें । यहाँ तो यही दिखाना है कि कर्म में (ओदनम् आदि में) जो षष्ठी प्राप्त थी, वह नहीं हुई ॥ सनाशंसभिक्ष उः (३।२।१६८) से उ प्रत्यय चिकीर्षुः आदि में हुआ है ॥ लषपतपद० (३।२।१५४) से उकज्, जिसको सूत्र में ‘उक’ कहा है, ‘आगामुक’ में हुआ है ॥ कृत्वा की अव्ययसंज्ञा क्त्वातोमुक्तमुनः (१।१।३६) से हुई है ॥ खल् के अर्थ में जो विहित प्रत्यय वह खलर्थ कहाये । ईषत्करः में ईषद्दुःसुषु० (३।३।१२६) से खल्, तथा ईषत्पानः में खलर्थ में युच् प्रत्यय हुआ है ॥ तृन् से प्रत्याहार का ग्रहण है—लटः शतृशानचाव० (३।२।१२४) के तृ से लेकर तृन् के नकारपर्यन्त । अतः ‘तृन्’ कहने से उसके अन्तर्गत जो शानन्, चानश्,